श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

९, १० भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:-

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७४

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान्	सेठ भंवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,,	वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती	धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मंत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसंघी,	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन,	,,
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	

२६ श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
२७ ,, सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
२८ ,, गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
२९ ,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर, कानपुर
३० ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडा, आगरा
३१ ,, संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, आगरा
३२ ,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
३३ ,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चलकाना वाले, सहारनपुर
३४ ,, रोशनलाल के० सी० जैन, सहारनपुर
३५ ,, मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट सहारनपुर
३६ ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला
३७ ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
३८ ,, दिगम्बर जैनसमाज गोटे गाँव
३९ ,, माता जी धनवंती देवी जैन, राजागंज, इटावा
४० ,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द" रुड़की
४१ ,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन, चिलकाना
४२ ,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन, चिलकाना
४३ ,, हुकमचंद मोतीचंद जैन, सुलतानपुर
४४ ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
४५ ,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, कानपुर
४६ श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी सुलतानपुर
४७ श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज गया
४८ ,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावड़ा, झूमरीतिलैया
४९ ,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या, जयपुर
५० ,, * बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
५१ ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
५२ ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है ।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

•∘∘○○∘∘•

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

पञ्चाध्यायी प्रवचन नवम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः ॥१॥

वस्तुकी सामान्यात्मकताकी तरह विशेषात्मकताकी भी सिद्धता—पूर्व अध्यायमें वस्तु सामान्यकी व्यवस्था बतायी गई थी। वस्तुमात्र, सत्मात्र। किस प्रकारके लक्षणसे है और उसका किस तरहसे विवेचन होता है ? यह सब वर्णन किया गया था। तो मूलमें यह ही सिद्ध किया गया था कि वस्तुका सामान्य धर्म स्वतः सिद्ध है, जिसको ८वीं गाथामें तत्त्वका स्वरूप कहा गया था कि तत्त्व तो सत् अथवा वस्तु सत्ता लक्षण वाला है अथवा सन्मात्र है क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, इसी कारण वह अनादि निधन है, अपनी सदृशतासे ही बनता है और अपनी सहायतासे ही उसका अस्तित्व है तथा वह निर्विकल्प है। इन सब विशेषणों से यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि सन्मात्र स्वतःसिद्ध है। तो जैसे वस्तुका सामान्य धर्म स्वयंसिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका विशेषधर्म भी स्वतः सिद्ध है अथवा वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक है। जिसमें ही सामान्य धर्म पाया जाता है उसमें ही विशेष धर्म पाया जाता है। जैसे कि धातु सब धातुवें कहलाती है। सामान्य तौरसे जब पीतल, चाँदी, सोना आदिकको देखो तो वे सब धातु हैं परन्तु धातु तो सामान्य बात हुई, विशेषमें देखो तो कोई धातु पीली है, कोई सफेद है, किसीका सोना नाम है, किसीका चाँदी नाम है तो यह विशेषकी अपेक्षा कथन है। सामान्य तो सब एक है, चाँदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाती है, यावन्मात्र पदार्थ उन सब पदार्थोमें सामान्य धर्म पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है। वस्तुको केवल सामान्यधर्म वाला मानना अथवा केवल विशेष धर्म वाला मानना

यह मिथ्यादर्शन है और कोई पुरुष सामान्यको भी वस्तुधर्म मानते और विशेषको भी वस्तु-
धर्म मानते, परंतु मानते निरपेक्षरूपसे तो वह भी मिथ्या है । केवल सामान्य धर्म मानने
वाले नित्यवादी लोग हैं, केवल विशेष धर्म मानने वाले क्षणिकवादी लोग हैं और कोई वस्तु
सामान्यरूप कोई वस्तु विशेषरूप, यों निरपेक्षरूप मानने वाले भी कुछ दर्शन हैं, लेकिन
विचार करनेपर वे सभी मिथ्या प्रतिभात होते हैं, इस कारणसे परस्पर अपेक्षा लिए हुए
सामान्यविशेषात्मक उभयस्वरूप ही वस्तु है यह मान लेना चाहिए। इस बातको प्रमाणका
विषय बतलाते हुए न्यायशास्त्रमें भी बताया गया है कि प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक
पदार्थ है । नयविशेषात्मक कहो अथवा द्रव्य पर्यायात्मक कहो, दोनों ही एक बात है । द्रव्य
को ग्रहण करने वाला निश्चयनय है, पर्यायको ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है और प्रमाण
द्रव्यात्मक समस्त वस्तुको ग्रहण करने वाला है । तो वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्य
पर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है, ये सब बातें इसी आधारपर सिद्ध होती हैं कि जैसे वस्तु
में सामान्य धर्म स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार विशेषधर्म भी स्वतःसिद्ध है ।

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः ।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥२॥

सामान्य और विशेषमें अन्तरप्रदर्शन—इस गाथामें सामान्य और विशेषका स्वरूप
और उनके अन्दर बताया गया है सामान्य बहुव्यापक है तो अनेक वस्तुओंमें रहने वाला है ।
सामान्य शब्द ही व्युत्पत्तिका यह अर्थ बतला देता है । अनेक वस्तुओंमें जो समान रूपसे रहे
उस धर्मको सामान्य धर्म कहते हैं । तो सामान्य बहुव्यापक होता है, किन्तु विशेष अल्प व्या-
पक होता है । विशेष बहुत वस्तुओंमें नहीं रहता किन्तु खास-खास वस्तुओंमें रहता है, रहता
सब वस्तुओंमें, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि विशेष न पाया जाय, मगर जिन वस्तुओंमें
जो विशेष पाया जाता है वह उनमें ही है अन्य वस्तुओंमें नहीं है । इस तरह विशेष अल्प-
व्यापक होता है । व्यापकका अर्थ है जो बहुत जगह रहे, जो कम जगह रहे सो व्याप्य । तो
यहाँ सामान्य व्यापक हुआ और विशेष व्याप्य । जैसे एक सत्त्वको लिया तो सत्त्व तो व्यापक
है याने जीव पुद्गल, धर्म अधर्म सबमें रहता है, पर चैतन्य व्याप्य है अर्थात् वह जीव द्रव्यमें
ही रहेगा अन्य द्रव्यमें नहीं । इस तरह व्यापक सामान्य भी वस्तुका स्वतःसिद्ध धर्म है और
व्याप्य विशेष भी वस्तुका स्वतःधर्म है । सामान्यके भी प्रकार दो हैं और विशेषके भी प्रकार
दो हैं—एक तिर्यक, दूसरी ऊर्द्धता, तिर्यक सामान्यमें वस्तुओंको समान परिणामसे बताया
जाता है । जैसे सभी धातुवें रखी हैं चाँदी, सोना, ताँबा, पीतल आदिक, तो उन सब वस्तुओं
में धातुपना सबमें समानरूपसे रह रहा है । जैसे अनेक गौवें खड़ी हैं—जिनके रंग भी नाना
प्रकारके हैं, अब उन सबमें गौरूपी परिणमन एक समान है, इसी कारण तो सभीको गौ कहते

हैं। अब विशेषरूपसे देखा जाय तो जो काली गौ है उसका परिणमन उसमें है, जो पीली गाय है उसका परिणमन उसमें है, यों सभी गायोंका परिणमन जुदा-जुदा है। तो यों जुदा-जुदा है परिणमन, अस्तित्व भी जुदा-जुदा है, फिर भी उन सबमें जो गोत्व सामान्य पाया जाता है वह सामान्य धर्म है। अथवा एक ही वस्तुमें जब अनेक वस्तुओंका उपचार किया जाता है—जैसे जीवमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनंद आदिक अनेक गुण हैं तो उन गुणोंका रहना एक सामान्यस्वरूप है अर्थात् एक ही साथ वे सब गुण रह रहे हैं, तो तिर्यक्रूपसे सामान्य धर्म पाया जाय, एक ही कालमें जो सामान्य धर्म पाया जाय अनेकमें वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है। ऊर्द्धता सामान्य होता है कालकी अपेक्षासे। पूर्व कालमें जो परिणमन था वह अगले क्षण मिट गया। अगले-अगले क्षणोंमें नवीन-नवीन परिणमन होता रहता है। उन सब परिणमनोंमें जो एक सामान्य धर्म रहता है वह ऊर्द्धता सामान्य कहलाता है। जैसे एक जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक सब पर्यायोंमें उत्पन्न हुआ तो सभी पर्यायोंमें जो एक जीव है वह ऊर्द्धता सामान्य हुआ। तो यों सामान्य दो प्रकारका हुआ, इसी तरह विशेष भी दो प्रकारका है—एक तिर्यक् विशेष, दूसरा ऊर्द्धता विशेष। तिर्यक् विशेष नाम है एक ही समयमें जो नाना परिणाम होते हैं वे तिर्यक् विशेष हैं। जैसे—आत्मामें ज्ञानका परिणमन, दर्शनका परिणमन, आनंदका परिणमन, अनंत गुणोंका परिणमन एक साथ हो रहा है तो वह सब तिर्यक् विशेष कहलाया। और ऊर्द्धताकी दृष्टिसे देखनेपर कि जीवकी नारक तिर्यञ्च मनुष्य देव आदिक अनेक पर्यायें हुई हैं, उन सब पर्यायोंमें एक जीव है तो वे पर्यायें जैसे एक समयमें तो नहीं हैं, भिन्न-भिन्न समयोंमें हुए तो भिन्न-भिन्न समयोंमें होने वाली पर्यायोंको ऊर्द्धता विशेष कहते हैं।

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोप्यचेतनः ॥३॥

द्रव्योंके मूल भेद और उनका लक्षण—द्रव्य सामान्य कहनेसे जितने भी सत् हैं सबका ग्रहण हो जाता है। अब उन समस्त सत् पदार्थोंमें असाधारण धर्म पाया ही जाता है। असाधारण धर्म हुए बिना सत्त्व नहीं रह सकता। जैसे कि साधारण धर्म रहे बिना सत्त्व नहीं रहता, तो पदार्थमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके धर्म पाये जाते हैं। तो अब सर्वप्रथम असाधारण धर्म बताकर द्रव्योंमें दो विभाग कर रहे हैं। द्रव्य मूलमें दो प्रकार का है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। शब्द भी दो हैं और अर्थ भी दो हैं। जिसमें चैतन्य पाया जाय उसे जीव कहते हैं, जिसमें चैतन्य न पाया जाय उसे अजीव कहते हैं। तो चैतन्य असाधारण धर्म हुआ और इस असाधारण धर्मसे एक ऐसी विशेषता समझमें आयी जो अन्य द्रव्योंसे पृथक् कर देती है। और केवल एक चैतन्य लक्षण वाले जीवको प्रसिद्ध कर देती है।

जितने भी शब्द होते हैं उनका वाच्य अवश्य होता है। ऐसे जितने शब्द हों उतनी ही तरह से परखा जाते हैं, याने पदार्थ भी होते हैं। जब जीव और अजीव ये दो शब्द हैं तो जीवद्रव्य अजीवद्रव्य समझा जाय ऐसा उनका वाच्यरूप अर्थ भी है। तो असाधारण धर्म चेतन है, यह बताकर यहाँ द्रव्यके दो विभाग कर दिये। कुछ द्रव्य जीव हैं, कुछ द्रव्य अजीव हैं।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥४॥

चेतन और अचेतन दो द्रव्यविशेषोंकी सिद्धि—जीव और अजीव हैं इस बातकी सिद्धि दृष्टान्तसे भी हो जाती है, अनुभवसे भी हो जाती है। ये जीव अजीव दो पदार्थ नहीं होते, उनको एक ही मान लिया जाता होता तो जीवित शरीरमें, घट, पट आदिक जड़ पदार्थोंमें जो प्रत्यक्ष अन्तर दिखता है वह न दिखना चाहिए। सब जान रहे हैं कि जीवित शरीर जीव विशिष्ट है और मृतक शरीर जीवरहित है। आत्मा अनंत शक्त्यात्मक अमूर्त वस्तु है, उसका कोई प्रत्यक्ष तो कर नहीं सकता, परन्तु अनादिकालसे कर्मोंका सम्बंध होनेसे यह संसारी बना है, तो इस स्थितिमें आत्मा और शरीरमें भेद अनुमान प्रमाणसे अथवा स्वानुभवसे जान लिया जाता है। संसारी आत्मा जिस शरीरको ग्रहण करता है उँसी प्रमाणमें फैला रहता है। तो जिस शरीरमें आत्मा है वही जीवित शरीर कहलाता है। तो जो जीवित शरीरकी क्रिया है वह ही आत्माकी सिद्धि करा देता है, और यहाँ भी यह देखा जा रहा है कि घट पट आदिक जड़ पदार्थ जुदे हैं और यह शरीर विशिष्ट जुदा पदार्थ है।

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥५॥

सुखादिसंवेदनप्रत्यक्ष हेतुसे जीवद्रव्यकी सिद्धि—जीव नामक स्वतंत्र पदार्थ है, इसकी सिद्धिके लिए इस श्लोकमें अनुमान प्रमाण दिया गया है। इस अनुमान प्रमाणमें बताया है कि जीव है क्योंकि सुख आदिकका सुसम्वेदन ज्ञान होता है। जो सुख आदिकका अनुभव नहीं करता वह जीव भी नहीं है। यहाँ इस अनुमानको व्यतिरेक व्याप्तिसे घटाया गया है। जीव है, क्योंकि सुख आदिका सम्वेदन होता है। अब जिसमें सुख आदिकका सम्वेदन होता है वे सब जीव है ऐसी व्याप्ति किसी विरोधीको बतानेसे काम सिद्ध न होगा, क्योंकि विवादापन्न तो यह है कि जीव है, तब व्यतिरेक व्याप्तिसे बता रहे हैं कि जहाँ सुखादिकका सम्वेदन नहीं होता वह जीव नहीं है। जैसे घड़ा चौकी आदिक पदार्थ पदार्थ यहाँ सुखादिकका अनुभव नहीं हैं तो वह जीव भी नहीं है। जैसे कि मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, इस तरह आत्मोमें जो मानसिक सुसम्वेदन ज्ञान होता है वह अनुभव ही यह सिद्ध करता है कि जहाँ यह अनुभव

हो रहा है वह जड़ पदार्थसे विलक्षण पदार्थ है। घड़ा, चौकी आदिक जड़ पदार्थोंमें सुख दुःखका अनुभव नहीं है, इस कारण वे जीव नहीं हैं। तो इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध किया गया कि जो सुखादिकका अनुभव करता है वह जीव है, यों जीवादिक पदार्थोंकी सिद्धि इस श्लोकमें की गई है।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः।
साध्यो जीवस्स्वसिद्धर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥६॥

जीवसिद्धिमें समर्थ साधनकी अन्यथानुपपत्तिसे निर्दोषताकी प्रसिद्धि—"जीव है स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष होनेसे" यह अनुमान प्रयोग उक्त श्लोकमें बताया गया है, उसके अनुसार इस अनुमानसे जीव तत्त्वकी सिद्धि होती है। इस अनुमानमें हेतु तो बताया गया है स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष और साध्य यह बताया गया है कि जीव है। तो जहाँ हेतु पाया जाय और साध्य पाया जाय वह तो है अन्वयव्याप्ति, जहाँ साध्य न पाया जाय तो साधन भी न पाया जाय यह है व्यतिरेकव्याप्ति। व्यतिरेकव्याप्ति अन्वयव्याप्तिसे भी पुष्ट है। यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा जीवके अस्तित्त्वकी सिद्धि की गई है।

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यमूर्तिमत् ॥७॥

द्वितीय पद्धतिसे द्रव्यके मूल विशेषोंका कथन और स्वरूप—छहों द्रव्योंका पहिले सामान्य रूपसे विशेष विवरण किया गया था। अब उन छहों द्रव्योंमें पहिले दो विभाग किए गए थे—एक जीव, दूसरा अजीव। वह तो असाधारण चैतन्य लक्षणके माध्यमसे किया गया था। अब यहाँ दो भेद बताये जा रहे हैं मूर्त और अमूर्तकी दृष्टिसे। छहों द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त होते हैं और कुछ अमूर्त होते हैं। तो पदार्थोंमें जो यह स्वभाव या मूर्त अमूर्तपनेका भेद है वह स्वतः ही है। किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है। मूर्त किसे कहते हैं—जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो, मूर्त पदार्थ इन्द्रियसे जाना जाता है। जो इन्द्रियग्राह्य हो वह मूर्त है। कितने ही मूर्त पदार्थ ऐसे सूक्ष्म हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है लेकिन वे कभी स्कंध अवस्थामें इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं। बड़ा स्कंध होनेपर इन्द्रियसे भी जाना जा सकता है। तो इन्द्रियग्राह्य होना और रूप, रस, गंध, स्पर्शवान होना इन दोनोंका अविनाभाव है। जो पदार्थ इन्द्रियद्वारा ग्राह्य हो सकता है वही पदार्थ मूर्त होता है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला होता है, क्योंकि इन्द्रियके विषय ही ये हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श। जैसे चक्षुका विषय रूप है, रसनाका विषय रस है, घ्राणका विषय गंध है, स्पर्शनका विषय स्पर्श है, कर्णेन्द्रियका विषय शब्द होता है, तो वह शब्द भी रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक है। तब विषय विषीयके नातेसे अर्थात् इन्द्रिय है विषीय और रूपादिक हैं विषय। यों विषय विषीयकी अपेक्षासे मूर्त पदार्थ

का लक्षण यह भी ठीक हो जाता है कि जो मूर्तग्राह्य हो सो मूर्त पदार्थ है। यद्यपि कई मूर्त पदार्थ इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें नहीं आते। जैसे एक परमाणु, लेकिन वह परमाणु कभी मिलकर ऐसा स्कंध बन जाता है कि वह इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने लगता है, इस कारण मूर्तका लक्षण इन्द्रियग्राह्य होना युक्तिसंगत ही कहा गया है। और मूर्तका लक्षण रूप, रस, गंध, स्पर्शमय होता यह तो स्पष्ट ही है। तो सर्व द्रव्योंमें इस दृष्टिसे दो विभाग हो जाते हैं—मूर्त और अमूर्त। तो पदार्थोंके दो तरह के विभाग किए गए, पहिले तो जीव और अजीव, अब किए गए हैं मूर्त और अमूर्त। जानना तो हर एक ढंगसे चाहिए। मूर्त अमूर्तसे भी जानें, जीव अजीवसे भी जाने, पर इन दो विभागोंमें भेदविज्ञानके लिए प्रमुखता प्रथम विभागकी है। जीव और अजीव मुझ जीवको ज्ञानमें लेना है और अजीवसे हटना है, यह प्रयोजन जीव अजीव विभागके परिचयसे सिद्ध होता है। मूर्त अमूर्तमें यदि यह कहा गया कि मुझे अमूर्त ग्रहण करना है, मूर्तको छोड़ना है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमूर्त तो ५ प्रकारके पदार्थ हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तो क्या इस अमूर्तको ग्रहण करना है? भेदविज्ञानके उपायकी दृष्टिसे जीव अजीवका विभाग बहुत संगत हो जाता है तभी द्रव्यसंग्रहकी प्रथम गाथामें जब प्रभुको नमस्कार करनेका प्रयास किया तो यही कहा कि जीव अजीवं दव्वं। जिसने जीव और अजीव द्रव्यको साक्षात् देखा है उस भगवानको मैं नमस्कार करता हूं। तो जीवमजीवंकी तरह मुत्तममुत्तं भी कह सकते थे, छंद भी नहीं बिगड़ता था लेकिन मुत्तममुत्तं न कहकर जीवमजीवं दव्वं कहा गया, तो इससे यह भी ध्वनित होता कि मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत द्रव्योंका विभाग यही उत्तम है। यहाँ मूर्त अमूर्तकी बात चल रही है। जो इन्द्रियग्राह्य हो उसे मूर्त कहते हैं। और जो रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक हो वह मूर्तिक है।

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम्।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥८॥

मूर्तद्रव्यकी तरह अमूर्तद्रव्यकी भी वास्तविकता—यहाँ किसीको यह आशंका न रखनी चाहिए कि मूर्त पदार्थ तो हैं और अमूर्त पदार्थ कुछ नहीं है, क्योंकि अमूर्त दिखनेका नहीं, इन्द्रियके गोचर नहीं, तो उसको कैसे मान लिया जाय कि कोई अमूर्त पदार्थ है? ऐसी आशंका यों न करनी चाहिए कि ऐसा माननेपर कि मूर्त पदार्थ ही तो वास्तविक है और अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है, इस मान्यतामें सर्व शून्यताका दोष आ जायगा। जो लोग इन्द्रियद्वारा ग्रहीत पदार्थको ही तो सत् मानते हैं कि इसका अस्तित्व है और जो इन्द्रियग्रहीत नहीं हो पाते, ऐसे पदार्थोंका अस्तित्व नही मानते उनका ऐसा पक्ष सही नहीं है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष हैं उन पदार्थोंको भी माने बिना पदार्थोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

प्रथम तो यह ही देखिये कि जो ज्ञान अथवा कल्पनासे व्यवस्था बनाते हैं वह द्रव्य परोक्ष है या प्रत्यक्ष, अमूर्त है या मूर्त ? शंकाकार तो यह कहता कि जो परोक्ष हो, जो अमूर्त हो वह कुछ पदार्थ नहीं, और आत्मा इस समय प्रत्यक्ष नहीं और मूर्त भी नहीं है। तो इस ही आत्माको कोई न माने तो फिर अन्य पदार्थोंकी व्यवस्था करे ही कौन ? तो परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किए बिना पदार्थव्यवस्था हो ही नहीं सकती। और भी देखिये—मोक्ष पदार्थ है यह बात, अनुमानसे भी सिद्ध होती है, और आगम प्रमाणसे भी सिद्ध होती है। अनुमान प्रमाण वहीं युक्त माना जाता है जहाँ अविनाभाव हेतु पाया जाय। सो जीवकी सिद्धिमें पहिला हेतु दिया ही गया है वहाँ जीवकी सिद्धि होती है और स्वानुभवसे अखण्डकी दृष्टिसे बिना बाधाके जीवतत्त्वकी सिद्धि होती है तथा शास्त्रोंमें अमूर्त तत्त्वकी सिद्धि की गई है। इस कारण यह शंका न रखनी चाहिए कि वास्तविक तो मूर्त ही है, अमूर्त तो अवास्तविक है। अमूर्त भी पदार्थ है और मूर्त भी पदार्थ है।

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥९॥

मूर्तिमान द्रव्यका स्वरूप—रूप, रस, गंध, वर्णका नाम मूर्ति और जहाँ मूर्ति पायी जाय उसको मूर्तद्रव्य कहते हैं। और जहाँ मूर्ति न पायी जाय, रूप, रस, गंधमयी मूर्ति न पायी जाय तो वह अमूर्तद्रव्य कहलाता है। पुद्गलमें रूप, रस, गंध, वर्णरूप मूर्ति पायी जाती है इसलिए वे मूर्त कहलाते हैं। बाकी द्रव्योंमें यह मूर्ति नहीं है, रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है इस कारण वे सब अमूर्त हैं। अमूर्त पदार्थ भी वास्तवमें हैं और मूर्त पदार्थ भी वास्तवमें हैं।

नासंभवं भवदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा।
सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ॥१०॥

मूर्त पदार्थकी ही इन्द्रियप्रत्यक्षगोचरत्वकी संभवता—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि प्रत्यक्ष अनुभवसे जैसे यह जाना जाता है कि मूर्त पदार्थोंमें ही इन्द्रियका सन्निकर्ष है, सो उससे यह बात प्रमाणित है कि रूप, रस, गंध, वर्णमयी मूर्तिके साथ इन्द्रियमें सन्निकर्ष होता है। दूसरे पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष नहीं होता। अन्य-अन्य पदार्थ तो प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं और अनुभवसे सिद्ध हैं। यों मूर्त पदार्थ अमूर्तग्राह्य होता है, यह बताया गया, पर इन्द्रियग्राह्य हो गए इस कारण मूर्त पदार्थ ही वास्तविक सत् है यह पक्ष नहीं लिया जा सकता। अमूर्त पदार्थ भी स्वानुभवसे, युक्तिके सिद्ध होता है, जैसे आकाशके सम्बंधमें लोगों की धारणा स्पष्ट है कि यह है आकाश। और आत्माके विषयमें अपने ही अनुभवसे यह बात स्पष्ट होती है कि यह है आत्मा। तो अमूर्त पदार्थ भी अनुभवसे और युक्तिसे सिद्ध हो ही

जाता है।

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः।
यद्विनापीन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥११॥

अमूर्त पदार्थके सत्त्वमें प्रमाणकी जिज्ञासा—यहाँ शंकाकार रहता है कि अमूर्त भी कोई पदार्थ हुआ करता है। प्रमाण क्या है? कारण यह है कि अब तक जितने पदार्थ समझे गए हैं वे सब ये सामने हैं और जिनका इन्द्रियके साथ सम्बंध होता है वे ही पदार्थ हैं ऐसी इच्छा होती है। अमूर्त पदार्थका इन्द्रियके साथ सम्बंध ही नहीं हो सकता। तब आत्मा का होना तो ऐसा है कि जैसे कोई कल्पना करे कि आकाशका फूल होता है। है नहीं कुछ आकाशका फूल, मगर मान लिया, इसी तरह है कुछ नहीं आत्मा मगर मान लिया। तो जब इन्द्रियके साथ आत्माका सम्बंध नहीं होता तो आत्मा कोई चीज नहीं है। जिन पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सम्बंध हो सकता है और इसी कारण वह ज्ञात होता है बस पदार्थ तो वह ही है, उतना ही है। अब इस शंकाका समाधान देते हैं।

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥१२॥

अमूर्त आत्मपदार्थकी प्रसिद्धि द्वारा अमूर्त पदार्थोंकी सत्ताकी सिद्धि—शंकाकारका यह कहना कि अमूर्त पदार्थका सद्भाव माननेमें कोई प्रमाण ही नहीं है, यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि अमूर्त आत्मा स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा भली प्रकार सिद्ध है। आत्मामें सुख दुःख आदिकका सम्वेदन होता है। उस सम्वेदन होनेके कारण आत्माकी स्पष्ट सिद्धि सुख दुःख आदिकका प्रत्यक्ष करने वाला आत्मा असिद्ध नहीं है। दुःखका अनुभव होता, सुखका अनुभव होता, जानकारी होती, ये सब बातें जहाँ हो रही हैं वहीं तो आत्मा है। तो आत्मा असिद्ध नहीं है, किन्तु वास्तविक है। हां आत्मा रसादिमान माना जाय तो यह असिद्ध है। आत्मा में रूप, रस, गंध, स्पर्शका होना असिद्ध है, पर आत्मा असिद्ध नहीं है। अमूर्त ज्ञान तो मलिन ज्ञान है अतएव वह तो परोक्षज्ञान है। और इन्द्रियज्ञानका विषय भी बहुत अल्प है और स्थूल है, केवल इन मोटे स्कंधोंको ही इन्द्रियज्ञान जान सकता है। सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध यहीं इन्द्रियप्रत्यक्षसे ही होता है इसलिए जिसका इन्द्रियज्ञान होता है वह ही पदार्थ ठीक है, बाकी कोई पदार्थ ऐसा मानना संगत नहीं है, आत्मा है और बिना इन मूर्त पदार्थों के ज्ञानकी अपेक्षा निज आत्माका ज्ञान और भी स्पष्ट हो रहा है। क्योंकि सुख दुःख आदिक यहाँ सम्वेदन होता है उससे यह भली प्रकार ठीक समझा जा रहा है। अतएव आत्मा वास्तविक है, आकाश पुष्पवत् असत् नहीं है और आत्माके बारेमें परलोककी बात भी जो यह प्रसिद्ध है अथवा जातिस्मरण और भूतादिक योनियोंका होना अथवा कोई विडम्बना

बनना इन बातोंसे यह भी सिद्ध है कि परलोक है तो आत्मा है, यही तो अन्य लोकमें गया। तभी परलोक बना तो वर्तमानके सुख दुःख आदिकमें प्रत्यक्षसे भी आत्माकी सिद्धि है और इसका परलोक होता है उससे भी आत्माकी सिद्धि है।

। तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥१३॥

आत्माकी रसादिमत्त्वलक्षणमूर्तिसे भिन्नताकी सिद्धि—रूप, रस, गंध, स्पर्श आत्मा में नहीं हैं, इससे आत्मा जुदा है ऐसा उक्त गाथामें बताया है, उसीका ही स्पष्टीकरण यहाँ कर रहे हैं कि आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह तो ज्ञान है, रस नहीं है। रसका ज्ञान हो जानेसे कहीं ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता, क्योंकि रस तो पुद्गलका गुण है। वह जीवमें कैसे आ सकता है? जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, इसके विरुद्ध कोई इस तरहकी जिज्ञासा कर सकता है कि फिर रूपका ज्ञान होना, रसका ज्ञान होना यह कैसे बन जायगा? अथवा रूप, रस आदिकका जो ज्ञान हो रहा है उससे मालूम होता है कि आत्मामें रूप, रस आदिक हैं अथवा आते हैं सो ये सब कल्पनायें करना मिथ्या है। आत्मा तो स्व और पर-पदार्थका जाननहार है और केवल जाननहार स्वरूपसे कोई भी बाह्य पदार्थ आत्मामें आ नहीं जाता है। तो पुद्गलके रूप, रस आदिका जो ज्ञान हो रहा है सो आत्मा ज्ञानस्वभाव के कारण जान रहा है उन्हें। इसका ज्ञान होनेसे ज्ञान कहीं रस वाला नहीं हो जाता। रस तो पुद्गलका गुण है, उसका तो पुद्गलके साथ तादात्म्य है, पुद्गलमें ही रहता है, उस जीव में आ नहीं सकता, यदि रूप रस आदिक भी आत्मामें आ जायें अथवा पाये जायें तो जैसे ज्ञान सुख दुःख आदिकका अनुभव होनेसे ज्ञानी पुरुष सुखी दुःखी बन जाता है उसी प्रकार रसका अनुभव होनेसे यह आत्मा रस वाला फिर बन जाय। रूपका ज्ञान किया तो यदि आत्मामें रूप माना जाय तो रूपका ज्ञान करनेसे आत्मा फिर रूपी हो जाय, काला, पीला, नीला बन जाय, किन्तु ऐसे हो तो नहीं सकता। इस कारण आत्मामें रूप, रस आदिक नहीं हैं। केवल उनका ज्ञाता है, ज्ञानमात्र होनेसे कहीं ज्ञेयरूप आत्मा नहीं बन जाया करता है। तो यों आत्मामें रूप, रस आदिक नहीं हैं किन्तु सुख, दुःख, ज्ञान आदिक जो आत्मामें परि-णमन हो सकते हैं वे ही आत्माके कहे जाते हैं।

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तिरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥१४॥

ज्ञानसे अनर्थान्तरभूत सुख दुःखादिकी सिद्धि—आत्मामें जो सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं, अर्थात् ज्ञानसे अर्थान्तर नहीं है। इसका कारण यह है कि सुख दुःखका अनुभव भी तो चेतनता होनेसे हो रहा है। चैतन्यभावमें ही तो सुख दुःखका अनुभव

है। अचेतनमें तो सुख दुःख नहीं होते, और सुख दुःख भी क्या चीज हैं? एक प्रकारकी चेतना विधि ही तो है। किस तरहका चेतन करना कि सुख हो और किस तरहका चेतन करना कि दुःख हो, वहाँ यह चेतना विधि मिली हुई है। ज्ञानके सिवाय अन्य किसी भी जगह सुख दुःख आदिकका अनुभव नहीं हो सकता। इस कारण आत्मामें जो सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वे ज्ञानसे भिन्न नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप ही हैं, और भेद दृष्टिसे यह जंचा कि ज्ञान उसे कहते हैं जिसकी जानकारी हो। सुख उसे कहते हैं जहाँ इन्द्रियको सुहावना लगने जैसी कल्पना हो। दुःख उसे कहते हैं जहाँ इन्द्रियोंको बुरा महसूस करने जैसा ख्याल हो। तो आखिर ये सब ज्ञानविधियाँ ही तो हैं, अतः ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं होता है। तो ये सुख दुःखादिक आत्मामें नहीं भी हैं पर रूप, रस आदिक आत्मामें नहीं हैं।

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥१५॥

सुख दुःखादिका अचेतनमें अभाव—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वच्छन्दतया रहें अर्थात् जैसे सुख दुःख जीवमें रह रहे वैसे ही सुख दुःख अचेतन पुद्गल आदिकमें रह जायें तो यह बात सम्भव नही हो सकती, क्योंकि सुख दुःखादिक भाव तो जीवके ही हैं। वर्णादिकमें सुखदुःखादिकका होना असम्भव ही है। प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने ही असाधारण गुण हुआ करते हैं, जिसमें वह पदार्थ स्वतंत्र रहता है, तो आत्मा का जो विशेष गुण है वह आत्मामें ही रहेगा। पुद्गलमें जो विशेष गुण है वह पुद्गलमें ही रहेगा। पुद्गलके विशेष गुण है रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक, तो ये कहीं जीवमें न पहुंच जायेंगे। जीवके विशेष गुण हैं चैतन्य सुख दुःख ज्ञान आदिक, वे जीवमें ही पाये जा सकते हैं, अजीवमें नही। यहाँ इतनी बात विशेष जानना कि सुख दुःखादिक जीवके शाश्वत् भाव नहीं है, किन्तु आनंद नामकी शक्तिका विकृत परिणमन है। आनंद गुण तो आत्मामें शाश्वत् है, किन्तु सुखदुःखादिक आनंद गुणकी विकार परिणति हैं। वे सदा नहीं रहते, लेकिन फिर भी जिस कालमें रहती है सुखदुःखादिक परिणति उस कालमें वह जीवसे तन्मय है, और सुखदुःखादिक जीवमें ही होते हैं। तो यों सुखदुःखादिक जीव द्रव्यके असाधारण भाव वैभाविक भाव और जिस किसी भी समय आनंद गुण शुद्ध दशामें प्रकट होता हो उस समय वह स्वाभाविक भाव है। तो ये जीवद्रव्यको छोड़कर अन्य पुद्गल आदिकमें नहीं पाये जाते हैं, इस कारण ये रस आदिक आत्मामें नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गलके गुण हैं। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है और उसमें ज्ञान और आनंदशक्ति शाश्वत् है और उस ही का परिणमन आत्मा में होता रहता है। अतः आत्मा अशुद्ध नही है, किन्तु आत्मामें सुसम्वेदन प्रत्यक्ष होता है

उससे आत्माकी वास्तविकता प्रसिद्ध हो जाती है।

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्मादमूर्तं यदर्थवत्।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥१६॥

चेतनात्माके अमूर्तत्वका निर्णय—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि आत्मा आदिक अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक है, इसको न माननेसे स्वानुभव या सुख दुःखादिक की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि अमूर्त आत्मा नहीं है तो सुख दुःख आदिक किसमें उत्पन्न हों? और होते हैं ही। सभीके अनुभवमें यह बात है कि सुख दुःख आदिकका अनुभवन होता ही है। यदि आत्मा न होता तो सुख दुःख आदिकका परिणमन सम्भव ही न था, और फिर यह सारा ही जगत शून्य हो जायगा। आत्मा नहीं है तो जगतकी जानकारी ही क्या? कौन करे जानकारी, और फिर जानकारी करनेका प्रयोजन ही क्या? और फिर ये जो चौकी, पुस्तक, दरी, किवाड़ आदिक पदार्थ दिख रहे हैं ये सब हैं क्या चीज? ये कभी एकेन्द्रिय जीव थे, और उस जीवके निकलनेके वाद फिर यह काय मात्र रह गया, उस ही कायसे ये सब चौकी, दरी, पुस्तक, किवाड़ आदि चीजें बनायी जा रही हैं। जैसे ये सब बनें बाँस काठ आदिकसे तो बाँस काठ आदिक ये सब जंगलमें ही तो थे, एकेन्द्रिय जीव वनस्पतिकाय थे, अब उन्हें काट लिया और लोगोंने चौकी, कागज आदिक बनाया। तो ये उस जीवके ही तो काय हैं। जीव न होता तो काठ बाँस आदिक पर्याय तो न बनती। और जब वह काय न बनता तो ये साधन भी कहाँसे बन जाते? तो यह जगत जो दिख रहा है इससे भी यह सिद्ध है कि जीव नामक पदार्थ है जिसके कारण ही यह सब नजर आ रहा है।

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्वादमूर्तिमत्।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥१७॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥१८॥

आत्माको, ज्ञानको मूर्त सिद्ध करनेका शंकाकारका प्रयास—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सुख दुःख आदिकको अमूर्त कहना असिद्ध है। सुख दुःखादिक तो मूर्त हैं। जैसे रसका ज्ञान होता है तो वह ज्ञान रसस्वरूप ही तो है। वह ज्ञान रस वाला है ना, इसी तरह सुख दुःख आदिकका ज्ञान है तो वह ज्ञान सुख दुःख वाला है। तो जैसे रस वाला ज्ञान होनेसे रस मूर्तिक हैं ऐसे ही सुख ज्ञानवाला ज्ञान होनेसे सुख दुःख भी मूर्तिक ही हो सकता है। तो सुख दुःख आदिक तो मूर्त हैं। उन मूर्त सुखदुःखादिकसे अमूर्त आत्माकी सिद्धि कैसे की जा रही है अथवा यहाँ सुखदुःखादिक अमूर्त कैसे सिद्ध किए जा रहे हैं? रस वाला ज्ञान है तो ज्ञान अमूर्त तो नहीं है। ऐसे ही सुख दुःख वाला अनुभव है तो सुख दुःख भी

अमूर्त नहीं है। इस तरह सुखदुःखादिकमें मूर्तपना सिद्ध हो जाता है। तब ऐसे ही कारण बिना ही युक्तिके सुख दुःख आदिकका अमूर्तपना कैसे सिद्ध किया जा रहा है अथवा कैसे आ जायगा ? सुख दुःख आदिकमें अमूर्तपना कहनेका कोई कारण ही नही है। आखिर साध्यमें सिद्ध साधन किया जाना है तो किस साधनसे किया जाता है ? जो साध्यका अविनाभावी हो ऐसे साधनसे साध्यकी सिद्धि की जाती है, याने साध्यके अभावमें जो कभी हो ही न सके ऐसी कोई चीज अगर दिखी तो उससे सिद्ध होता है कि यह साध्य अवश्य है। तो जब सुख दुःखादिक ही सिद्ध न हुए, अमूर्त सिद्ध न हुए तो असिद्ध साधनसे अमूर्त आत्माकी सिद्धि यहाँ कैसे कही जा रही है ? जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानी उसी पदार्थरूप हो जाता है। तो जब ज्ञान रूप रस, गंध, स्पर्शको जान रहा है उस समयमें वह ज्ञान रूप, रस आदिकमय ही हो रहा है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्शस्वरूप ही ज्ञान है। तो यों ज्ञान भी मूर्त सिद्ध हो गया। तो सुखदुःखादिकके जब ज्ञान जान रहा है तो उस समय सुख दुःखादिक भी मूर्त सिद्ध हो जाते हैं। तो सुख दुःखादिक जब मूर्त सिद्ध न हुए तो उन अमूर्त सुखदुःखादिकके प्रत्यक्ष होनेका कारण बताकर आत्माके सत्त्वकी सिद्धिका जो प्रयास किया जा रहा है वह प्रयास व्यर्थ है, न्यायविरुद्ध है। आत्मा कोई वस्तु नहीं है, केवल जो प्रत्यक्षसे देख रहा है ऐसा मूर्त पदार्थ ही वास्तविक सत् है। आत्मा वास्तविक सत् नहीं है। तो जब आत्मा सत् न रहा तब जीवकी सिद्धि करके जो द्रव्यके दो विभाग बनाये जा रहे हैं कि द्रव्य जीव और अजीव इन दो भागोंमें विभक्त है, वह असिद्ध है। केवल एक द्रव्य ही मानना चाहिये और जो सामने प्रतीत हो रहा है केवल वही माना जाना चाहिये। ऐसी शंकाकारने आशंका की।

नैवं यतो रसाद्यर्थ ज्ञानं तन्न रसः स्वयम्।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥१६॥

उक्त शंकाके समाधानमें ज्ञानके अमूर्तत्वकी तथा उपचारसे मूर्तत्वकी सिद्धि—शंकाकारकी उक्त शंका संगत नही है, क्योंकि रस आदिक पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह स्वयं रस नही बन जाता। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञान अमूर्त ही होता है। यदि मात्र पदार्थ को विषय करनेसे ज्ञानको मूर्त कह दिया जाय तो वह केवल उपचारसे ही समझना चाहिए। वास्तवमें ज्ञान मूर्त नही होता। जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान यदि उस पदार्थरूप परिणम जाय तो इसमें तो बड़ी विडम्बना आ जायगी। जिस समय कोई नारकीके स्वरूपका ज्ञान कर रहा है तो वह नारकी बन बैठेगा क्या, अथवा कोई पुरुष सिंहका ज्ञान कर रहा है तो वह सिंह बन जायगा क्या ? ऐसा होता ही नहीं है, इस कारणसे जीव परपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान उस परपदार्थरूप नही बन जाता। हम आप लोगोंका ज्ञान क्षायोपशमिक

ज्ञान है फिर भी वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वह अमूर्त ही है, क्योंकि वह आत्माका गुण है। ज्ञान मूर्त पदार्थको विषय करता है, इस कारण मूर्त बन जाय सो नहीं होता। ज्ञानमें कभी भी मूर्तपना नहीं आता। क्योंकि ज्ञान यदि मूर्त बन जाय तो वह ज्ञान ही न रह सकेगा। मूर्त होनेके कारण, वर्णादिक होनेके कारण वह तो पुद्गलकी तरह जड़ बन जायगा, फिर उससे कभी सम्वेदन हो ही न सकेगा, इसी बातको अब अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं।

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः।
स्वसंवेद्याद्य भावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥२०॥

ज्ञानको मूर्त माननेपर अनिष्ट दोषापत्तियोंका विवरण—ज्ञानको मूर्त पदार्थका विषय करनेसे उपचार मात्रसे मूर्त कहा जाय तो उसकी यथार्थ समझ भी साथमें रखना चाहिए। वह केवल विषयके उपचारकी बात है। वास्तवमें वह ज्ञानमात्र नहीं बन जाता। हाँ मूर्तको विषय कर रहा, वर्णादिको जान रहा, इसलिए उसमें वर्णादिकका उपचार कह दिया जाय तो यह बात अलग है। जैसे कोई पुरुष डलियामें केला भरे हुए बेच रहा है, किसीको केलेकी जरूरत है तो वह कहता है ऐ केला! यहाँ आवो। अब देखिये—उस व्यक्तिको केला कहा गया है पर कही वह केला तो न बन जायगा। इसी प्रकार ज्ञानने यदि इन वर्णादिमान पदार्थोंको विषय किया है तो उपचारसे कह दिया जाय मूर्त, पर वास्तवमें मूर्त नहीं है। यदि ज्ञान मूर्त हो जाय तो हो, पुद्गल मूर्त है तो वह जड़ है, इसी प्रकार ज्ञान भी मूर्त हो गया तो वह भी जड़ बन जायगा। और जड़ तो सुसम्वेदन हुआ नहीं करता। जब यह ज्ञान जड़ हो गया तो अपने आपका ज्ञान न कर सकेगा और अन्य पदार्थोंका भी ज्ञान न कर सकेगा। अतः ज्ञान वास्तवमें मूर्त नहीं है किन्तु अमूर्त ही है।

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान्।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्थागमात् ॥२१॥

प्रमाण, स्वानुभूति व आगमसे जीव पदार्थके अमूर्तत्वकी सिद्धिका निर्णय—उक्त शंकाके समाधानमें यह बात स्पष्ट हो गयी है कि जीवादिक पदार्थ वर्णादिक भावोंसे रहित हैं, अमूर्त हैं। यह बात प्रमाणसे भी सिद्ध है और स्वानुभवसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने आप अपने ज्ञानसे अपने ही स्वरूपका उपचार करनेपर समझमें आ जायगा कि यह मैं ज्ञान अथवा ज्ञानमय आत्मतत्त्व अमूर्त हूँ। स्वानुभव इस अमूर्तपनेको सिद्ध कर देगा तथा आगमसे भी इतना निश्चय कर लेना चाहिए कि ज्ञान अथवा ज्ञानमय जीव पदार्थ यह अमूर्त है और जीव ही क्या, जिन-जिन पदार्थोंमें वर्णादिक नहीं हैं वे सभी पदार्थ अमूर्त हैं। पुद्गलको छोड़कर शेषके ये ५ द्रव्य अमूर्त कहलाते हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। वर्णादिक जीवमें भी नहीं हैं, ज्ञानमें भी नहीं हैं, इस कारणसे जीव अमूर्त पदार्थ

ही है।

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥२२॥

द्रव्यका लोक अलोकरूपमें विभाग—अभी पहिले समस्त द्रव्योंका दो प्रकारोंमें विभाग किया गया था,—जीव और अजीव। और द्वितीय प्रकारसे विभाग किया गया है मूर्त और अमूर्त। अब यहाँ तृतीय ढंगसे विभाग किया जा रहा है लोक और अलोक। लोक और अलोकका विभाग भी द्रव्यके लक्षणकी अपेक्षासे हो जाता है, अर्थात् जहाँ छहों द्रव्य पाये जायें अथवा जो षड्द्रव्यात्मक है वह तो लोक कहलाता है और जहाँ छह द्रव्य न पाये जायें उसे अलोक कहते हैं। अलोकका स्वरूप किसी अगली गाथामें कहेंगे और वहां स्पष्टतया बतायेंगे। यहाँ लोक शब्दका अर्थ बता रहे हैं। लोक कहते ही उसे हैं कि जहाँ छहों पदार्थ पाये जायें, जिसकी व्युत्पत्ति है—"लोक्यन्ते सत् पदार्था यत्र असौ लोकः" अर्थात् जहाँपर छह पदार्थ पाये जायें उसे लोक कहते हैं और जहाँ छह पदार्थ नहीं हैं उसे अलोक कहते हैं। इतना तो सब कोई अनुभव कर रहा है कि द्रव्योंका आधार आकाश है। ये द्रव्य रह कहाँ रहे हैं? आकाशमें। तो जैसे आकाशमें आकाश समेत छहों द्रव्य हैं अथवा कहो जैसे आकाश में ५ द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। आकाश तो है ही सर्वत्र। जहाँ लोकाकाश है वहाँ भी वही आकाश है और जहाँ अलोकाकाश है वहाँ भी वही आकाश है। इस कारणसे लोकाकाशकी व्युत्पत्तिमें आकाशको न कहा जाय तो कोई अनुचित बात नहीं। वह तो स्वतः सिद्ध है। अब यों समझिये कि जैसे जितने आकाशमें अन्य ५ द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं लेकिन जहाँ केवल आकाश ही है उसे अलोकाकाश कहते हैं। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि आकाश एक अखण्डद्रव्य है। आकाशके दो विभाग नहीं हैं कि इस आकाशको लोक कहेंगे, इस आकाशको अलोक कहेंगे। आकाश तो सारा ही अनन्त प्रदेशात्मक एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें जितने हिस्सेमें अन्य ५ द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते है और जहाँ ५ द्रव्य नहीं पाये जाते, केवल आकाश ही है उसे अलोकाकाश कहते हैं। आकाशके ये दो भेद निमित्तके भेदसे कहे गए हैं, अथवा उस आकाशके प्रकार ये दो नहीं हैं।

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥२३॥

अलोककी केवलाकाशात्मता होनेसे शून्यताकी असिद्धि—इस गाथामें अलोकका स्वरूप बताया गया है। जो अलोक है, जिसका कथन ऊपर किया गया है सो उसे यों न समझना कि छहों द्रव्योंसे शून्य है, किन्तु यह समझना कि केवल वहाँ आकाश है, बाकीके ५

द्रव्य नहीं हैं। छहों द्रव्योंमें आकाशद्रव्य भी है सो वह तो सर्वत्र है ही, पर जहाँ अन्य ५ द्रव्य नहीं हैं उसे अलोकाकाश कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है। उसे कहीं सर्वत्र शून्य न समझ लेना कि कुछ भी न हो उसको अलोक कहते हैं। वह अलोक आकाशद्रव्यात्मक है। अभावरूप नहीं है कि जो कुछ भी न हो उसे अलोक कहेंगे। अलोक और लोक ये सब एक ही आकाश हैं और आकाशमें षड्गुण हानि वृद्धि है, अर्थपरिणमन है। और जो भी परिणमन है आकाशका वह सर्वत्र एक ही परिणमन है, क्योंकि आकाश पूरा एक द्रव्य है। एक द्रव्यमें एक समयमें एक ही परिणमन होता है। वहाँ ऐसा न होगा कि लोकाकाशमें तो और तरहसे आकाशका परिणमन है, अलोकाकाशमें अन्य प्रकारसे आकाशका परिणमन है। वह समस्त आकाश एक ही है, अतएव एक परिणमन है। यहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि परिणमनका कारण होता है कालद्रव्य और कालद्रव्य केवल लोकाकाशमें ही पाया जा रहा है; क्योंकि कहा गया है कि जहाँ शेष ५ द्रव्य रहें उसे लोकाकाश कहते हैं। तो लोकाकाशमें ही कालद्रव्य पाये गए और कालद्रव्य परिणमनका कारण है, तब लोकाकाशमें ही परिणमन बनेगा, अलोकाकाशमें नहीं बन सकता। यह शंका युक्त नहीं है। कारण यह है कि निमित्त कहीं भी पड़ा हो परिणमनका हेतुभूत कालद्रव्य यद्यपि लोकाकाशमें ही है तो भी वह कालद्रव्य आकाशके परिणमनका निमित्त हो रहा है तो हो रहा है और उस समय आकाश परिणम रहा है, पर परिणम रहा है वह सम्पूर्ण आकाश। यह आवश्यकता नहीं है कि किसी द्रव्यके पूर्ण परिणमनके लिए निमित्त उसके सर्वांशोंमें ही हो। किसीकी जगह न हो, सम्मुख हो, एक कोनेमें हो, कहीं भी हो, निमित्तकी उपस्थिति चाहिए। उपादानमें अपनी योग्यतासे परिणमन होता है, अर्थात् कालद्रव्यके परिणमनका निमित्त पाकर आकाश जो परिणमा सो वह सम्पूर्ण आकाश परिणमा। वहाँ परिणमनमें दो प्रकार न बन जायेंगे।

क्रिया भावविशेषोऽस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥२४॥

केवलभावात्मक व भावक्रियोभयात्मकके प्रकारोंमें द्रव्यका विभाग—अब उन छहों द्रव्योंके विभाग दूसरी प्रकारसे बता रहे हैं। छहों द्रव्योंमें कोई द्रव्य तो भावात्मक है और कोई द्रव्य क्रिया और भावात्मक दोनों प्रकारकी है। यहाँ छहों द्रव्योंमें ऐसे दो विभाग किए हैं—कोई तो केवल भावात्मक है और कोई भावात्मक व क्रियात्मक दोनों प्रकारका है। जो पदार्थ सदा एकसे रहते हैं, जिनमें हलन-चलन क्रिया नहीं होती, वे पदार्थ तो भाव रूप हैं, वहाँ क्रिया नहीं हो रही है, उन्हें क्रियात्मक नहीं कह सकते, किन्तु जो पदार्थ कभी क्रिया भी करते, कभी स्थिर भी रहते वे क्रियात्मक तो है, पर भावात्मक भी नियमतः हैं।

तब ऐसे पदार्थ जिनमें परिस्पंद सम्भव है वे भावस्वरूप भी है और क्रियास्वरूप भी है। इस विषयको इस तरहसे समझ लेना चाहिये कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नही है अर्थात् जिनमें हलन-चलनरूप क्रिया नही हो सकती है वे केवल भाववती शक्ति वाले हैं, किन्तु जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति होती है वे क्रियात्मक हैं, पर अन्य सभी प्रकारके जो परिणमन भी चल रहे हैं वे भावात्मक परिणमन है। भाववती शक्ति ही केवल जिनमें पायी जा रही है वे भी निरन्तर परिणमन किया करते हैं। हाँ एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन कर जायें ऐसा परिणमन उनमें नहीं होता है। परिणमन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता ही रहता है। अब परिणमनकी दो विधियाँ हैं—एक तो ऐसा परिणमन कि कोई वस्तु एक जगहसे दूसरी जगह चली जाय, स्थानसे स्थानान्तर हो जाय तो ऐसे परिणगनवा नाम है क्रियारूप परिणमन। लेकिन जहाँ ऐसा परिणमन हो कि प्रदेशका हलन-चलन तो नही है, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन तो नहीं है परन्तु पहिली अवस्था विलीन होकर दूसरी अवस्था उत्पन्न हुई है ऐसा परिणमन चलता ही रहता है, इसके भावपरिणमन कहते हैं। जैसे देख लीजिए कि एक अंगुली यह यदि जरा भी न चले तो भी इसमें परिणमन है, जीर्ण हो रही है, पुरानी बन रही है, पहिले और प्रकारका परिणमन था, अब और प्रकार परिणमन हो रहा है तो यह भावपरिणमन हैं, और यही अंगुली थोड़ी हिलेडुले तो हलन-डुलन क्रियारूप परिणमन है। इस तरह द्रव्योंमें दो प्रकारके परिणमन वाले द्रव्य है क्रियारूप परिणमन वाले और भावरूप परिणमन वाले। अब उन दोनों प्रकारके परिणमन वाले पदार्थोंके विभाग किए जा रहे है।

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः॥२५॥

जीव और पुद्गलकी भावक्रियोभयात्मता तथा शेष चार द्रव्योंकी केवलभावात्मकता— समस्त द्रव्य ६ जातिके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भावात्मक है और क्रियात्मक है, दोनों प्रकार है और शेपके चार द्रव्य——धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये केवल भाव जीवात्मक है याने जीव और पुद्गलमें तो क्रियावती और भाववती दोनों शक्तियाँ पायी जाती है। परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंमें केवल भाववती शक्ति ही पायी जाती है। यही कारण है कि ये चार द्रव्य निष्क्रिय बताये गए है। सिद्धान्त शास्त्रमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यको निष्क्रिय कहा गया है। धर्मद्रव्य तो असंख्यातप्रदेशी है और समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। अधर्मद्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी और समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। आकाशद्रव्य लोक और अलोक सर्वत्र एक अखण्ड व्यापक है और कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है। ऐसे असंख्यात कालद्रव्य है। तो वे सभी

कालद्रव्य जो जहाँ स्थित हैं शाश्वत् वहाँ ही रहते हैं, उनमें भी किसी प्रकारका हलन-चलन नहीं होता है। यों चार द्रव्य तो केवल भावात्मक हैं और जीव पुद्गल भावात्मक भी हैं और क्रियात्मक भी हैं।

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥२६॥

क्रिया और भावका स्वरूप—इस गाथामें क्रिया और भावका स्वरूप कहा गया है। प्रदेशका जो चलात्मक परिस्पंद है उसको क्रिया कहते हैं अर्थात् आत्मा एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चला जाता है, यह क्रियावती शक्तिके कारण जाता है। तो प्रदेशके चलनात्मक परिस्पंदको क्रिया कहते हैं। अर्थात् प्रदेशकी हलन-चलनको क्रिया कहते हैं और इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुमें जो धारवाही परिणमन है उसे भाव कहते हैं। याने जो परिणमन निरन्तर होते ही रहते हैं, जहाँ परिणामन रुकता नहीं है, धारावाही रूपसे परिणमन होता है उसको भाव कहते हैं। यहाँ यह बात समझनी चाहिए कि हलन-चलन प्रदेशात्मक जो क्रिया है सो यह सदा धारावाही नहीं रहती। कभी किसी कारण चलित हो गया, चलित ही रहे ऐसा नहीं है। जैसे कि स्कंध ये कभी किसीका प्रयोग पायें, या इनमें स्वयंमें कोई योग्यता बने तो ये चलते हैं, पर ये चलते ही रहें, कभी स्थिर ही न हों ऐसा यहाँ नियम नहीं है। कभी चलते भी हैं, स्थिर भी होते हैं और जो भावात्मक परिणमन है वह निरन्तर ही होता है। जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्शका जो परिणमन हो रहा है वह निरन्तर हो रहा है। किसी भी समय रूपका परिणमन रुक जाय या किसी अन्य गुणका परिणमन रुक जाय ऐसा नहीं होता है। तो जो परिस्पंदात्मक परिणमन है उसको क्रिया कहते हैं तथा जो धारावाही परिणमन है उसको भाव कहते हैं।

ना संभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥२७॥

भाव और क्रियाके असंभवत्वका निराकरण—पदार्थ निरन्तर परिणमन किया करते हैं और उन्हीं परिणमनोंमें कभी-कभी प्रदेश चलनात्मक भी परिणमन होते हैं, यह बात असम्भव नहीं है, क्योंकि पदार्थमें यह स्वभाव ही है कि वह प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यरूप रहा करे। तो भावात्मक परिणमनमें तो कोई संदेह है ही नहीं। इस सम्बंधमें तो प्रथम परिच्छेदमें भी बहुत वर्णन किया जा चुका है। जहाँ परिणमन न हो वह पदार्थ ही नहीं है। जो भी सत् है वह नियमसे परिणमनशील होता है। कितने ही परिणमन हमारे ज्ञानमें आ नहीं सकते छद्मस्थ होनेके कारण, कितने ही स्थूल परिणमन हमारी दृष्टिमें आ जाते हैं। लेकिन परिणमन प्रतिक्षण होते हैं। अनंत शक्ति वाले पदार्थमें कोई भी शक्ति परिणमन-

शून्य नहीं रहा करती है। तो पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करता ही रहता है, परन्तु यहाँ यह विशेषता जाहिर की गई कि जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशके हलन-चलन रूप क्रिया भी कभी होती है, अर्थात् जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ तो भावरूप तथा क्रियारूप दोनों प्रकार से परिणमन करते हैं किन्तु शेष चार द्रव्य केवल भावरूप परिणमन करते हैं। तो यों परिणमते रहते पदार्थोंमें दो पदार्थ ऐसे हैं कि वे अगुरुलघुत्व गुणके निमित्तसे प्रतिक्षण परिणमन तो करते ही हैं, पर दोनों द्रव्योंमें जीव पुद्गलमें स्थानसे स्थानान्तर पहुंचानेकी भी शक्ति है, अन्य द्रव्य जहाँके तहाँ निष्क्रिय रहते हैं।

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशना रम्यते मया।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्याननतिक्रमात् ॥२८॥

जीवद्रव्यके स्वरूपविवरणका संकल्प—अब इस गाथामें ग्रंथकार संकल्प करता है कि अब हम चैतन्य द्रव्यके विषयमें व्याख्यान करेंगे। यहाँ इन शब्दोंमें कहा गया है कि चिद्द्रव्यके विषयमें अब देशना उसके द्वारा रुचिकर होती है, रम्य होती है। सर्व द्रव्योंमें चेतन द्रव्य ही एक ऐसा तत्त्व है जो ज्ञानानंद रससे भरपूर है। व्याख्याता स्वयं चैतन्यद्रव्य है और उस चैतन्वद्रव्यकी कहीं न कहीं रमण करनेकी प्रकृति बनी हुई है। तो उस ही शक्ति का स्मरण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि अब हम चैतन्यद्रव्यकी देशनामें रमेंगे। तो इस चैतन्यद्रव्यका जो व्याख्यान किया जायगा सो युक्ति आगम और अनुभूतिसे किया जायगा और इसमें जो भी व्याख्यान होगा पूर्व आचार्यके आशयका उल्लंघन न होगा। इस गाथामें चार बातें बतायी गई हैं। पदार्थकी सिद्धि युक्तिसे की जायगी, पदार्थकी सिद्धि अनुभवसे की जायगी और आगमसे की जायगी। साथ ही जो कुछ भी कथन होगा तो पूर्वमें महर्षि जनों की विवेचनासे विरोध न होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब इस कथनमें आगमसे, युक्तिसे, अनुभवसे और पूर्वाचार्योंके कथनसे विरोध नहीं है तो वह देशना नियमसे ग्राह्य है, किसी भी प्रकार अग्राह्य नहीं हो सकती। यहाँ दो मुख्य गुण स्पष्ट हुए हैं कि ग्रंथकार उत्सूत्र नहीं है अर्थात् आगमके विरुद्ध कहने वाले नहीं हैं। दूसरी बात यह सिद्ध हुई कि यहाँ जो वर्णन आयगा वह अयुक्त कथन नहीं है। इस प्रकार प्रमाणीक वचनके साथ ग्रंथकार यहाँ संकल्प कर रहे हैं कि अब हम यहाँ चैतन्यद्रव्यके विषयमें वर्णन करेंगे।

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आश्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥२९॥

सात तत्त्वोंमें जीवतत्त्वकी प्रागुद्देश्यता—जीवादिक ७ तत्त्वोंमें से यहाँ सबसे पहिला उद्देश्य जीवतत्त्व बनाया गया है, तो पहिले जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है। इसके पश्चात् अजीव तत्त्वका वर्णन होगा। फिर क्रमशः आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्षका

प्रतिपादन किया जायगा। जीवका सर्वप्रथम प्रतिपादन करनेका लक्ष्य यह है कि सम्पूर्ण तत्त्वोंका आधार तो मुख्यतया जीव ही है। प्रतिपादन परिज्ञान समझना यह भी जीवतत्त्वके सहारे है, और जो कुछ भी जगतमें यह दृश्य निर्माण हो रहा है, इसका भी मूलमें सहारा जीवद्रव्य है। तो ये सब जीवके काय ही नजर आ रहे हैं। भींत, चौकी आदिक ये सब कोई स्थावर काय थे, वे ही जब जीवरहित हो गए तो उनके उपयोगके लिए इस प्रकार कर लिए गए। तो जो कुछ भी यहाँ नजर आ रहा है उसमें भी आधार जीव ही था। तो यों सर्व रचनाओंमें भी आधार जीव है और प्रतिपादन करने वाला, समझने वाला, समझाने वाला भी जीव है। ७ तत्त्वोंके सम्बंधमें मुख्य आधार जीव है। जैसे आस्रवका वर्णन है उसका अर्थ है जीवमें अजीवका आना। सम्वरका अर्थ है जीवमें अजीवका आना रुक जाना। निर्जराका अर्थ है जीवमें अजीवका हट जाना। मोक्षका अर्थ है अजीवका जीवसे सर्वथा पृथक् हो जाना। तो इन तत्त्वोंके विवेचनमें भी मुख्यतया आधार जीवद्रव्य है। इस कारण सर्वप्रथम जीवद्रव्य का वर्णन करना यह उद्दिष्ट किया गया है। अथवा वास्तविक दृष्टिसे बताया जाय तो ७ तत्त्व जीवद्रव्यकी अवस्था विशेष है। तो ७ तत्त्वोंमें जीवतत्त्व ही एक मुख्यता रख रहा है, इस कारण सर्वप्रथम जीवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है।

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम् ॥३०॥

जीवतत्त्वके अस्तित्वकी सिद्धि—जीवद्रव्य स्वतः सिद्ध है, आदिअंतरहित है, अमूर्तिक है, ज्ञान, दर्शन, आनंदशक्ति आदिक अनंत धर्मात्मक है और यह जीवद्रव्य अविनाशी है। जीवद्रव्यके वर्णनसे यह बात तो स्वतःसिद्ध ही हो जाती है कि जीव है, जीवका अस्तित्व नहीं है, कुछ दार्शनिक जीवद्रव्यका अस्तित्व ही नही मानते। उनका कथन है कि जीवद्रव्य कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन ५ भूतोंसे मिलकर जीवद्रव्य बना है। तो जीवद्रव्यका अस्तित्व न मानने वाले आशयका यह निराकरण स्वतः ही हो जाता है और जीव स्वतःसिद्ध है। इससे यह जाहिर हुआ कि ५ भूतोंसे निष्पन्न नहीं है किन्तु वह अपने आप ही सिद्ध है। जीवद्रव्य अनादि अनंत है। जीवद्रव्य कबसे हुआ, कब तक रहेगा, इसकी न कोई आदि है और न अंत है। जितने भी सत् हैं, किसी भी सत्की न आदि है, न अंत है। सत् है इस कारण वह अनादिसे है और अनंतकाल तक रहता है। जीव भी स्वतःसिद्ध सत् है अतएव वह भी अनादिसे है और अनंतकाल तक है। क्षणिकवादियोंके द्वारा जैसे कि आत्माको क्षणिक माना है वह बात इस विशेषणसे निराकृत हो जाती है। क्षणिकमें आदि और अंत दोनों मानने पड़ते हैं और क्षणिकवादियोंने तो एक-एक क्षणका आत्मा माना है। ऐसा भी नहीं माना गया कि किसी शरीरमें जन्म लेते

हैं। जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त एक जीव हो, किन्तु प्रतिक्षण नवीन-नवीन जीव ही बनता चला जाता है। इस आशयका निराकरण अनादि अनंत विशेषणसे स्वयं हो जाता है। जीव शाश्वत् है, अनादि अनंत है, केवल पर्यायदृष्टिसे अन्य-अन्य रूप होते हैं, किन्तु वह वास्तवमें अनादि अनंत ही है।

जीवद्रव्यकी अमूर्तिकता व अनन्तधर्मात्मकता एवं अविनाशिता—जीवद्रव्य अमूर्तिक है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गंध, स्पर्श होता तो यह पुद्गलकी भाँति किसी पिण्डरूप होता। और फिर यह जाननेका भी स्वभाव न रख सकता था। और स्वानुभवसे भी यह सिद्ध होता है कि जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक नहीं हैं, यों जीव अमूर्तिक है। इस जीवके ज्ञान, दर्शन, आनंद, वीर्य आदिक अनंत धर्म पाये जाते हैं। जीव जानता है—यह बात सभी लोग समझ रहे हैं। कुछ जान ही तो रहे हैं, कुछ समझ ही तो रहे हैं। जीवमें दर्शन है तो सामान्य प्रतिभास भी करता है यह भी भली भाँति समझमें है। जीव आनंदमय है, जिसके कि आजकल सुख और दुःखरूप विकारमय परिणाम रहते हैं और जिसका शुद्ध परिणमन सुख दुःखसे रहित आनंद है। जीवमें शक्ति भी है, इस तरह यह जीव ज्ञान, दर्शन, सुख शक्ति आदिक अनंत धर्मस्वरूप है तथा यह जीवद्रव्य अविनाशी है, इसका कभी भी विनाश नहीं हो सकता है। जीवद्रव्यमें ज्ञान, दर्शन आदिक जो गुण पाये जा रहे हैं वे गुण भी जीवद्रव्यकी ही तरह अनादि अनंत होते हैं। इसका कारण यह है कि गुण अलग चीज नहीं, जीव अलग चीज नहीं, किन्तु एक ही अखंड जीवद्रव्यका विवक्षावश समझनेके लिए तीर्थप्रवृत्तिके लिए भेदपद्धतिसे अंशरूपसे वर्णन किया गया है। तो यह अंश शाश्वत अंश है। गुण भी जब अनादि अनंत है तब समझना चाहिए कि यह जीवद्रव्य विनाशरहित ही है।

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित्॥३१॥

जीवद्रव्यका साधारणगुणोपेतत्व एवं असाधारणधर्मभावत्व—यह जीव साधारण गुणोंसे सहित है और फिर भी असाधारणसहित है। यह जीव विश्वरूप हो रहा है फिर भी विश्वमें ठहरा नहीं है। यह जीव सर्वकी उपेक्षा रखने वाला है, फिर भी सबको जानने वाला है। इस गाथामें जीवका स्वरूप विरोधालंकारमें वर्णित किया गया है। शब्दोंकी दृष्टिसे प्रथम ही विरोधालंकारमें वर्णित किया गया है। शब्दोंकी दृष्टिसे प्रथम ही विरोध देखिये—कह रहे हैं कि जीव साधारण गुणोंसे सहित है, और साधारण धर्म वाला नहीं है। तो साधारण धर्म वाला नहीं है इसका अर्थ अविरुद्ध अर्थमें यह करना चाहिये कि असाधारण धर्म वाला है, यह जीव विश्वरूप है, फिर भी विश्वमें नहीं है। यहाँ अविरोधरूप अर्थ यह करना चाहिये

कि यह जीव विश्वरूप बन रहा है, सर्वको जान रहा है, फिर भी किसी बाह्यपदार्थ या किसी भी अन्य पदार्थके स्वरूपमें यह नहीं है। तीसरा अलङ्कार बताया है कि जीव सबसे उपेक्षा रखने वाला है, फिर भी सबका जानने वाला है। तो उपेक्षा रखना, उससे हटना और फिर उसका जानने वाला बनना, स्थूल शब्दोंमें विरोध दिख रहा है पर अविरुद्ध अर्थमें यह समझना चाहिये कि जीवकी प्रकृति सबसे उपेक्षा करनेकी है फिर भी यह जानता सबको है। जीव ६ साधारण धर्मोंसे युक्त है, इस विषयमें पहिले भी वर्णन किया गया है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व ये ६ सामान्यगुण हैं। ये सभी द्रव्योंमें रहते हैं जीव में भी रह रहे हैं इस कारण साधारण धर्म कहा जाता है। किन्तु जीव चेतन असाधारण धर्मवाला भी है। असाधारण धर्म न हो तो साधारण धर्म भी नहीं ठहर सकता। इस कारण जीव साधारण धर्मोंसे सहित है और असाधारण धर्मवाला भी है।

जीवद्रव्यकी विश्वरूपता व अविश्वस्थता—जीव विश्वरूप है क्योंकि यह असंख्यात-प्रदेशी है; प्रदेशकी समानतासे तो लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जीव, इसलिए जीवको विश्व भी कहते हैं। ऐसा विश्वरूप होनेपर भी सारे विश्वमें स्थित नहीं है, किन्तु वह अपने प्रदेशमें ही स्थित है। जब केवली समुद्धातसे एक समयको लोकपूरण समुद्धातके समय जब सारे लोकमें समा जाता है तो यह अरहंत आत्माका प्रदेश उस समय भी यह लोकाकाशके प्रदेशमें नहीं है, किन्तु अपने प्रदेशमें है। सभी द्रव्य आकाशमें रहकर भी निश्चयसे अपने स्वरूपमें ही रहते हैं। दूसरी प्रकारसे आत्माको विश्वरूप देखें तो यों निरखिये कि आत्मा सर्व विश्वको जानता है और उस जाननकी दृष्टिसे यह जीव सारे विश्वरूप बन गया है, क्योंकि आत्मा ज्ञानगुण प्रधान है, वह जान रहा है, और जाननेमें सारे विश्वका आकार ग्रहण हुआ है। तो यह आत्मा सर्वविश्वमय बन गया है, फिर भी अपने प्रदेशसे बाहर कहीं भी स्थित नहीं है, इस कारण यह विश्वरूप भी है और विश्वमें स्थित नहीं है।

जीवद्रव्यकी सर्वोपेक्षता व सर्ववेदिता—यह आत्मा सर्वकी उपेक्षा करने वाला है फिर भी यह सर्वका जाननहार है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सत् है, परस्वरूपसे सत् नहीं है। इस कारण प्रत्येक पदार्थ ही परसे न्यारा है और समस्त परकी उपेक्षा करने वाला है, लेकिन जड़ पदार्थोंमें उपेक्षाका व्यवहार नहीं किया जाता। जहाँ रागद्वेषकी सम्भावना नहीं वहाँ उपेक्षाका भी व्यवहार नहीं होता है। किन्तु रहते सभी पदार्थ अन्य सर्व पदार्थोंसे न्यारे। तो यह आत्मा सर्व पदार्थोंसे निराला है और सर्वकी उपेक्षा रखने वाला है, इतनेपर भी यह सर्वका जाननहार है। सबकी उपेक्षा है किसीमें यह लगा नहीं है लेकिन अपने ज्ञानगुणके प्रयाससे अपने ही प्रदेशोंमें रहता हुआ यह सर्वको जान लेता है। इस तरह जीवका स्वरूप एक अलंकारिक भाषामें कहा गया है।

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥३२॥

जीवका असंख्यातप्रदेशवत्त्व होनेपर अखण्डप्रदेशवत्त्व—यह जीव असंख्यात प्रदेश वाला है । जीव असंख्यातप्रदेशी है यह समझा कैसे गया ? अब जीव संकोच विस्तार करता हुआ जिस पर्यायमें, जिस देहमें रहता है वह उस देह प्रमाण हो जाता है । चींटीके शरीरमें गया तो वह पाव इंचके आकारका हो गया, हाथीके शरीरमें गया तो यह इतने विशाल आकारका हो गया । विशाल आकारका हो होकर अधिकसे अधिक विशाल आकार क्या हो सकता है उसको जानकर उनका प्रदेश निर्णय कर लिया जाता है । लोकपूरण समुद्घातमें यह जीव लोकके आकारका हो जाता है । तो इससे जाना गया कि यह जीव असंख्यातप्रदेशी है । यद्यपि इतने विस्तारका जीव जीवनमें और सारी सत्तामें केवल एक बार होनेका प्रसंग आता है । पुनः अरहंत अवस्था नहीं, यह अरहंत अवस्था हो, लोकपूरण समुद्घात हो, ये जिस जिसके हो सकते हैं एक बार ही होंगे तो दुबारा यह सम्भावना नहीं है, लेकिन जीवमें उतने प्रदेश नहीं होते तो इतने विस्तार वाला हो ही न सकता था । इस आधारपर यह निर्णय हुआ कि जीव असंख्यातप्रदेशी है । तो असंख्यातप्रदेशी है फिर भी यह अखण्ड द्रव्य है, अखण्ड क्षेत्री है, इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं । जैसे एक चटाई तीन चार हाथ लम्बी, दो हाथ चौड़ी है तो उसमें खण्ड किये जा सकते हैं और उनके कभी हिस्से भी हो जाते हैं । इस तरह आत्माके कभी न खण्ड होते हैं, न प्रदेशमें हिस्से होते हैं । प्रदेशके हिस्से कल्पनापर हैं । जीव इतने बड़े विस्तार वाला है तो लोकाकाशके प्रदेशके मापसे इसकी माप करके असंख्यातप्रदेशी कहा गया है । वस्तुतः सत् अखण्ड स्वक्षेत्री है और प्रदेश भी क्या है ? जीवमें जो अनंत गुण हैं वे ही प्रदेश हैं । प्रदेश गुणात्मक ही है । ऐसा नहीं है कि जीवके प्रदेश कुछ अलग सत् हों और उनमें अनंत गुण हों । जीव अनंत गुणात्मक है और इस ही रूपसे इतने विस्तारका है इसलिए असंख्यातप्रदेशी है । वे प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु अखण्ड क्षेत्री हैं ।

जीवद्रव्यका अन्यद्रव्यातिरिक्तत्व होनेपर भी अन्य द्रव्योंमें संस्थितपना—यह जीव अन्य सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न है । अनंतानंत जीव जो किसी भी जीवके अतिरिक्त हैं उन सबसे यह निराला है, क्योंकि उन अनंतानंत जीवोंका चैतन्य उनमें ही व्याप्त है । उनका उत्पाद-व्ययध्रौव्य उनमें ही होता है । उनमें कर्मका संचार बंधन आदिक उनमें ही है । उन समस्त अनंतानंत जीवोंसे यह विवक्षित जीव निराला है और समस्त पुद्गल अनंतानंत हैं उनसे भी निराला है । धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्यात कालद्रव्य इनसे भी निराला है । यों यह जीव सर्व परद्रव्योंसे निराला है, फिर भी उन परद्रव्योंके बीच स्थित है । जीव कहाँ जायगा

जहाँ कि अन्य द्रव्य न हों, और केवल यह जीव ही रह सके ऐसा यहाँ कोई स्थान नहीं है। तो सिद्ध भी हो जाय यह जीव तो जहाँ सिद्ध भगवान विराजे हैं वहाँपर भी सर्वद्रव्य हैं। तो यह जीव सबसे निराला है फिर भी सबके बीचमें ही स्थित है। इस तरह जीवके स्वरूपका स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः।
स्याद्द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥३३॥

स्वरूपतः एकविधत्व होनेपर पर्यायदृष्टिसे जीवद्रव्यका मुक्तामुक्तरूपमें विभाग—शुद्धनयकी अपेक्षासे यह जीव शुद्धस्वरूप है, एक रूप है। जैसे शुद्धनयकी दृष्टिमें केवल एक, पर अपेक्षारहित, पर उपाधिरहित स्वरूप मात्र द्रव्य देखा जाता है तो उस शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीवद्रव्य शुद्ध स्वरूप है, अर्थात् जो जीवमें स्वभाव है उस स्वभावरूप है। स्वभाव विकार, विडम्बनाके लिए नहीं होता, बल्कि स्वभावमें स्वभाव ही दृष्टगत होता है। परिणतिकी भी वहाँ उपेक्षा रहती है, अथवा परिणतिपर भी वहाँ दृष्टि नहीं है। ऐसी शुद्धनयकी दृष्टिमें यह जीव शुद्धस्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं होती। और तभी इस दृष्टिमें जितने भी जीव हैं वे सब एक समान हैं। इसी एक समानको एक कह दिया है अन्य दार्शनिकोंने, क्योंकि समान अर्थमें भी एक शब्दका प्रयोग होता है, ऐसी व्याकरण और शब्दकोषकी विधि है। तो यों यह जीवद्रव्य एक रूप है, फिर भी पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो जीवकी समस्त पर्यायोंको संक्षेप करके बताया जा रहा है कि जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त जीव और अमुक्त जीव। जो जीव कर्मबंधनसे छूट गए हैं, विकारभावोंसे छूट गए हैं, जो जीव पूर्ण शान्त हैं, आनंदमय हैं, केवल उस ही स्वरूपमात्र हैं, वे तो मुक्त कहलाते हैं और जो जीव कर्मबंधनसे युक्त हैं, शरीरादिकका संयोग है, सम्बंधमें है उन्हें कहते हैं अमुक्त जीव। निश्चय और व्यवहारका विषय क्या है? निश्चयका विषय है स्व, व्यवहारका विषय है पराश्रित भाव। निश्चयनय एक वस्तुको एकमें ही निरखता है और उसका स्वभाव भावको ही ग्रहण करता है। व्यवहारनय अशुद्ध अवस्थाको, परसंयोगको जो सभी अशुद्ध अवस्थामें सम्मिलित हो गए हैं उनका ग्रहण करता है, पर निमित्तसे होने वाले जो भाव हैं औपाधिक भाव, नैमित्तिक भाव उनको ग्रहण करने वाला व्यवहारनय है। तो निश्चयनयकी दृष्टिमें तो किसी प्रकारका भेद नहीं है। संसारी और मुक्त सभी जीवोंको एक रूप निरखा निश्चयदृष्टिने तो वहाँ संसारी और मुक्तका भेद क्यों दृष्टिमें नहीं पड़ा है? केवल स्वरूप उस दृष्टिमें है और उस स्वरूपदृष्टिमें जीव एकरूप है, किन्तु व्यवहारनयमें जीव दो रूप हो गया है—एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो उपाधिसहित आत्मा है वह संसारी है, जो निरुपाधि आत्मा है, वह मुक्त कहलाता है। यों इस प्रथम परिच्छेदमें एक द्रव्यके स्वरूपका वर्णन किया था। अब इस परिच्छेदमें और-

द्रव्यका प्रमुखतासे वर्णन चल रहा है। द्रव्यमें जीवके स्वरूपका अवधारण किया और निश्चयदृष्टिसे स्वरूपकी दृष्टिसे जीव एक ही प्रकारका है। अब व्यवहारनयके आलम्बनसे उस जीवके भेदोंका विवरण चल रहा है। तो प्रथम ही प्रथम जीवमें क्या भेद दृष्टगत हुए ? तो ये भेद दृष्टगत हुए कोई जीव संसारी हैं और कोई मुक्त हैं।

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्ध स्वरूपवान्।
मूर्छितोनादितोष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ॥३४॥

अमुक्त जीवके लक्षण—इस गाथामें संसारी जीवका स्वरूप कहा गया है। जो आत्मा बद्ध है वह संसारी है। यह जीव कर्मोंसे बद्ध हो रहा है। यद्यपि कर्म मूर्तिक हैं, आत्मा अमूर्त है, आत्मामें कर्मका संयोग नहीं बन सकता और जैसे एक रस्सीका छोर दूसरी रस्सी के छोरसे बांध दिया जाता है, गाँठ लगा दी जाती है, इस तरहसे जीवने कर्मसे गाँठ भी नहीं लगायी है, किन्तु ऐसा ही यहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि वह जीव रागद्वेष भावरूप परिणमे तो उस निमित्तको पाकर कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप हो जाती हैं और जीवके प्रदेशोंमें स्थित रहती हैं। प्रदेशमें स्थित रहनेका, एकक्षेत्रावगाही होनेका तो विस्रसोपचयसे भी सम्बंध है। जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप नहीं हुई हैं किन्तु अभी अकर्मरूप हैं, ऐसी अनेक वर्गणायें भी इस जीवके एकक्षेत्रावगाही हैं। जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं। जीवका एक भव से मरण होता है; दूसरे भवमें यह जीव जाता है तो विग्रह गतिमें भी जैसे बँधे हुए कर्म एक क्षेत्रावगाही होकर इस जीवके साथ जाते हैं इसी प्रकार न बँधे हुए विस्रसोपचयरूप कार्माण स्कंध भी इस जीवके साथ जाते हैं, पर रागद्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर उन कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी स्थिति आ गयी है कि वे कर्मरूप होकर बद्ध कहलाने लगते हैं। तो जो जीव कर्मसे बँधा है वह संसारी है। संसारी जीव अपने यथार्थस्वरूपको पाये हुए नहीं है। अर्थात् जीवका जो स्वरूप है वही मात्र व्यक्त हो, वहाँ आवरण न हो, उसकी विकृत दशा न हो, ऐसी स्थिति संसारमें नहीं है। यह जीव अनादिकालसे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे मूर्छित हो रहा है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनंद, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनंत गुण हैं और वे सब गुण इस संसार अवस्थामें इन कर्मोंके निमित्तसे ढके हुए हैं अथवा विकृत हो रहे हैं। इन अष्टकर्मोंमें मोहनीय कर्म एक प्रधान कर्म है, जिसके उदयसे जीवके श्रद्धा एवं चारित्र गुण विकृत हो जाते हैं। यह मूर्छित अथवा उन्मत्त हो जाता है। तो इस मोहनीय कर्मके उदयसे यह विपरीत स्वाद वाला बन जाता है। यह अपने विशुद्ध ज्ञानानंदका स्वाद नहीं ले सकता है, दर्शन मोहनीयके उदयमें मोहका अनुभव करता है, चारित्र मोहके उदय में रागद्वेषका अनुभव करता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप है उसका अनुभव नहीं कर सकता। इसी कारण संसारी आत्मा अपने यथार्थस्वरूपका अनुभव भी नहीं कर पाता। तो

जहाँ यह अष्टकर्मोका बंधन है, मोहनीय कर्मका भी बंधन है, वहाँ इस जीवकी दयनीय स्थिति है । इस कर्मबंधनसे जो जीव मुक्त हो गए हैं वे पवित्र हैं, पूज्य हैं, उपासनीय हैं, उन्हें ही सिद्ध प्रभु कहते हैं । भक्त जन जो सिद्ध प्रभुकी उपासना करते हैं वे यही ध्यान रखते हैं कि जैसा इनका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, मैं भी ऐसा शुद्ध ज्ञानानंदमय हूं और इस तरह अपने स्वरूपके अनुभवके लिए प्रभुकी उपासना वह ज्ञानी करता है ।

यथानादि: स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥३५॥

जीव, कर्म व उनके सम्बन्धकी अनादिता—ऊपर की गाथामें बताया गया है कि जीव और कर्मका अनादिसे सम्बन्ध है, उसीका विवरण यहां कर रहे हैं । जीव एक सत् पदार्थ है । वह अनादिकालसे है । जो भी सत् है वह अनादिसे ही है । किसी भी असत्का निर्माण नहीं होता अथवा जो है ही नहीं वह किसी भी प्रकार निष्पन्न नहीं होता । अतः जो है वह नियमसे अनादिसे है । तो यह जीव (आत्मा) अनादिसे है और ये पुद्गल भी अनादिसे है । पुद्गल भी सत् रूप हैं, पुद्गल भी किसी दिनसे निष्पन्न हुये हैं ऐसा नहीं है । वे भी अनादिसे हैं और इस प्रकारका बंध भी अनादिसे है । इस तरह जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिकालसे चल रहा है । जीव अनादिसे है इसमें रंच भी सन्देह नहीं है क्योंकि वह सत् है । जो भी सत् होता है वह अनादिसे होता है, कर्म पुद्गल भी अनादिसे है, तो पुद्गलकी अनादिताका भी संदेह नहीं है । क्योंकि वह सत् है । अब जीव और कर्मका बन्ध अनादिसे है—इस सम्बन्धमें विचार करते हैं । सो अगली गाथाओंमें इस सम्बन्धमें विचार किया जायगा कि जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध कैसे सिद्ध होता है ? जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिसे नहीं है और किसी समयसे हो गया है । तो मोटे रूपसे तो यही ध्यान में आता कि सम्बंध न था तो जीव जीव ही था, जीव अपनी जगह, पुद्गल अपनी जगह अलग पड़े हुए थे । सभी शुद्ध थे, तो जो शुद्ध है उसमें फिर बंधकी अशुद्धता कैसे आ गई ? उसका कारण सिद्ध करनेमें बहुत श्रम करना होगा और वह सब निष्फल होगा । तो मोटी दृष्टिसे जीव और कर्मका सम्बंध अनादि सिद्ध होता है उस ही को युक्तिरूपसे अनादि सिद्ध करनेके लिए आगे गाथा कहेंगे ।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥३६॥

दृष्टान्तपूर्वक जीव और कर्मके अनादि सम्बन्धका स्पष्टीकरण—जीव और कर्मका अनादि सम्बंध कनकोपलकी तरह है । कनकपाषाण कहते है पृथ्वीमें जहाँ सोनेकी खान होती है वहाँ जो जमीनसे निकलता है ऐसा वह पत्थर अथवा मिट्टी, वह कनकपाषाण है । तो

कनकपाषाणमें मिट्टी पत्थर कालिमा और स्वर्ण ये सब मिले हुए हैं। वहाँ ऐसा नहीं है कि स्वर्ण अलग था और पाषाण आदिक अलग थे, फिर वे मिलाये गए हों। उनमें सादि सम्बंध नहीं है इसी प्रकार जीव और कर्ममें सादि सम्बंध नहीं है कि जीव पहिले अलग था और कर्म अलग था फिर मिलाये गए हैं। यदि जीव और कर्मके सम्बंधको सादि मान लिया जाता है तो इससे दोनों बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं और अन्योन्याश्रय दोष आयगा। कितने ही सम्बंध ऐसे देखे जाते हैं जो अनादि सम्बंध है। उनकी आदि मान ली जाय तो उन दोनों की सिद्धि नही हो सकती। जैसे बीज और वृक्षकी परम्परा अनादि है। बताओ पहिले बीज पैदा हुआ कि वृक्ष ? तो कोई वृक्ष ऐसा नही जो बीजसे न पैदा हो और कोई बीज ऐसा नहीं जो वृक्षसे न पैदा हो। तो वहाँ यह निर्णय देना कठिन है कि पहिले अमुक पैदा हुआ। ऐसे ही अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे यह सिद्ध है कि सम्बंध कोई अनादि भी होता है। उस सम्बंधको भी यदि पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्येक सम्बंध सादि होगा लेकिन उसकी परम्परा देखी जाय तो अनादि है। जैसे जीवने आज कर्म बाँधे तो आजका बाँधा हुआ कर्म है वह सम्बंध सादि है लेकिन जीव कर्मबंध वाला था ही नही पहिले और किसी समय बाँधा हो, ऐसा न मिलेगा। तो कर्मबंध परम्पर्या अनादिसे सम्बंध वाला है, उसको सादि नहीं कह सकते। यदि सादि माना जाय तो वहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है, उसी अन्योन्याश्रय दोषकी बात अगली गाथामें कह रहे हैं।

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम् ॥३७॥

जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध न माननेपर अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग—यदि जीव पहिले निष्कर्मा माना जाय अर्थात् शुद्ध कर्मरहित केवल अपने स्वरूपमें ही रहने वाला अविकार, ऐसा निष्कर्मा माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वह आत्मा तो शुद्ध ही था, अब उस शुद्ध आत्माके बंध कैसे बनेगा ? यदि शुद्ध आत्मामें भी बंध मान लिया जाता तो उसका मोक्ष किस प्रकार होगा ? यहाँ दो बातोंपर विचार किया गया है कि यदि जीव का और कर्मका सम्बंध सादि मान लिया जाता है तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि कर्मरहित जीव था, फिर कर्मका सम्बंध हुआ, तभी तो सादि सम्बंध कह सकेंगे। तो जब जीव कर्म-रहित था तो उस शुद्ध जीवमें, कर्मरहित जीवमें बंध कैसे बन जायगा ? तो बंध बिना कारण के कैसे हो सकता है ? कदाचित् मान लीजिए कि शुद्ध था तो भी बंध हो गया तो शुद्धमें भी जब बंध हो जाता है तो उसका निर्वाण कैसे होगा ? अथवा किसी तरह मान लो, निर्वाण हो गया तो निर्वाण होनेपर भी पूरा क्या पड़ेगा ? निर्वाण होनेपर यह शुद्ध हो गया यही तो बात बनेगी, पर जैसे पहिले शुद्ध था और कर्मबंध हो गया था और अब तपश्चरण

आदिक विधिसे शुद्ध हो गया तो फिर भी कर्मबंध हो सकता है। तो ऐसे मोक्षसे आत्माका कुछ पूरा तो न पड़ेगा। इससे यह मानना चाहिये कि आत्माका कर्मके साथ जो बंध है वह अनादि बंध है, क्योंकि बन्ध होता है अशुद्ध अवस्थामें। यदि कर्मबंधसे पहिले आत्माको शुद्ध मान लिया जाता, कर्मरहित हैं और फिर उसके बंधकी कल्पना की जाय तो बंधकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्मामें बंध कैसे हो? बंध तो अशुद्ध परिणामसे होता है। जीवमें रागादिक भाव जगे तब तो कर्मबंध हो, लेकिन मान रहे हो पहिले आत्माको शुद्ध तो कर्मबंध होगा? कर्मके बंध होनेमें तो अशुद्ध परिणामके निमित्त होनेकी आवश्यकता है। और आत्मामें रागादिक परिणाम हुए, इसके लिए पहिले कर्मबंधकी आवश्यकता है। तो पहिलेके कर्मोदयमें जीवके रागादिक भाव हुए और जीवके रागादिक भाव होनेपर कर्मबंध हुआ, किन्तु ऐसा मान नहीं रहे। जीवको शुद्ध मान रहे हो, क्योंकि सादि बंध माननेका हठ किया जा रहा तो ऐसे शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मा शुद्ध हो गए वे भी तो अशुद्ध हो जायेंगे, और अशुद्ध हो गए तो बंध होगा, संसारी रहेगा, जन्ममरण करेंगे, फिर निर्वाणका कोई मूल्य ही न रहा, संसार और मोक्षका कोई अंतर ही न रहा। यों तो नवग्रैवेयकमें भी जीव जाता है, बड़े आरामसे रहता है, शुक्ल लेश्या है, मंद कषाय है, बड़ी सातासे रहता है। कोई प्रवीचार नहीं है, तो एक निर्वाण जैसी अवस्था लग रही है, क्योंकि निर्वाण होने पर भी बंध मान लिया, तब ऐसे ही बहुत कुछ शान्ति होनेपर नवग्रैवेयकसे आखिर लौटना होता है, जन्ममरण करना होता है, तो अधिकसे अधिक इस आशय वालेका मोक्ष ग्रैवेयककी तरह हो जायगा, और इसीको बहुतसे लोग वैकुण्ठ कहा करते हैं। कंठकी जगह ही तो ग्रैवेयक है, वही उनका मोक्ष है। पूर्ण शुद्ध वीतराग विज्ञान अवस्थाकी बात न आयगी, और आयगी तो फिर कभी अशुद्धता नहीं आती। ये सब बातें तब सिद्ध होंगी जब जीव और कर्मके सम्बंधको अनादि मान लिया जाता है। बंधरूप कार्यके लिए रागादिक अशुद्ध रूप कारणकी आवश्यकता है, क्योंकि रागादिक परिणामका निमित्त हुए बिना कार्माणवर्गणाओंमें कर्मरूप अवस्था नहीं हो सकती और रागादिक परिणामके होनेके लिए पूर्वबद्ध कर्मकी आवश्यकता है, अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मका विपाक होनेपर उसका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक अवस्थायें होती हैं। लेकिन अब तो शुद्ध माननेका हठ किया जा रहा तो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष होता है अर्थात् जीव और कर्मका सम्बंध सादि माननेसे इतरेतराश्रय दोष होता है। उसमें न बंध ही सिद्ध होगा, न रागादिक ही सिद्ध होगा, न संसार ही सिद्ध होगा।

कर्मबन्धकी परम्परा न मानकर बंधको सादि माननेपर अहेतुक कर्मबन्धके विनाशकी अशक्यताका प्रसङ्ग—जीव और कर्मका सादि सम्बन्ध माननेमें दूसरा दोष यह आता है, सो सुनिये—जीव और कर्मका सम्बन्ध सादि मान लेनेसे यह प्रश्न तो खड़ा ही है कि बन्ध जब

गादि हैं तो उसमें पहिले आत्मा शुद्ध था, तो शुद्ध आत्मामें बंध नहीं हो सकता. क्योंकि बिना कारणके कार्य नहीं होता । जैसा निमित्त पाकर जो कार्य हुआ करता है वह वैसे ही होता है । यद्यपि होता है उपादानमें, मगर निमित्तनैमित्तिक भावकी जो विधि है उसका अतिक्रमण करके कोई विभाव नहीं बन पाता, तब आत्माको शुद्ध मान लेनेसे फिर कर्मबन्ध नहीं होगा । यदि वहां यह मान लिया जाता कि शुद्ध था आत्मा, फिर भी कर्मबंध हो गया, कर्मबन्धका कारण रागादिकभाव नहीं मिला फिर भी कर्मबन्ध हो गया क्योंकि कर्मकी पर्याय कर्मसे होती है, हो गयी । तो इस तरह यदि अहेतुक कर्मबन्ध हो जाय अर्थात् बिना रागद्वेष रूप परिणामके वह शुद्ध आत्मा भी बंध करने लगे तब फिर यह बतलाओ कि अहेतुक बंध किस तरह छूट सकता है ? जब यह मान लिया जाता कि कर्मबन्ध सहेतुक है अर्थात् आत्मा के रागद्वेषादिक परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है तो ऐसी मान्यतासे बात बन जाती है कि जब रागद्वेषादिक कारण न रहेंगे तो कर्मबन्ध टल जायगा । परन्तु बिना राग-द्वेष निमित्तके जब कर्मबंध मान लिया गया तो कर्मबंध हटने का फिर कोई अवसर न होगा । तब मुक्तिकी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती । यों जीव और कर्मका सम्बन्ध सादि मान लेनेके कारण अनेक दोष आते हैं ।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥३८॥

पुद्गलको अनादिशुद्ध माननेमें ज्ञानकी भांति क्रोधादिके भी स्वाभाविकपना आनेका प्रसङ्ग—जैसे ऊपर यह विचार किया गया था कि जीवको निष्कर्म मान लिया जाता है, शुद्ध मान लेने पर वहाँ कर्मबन्ध नहीं बनता अथवा बने तो फिर कर्मबंध हटनेका अवसर नहीं आ सकता । इसी प्रकार पुद्गलके सम्बन्धमें यह चिन्तन किया जा रहा है कि यदि कोई यह कह दे कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध ही रहता है तो जैसे आत्माको शुद्ध अनादिसे मानने वाले के दोष आता है इसी प्रकार पुद्गलको भी सदा शुद्ध माननेमें यह दोष आता है कि फिर आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध नहीं बन सकता । बिना कारण जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है फिर तो क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुण बन जायेंगे । आत्मामें जो क्रोधादिक होते हैं उनका निमित्त है पुद्गलकर्मका उदय । पुद्गल कर्म रूप अशुद्धपर्याय निमित्त जब न रहा तो क्रोधादिक भाव स्वभाव बन बैठेंगे, और जब अशुद्ध कर्मपर्यायको निमित्त माना जाय क्रोधादिक भाव होनेमें तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव न बनेंगे । औपाधिक भाव हो गए, परन्तु जब पुद्गलको शुद्ध मान लेंगे तो आत्मामें विकारोंका निमित्त कुछ ठहरेगा नहीं । ऐसी हालतमें क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा अर्थात् क्रोधा-दिकका उपादान जैसे आत्मा है ऐसे ही क्रोधादिक का निमित्त भी आत्मा ही रहा । फिर,

तो क्रोधादिकके मिटनेका अवकाश नहीं। वे क्रोधादिक आत्माके स्वभाव बन जायेंगे। तो जैसे जीव अनादिसे अशुद्ध है इसी प्रकार पुद्गल भी अशुद्ध चले आ रहे हैं।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥३९॥

जीव कर्मबन्धके प्रसङ्गमें पुद्गलको अनादि शुद्ध माननेपर बन्धके नित्यत्वका प्रसङ्ग तथा क्रोधादिके अभावमें जीवद्रव्यके भी अभाव होनेका प्रसङ्ग—प्रसङ्गमें यह बात कही जा रही है कि जीव और कर्मका सम्बंध अनादिसे है। अनादिसे सम्बंध है, इसका अर्थ ही यह है कि जीव भी अशुद्ध है अनादिसे और पुद्गल भी अशुद्ध चले आ रहे हैं तो जीवको अशुद्ध न माना जाय, सादि सम्बंध माननेके आग्रहमें जीवको शुद्ध माननेकी हठ की जाय तो क्या दोष आता है, इसका वर्णन तो कर दिया गया। अब सादि सम्बंध माननेके प्रसंगमें पुद्गलको शुद्ध मान लिया जाय तो क्या दोष आता है, उसका संकेत उक्त गाथामें किया है उसका ही विवरण यहाँ कर रहे हैं। यदि पुद्गलको अनादिसे शुद्ध मान लिया जाय और उस पुद्गलकी शुद्ध अवस्था होनेपर भी उसका आत्मासे बंध मान लिया जाय तो यह बंध सदा रहेगा, क्योंकि बंधका कारणभूत तो हुआ अब यह शुद्ध पुद्गल। तो शुद्ध पुद्गल तो जब चाहे रह सकेगा तो जब चाहे तब जीव अशुद्ध रहेगा। जीवमें जो क्रोधादिक भाव होते है वे शुद्ध पुद्गलके निमित्तसे नहीं होते, किन्तु कर्मरूप स्कंध परिणत उन पुद्गलोंके निमित्तसे होते हैं। तो अशुद्ध पुद्गलका निमित्त पाकर क्रोधादिक हुए, शुद्ध पुद्गलका निमित्त पाकर नहीं होते, और यहां मान रहे हैं कि पुद्गल शुद्ध हैं और शुद्ध होनेपर भी जीवके साथ बंध होता है तो ऐसे शुद्ध पुद्गलके निमित्तसे जीवमें क्रोधादिक हो जायें तो जीवमें क्रोधादिक स्वभाव बन जायेंगे, और सदाकाल रहेगे, क्योंकि अब तो क्रोधादिकका हेतु शुद्ध पुद्गल मान लिया है। फिर शुद्ध पुद्गलकी शुद्धताको हटाने वाला कौन है ? किन्तु वह पुद्गलकी शुद्धता स्वाभाविक है, वह सदा रह सकती है, तब शुद्ध पुद्गलके हेतु होनेपर क्रोधादिक मान लिए गए तो सदा क्रोधादिक रहेंगे, क्योंकि हेतु भी सदा है और उपादान भी सदा है। यदि बंध ही नहीं माना जाता तो जैसे ज्ञान आत्माके गुण है उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्माके गुण हैं। यह दोष पहले कहा जा चुका है। क्रोधादिक अगर आत्माके गुण मान लिये जाते हैं तो यह दोष आया कि जिन आत्माओंमें क्रोधादिक नहीं रहे उन आत्माओंका अभाव हो जायगा। एक यह अन्य दोषकी बात कही जा रही है। क्रोधादिक आत्माके गुण हो गए तो ये कभी मिटेंगे नहीं, और कोई यदि ऐसा कह बैठे कि हो जावो क्रोधादिक जीवके गुण हैं तो फिर भी क्रोधादिक मिट जाते हैं, तो गुण मिटे इसका अर्थ है कि गुणी मिटे, स्वभाववान भी मिटे तो फिर आत्माका अभाव ही हो जायगा। जब क्रोधादिकको गुण मान लिया तो गुणका अभाव

माननेपर गुणीका अभाव हो जाना न्यायसंगत बात है । तो जब क्रोधादिक मिट गए तो आत्मा भी मिट जायगा । क्रोधादिक मिट जाते हैं यह बात प्रमाण सिद्ध है । यह भी यहाँ देखा जा रहा कि किसीमें क्रोधादिक कम हैं, किसीमें क्रोधादिक और भी कम हैं, और होते होते ऐसी अवस्था आ जाती कि जहाँ क्रोधादिक नहीं रहते हैं । सिद्धान्तमें बताया है कि १२वें गुणस्थानमें किसी भी प्रकारके कषाय नहीं हैं, तो ऐसा देखा जा रहा है कि क्रोधादिक कहीं नहीं रहते हैं तो न रहें, वहाँ फिर यह मानना होगा कि आत्मा भी न रहा, क्योंकि क्रोधादिकको तो अब आत्माने गुण अथवा स्वभाव मान लिया । यों पुद्गलको अनादिसे शुद्ध माननेपर अनेक दोष आते हैं ।

तत्सिद्धः सिद्धसम्बंधो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥४०॥

जीव और कर्मके बन्धकी अनादिपरम्पराका निर्णय—अब इस गाथामें उक्त समस्त कथनका सारांश कह रहे हैं । उन सब दोषोंका आना न हो, यह यदि इष्ट है तो मानना चाहिए कि जीव और कर्मका सम्बंध अनादि प्रसिद्ध है, क्योंकि जीव और कर्मका सादि संबंध सिद्ध नही हो पा रहा है । पहिले जो शंका समाधान हुए हैं उनमें यह बात स्पष्ट रूपसे कही जा चुकी है कि जीव और कर्ममें सादि सम्बंध माननेपर अन्योन्याश्रय आदिक अनेक दोष आते हैं । फिर दूसरी बात यह है कि सादि सम्बंध माननेका तो कोई दृष्टान्त भी तो नहीं मिलता । जीव और कर्मका सादि सम्बंध युक्त मान लिया जाय तो इसकी सिद्धिमें कोई उदाहरण नहीं है । बल्कि जीव और कर्मका अनादि सम्बंध सिद्ध करनेके लिए अनेक दृष्टान्त हैं । पिता और पुत्रके सम्बंधकी परम्परा अनादिसे है । पिता किसी पितासे हुआ, वह पिता अपने पितासे हुआ । अब कोई पिता क्या ऐसा माना जा सकता है कि जो आकाशसे ही उतरा हो, जिसका कोई जनक न हो ? वहाँ जैसे सादिकी सम्भावना नहीं । बीज वृक्षकी परम्परामें सादिकी सम्भावना नही, कनकपाषाणमें सादिकी सम्भावना नही, इसी प्रकार जीव और कर्मके सम्बंध में सादि सम्बंध सिद्ध नहीं होता ।

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्मकरणम् ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥४१॥

जीवाशुद्धिके व कर्मबन्धके कारणका निर्देश—इस ग्रंथराजके पहिले अध्यायमें द्रव्य का सामान्य रूपसे स्वरूप बताया गया । जिस स्वरूपका वस्तुमात्रसे सम्बंध था और उसके परिज्ञानकी विधियाँ भी सामान्यतया कही जिन पद्धतियोंसे सभी वस्तुओंका परिज्ञान होता है । अब इस द्वितीय अध्यायमें प्रारम्भमें दो विभाग किए गए—जीव और अजीव । उनमेंसे जीवद्रव्यका वर्णन किया जा रहा है । हम जीव हैं, हमारी क्या स्थिति है, हमारी क्या शक्ति

है, हम कहाँ पड़े हैं, हमको क्या होना चाहिए ? ये सब बातें स्पष्ट हों, इस कारणसे विधि-पूर्वक जीवकी पहिली दशाका वर्णन किया जा रहा है। जीव इस समय अशुद्ध स्थितिमें है। जीवका सत्य स्वरूप क्या है, यह बात प्रथम अध्यायमें भी बता दी गई है, पर वर्तमानमें पर्याय कैसी हो रही है, इसका विवरण इस प्रसंगमें चल रहा है। जीव और कर्मका अनादि कालसे सम्बंध है और उस सम्बंधमें परस्पर एक दूसरेका कारण है। जीवके रागादिक भाव कर्मबंधके कारण हैं। कर्मबंध कर्मोदय जीवके रागभावका कारण है और यह परम्परा अनादि से चली आयी है। यदि अनादि परम्परा नहीं मानी जाती अर्थात् जीव और कर्मका सम्बंध सादि मान लिया जाता है तो सादि माननेका अर्थ यह है कि पहिले जीव शुद्ध था तो शुद्ध जीवमें कर्म कैसे आ जायें ? और शुद्ध जीवमें भी कर्म आ सकते हैं तो तपश्चरण आदिक करके कभी यह जीव मुक्त भी हो जाय तो भी कर्म आ जाने चाहिएँ। इसी प्रकार शुद्ध पुद्गल जीवके कैसे बंध सकेगा ? अथवा शुद्ध पुद्गल जीवके रागका कारण कैसे बन जायगा ? यदि शुद्ध पुद्गल जीवके रागका कारण बन जाय तब तो मुक्तात्माके भी कभी राग हो बैठेगा, इस कारण जीव और कर्मका सम्बंध अनादि मानना ही युक्त है। अब बताया गया था कि कर्मबंध होता है जीवकी अशुद्धताका निमित्त पाकर। इस गाथामें यह बता रहे हैं कि उस जीवकी अशुद्धताका कारण क्या है ? जीवके जो अशुद्ध रागादिक भाव होते हैं उसका कारण है कर्म। और कर्म जो कर्मरूप बन गया है उसका कारण है रागादिक भाव। मानो इसमें परस्पर प्रत्युपकार हो रहा है।

जीवाशुद्धत्व व कर्मबन्धमें परस्पर प्रत्युपकारका चित्रण—जीवके रागादिक भाव कर्मका कुल बढ़ानेमें कारण बन गए हैं और कर्मोका उदय जीवके रागादिक भावोंको आबाद बनाये रहनेके कारण बन रहे हैं। तो इसके मायने परस्पर प्रत्युपकार है। यहाँ यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि ऐसा प्रत्युपकार किस कामका कि जिसमें जीव भी बरबाद हो रहे और कर्म पुद्गल भी बरबाद हो रहे ? पुद्गल भी सर्वथा एक अवस्थामें नहीं रह सकते, वे भी नाना प्रकारकी स्थितियोंमें आयेंगे, यह प्रत्युपकार कैसे ? तो सुनो—यहाँ व्यवहारमें भी जो परस्परमें लोग प्रत्युपकार करते हैं वह भी तो ऐसा ही है। एकने दूसरेको किसी विषयका सेवन करा दिया, एकने दूसरेको धन दिला दिया, एकने दूसरेकी मदद कर दिया, यह जो परस्परमें लोग प्रत्युपकार करते हैं वह प्रत्युपकार भी बेढंगा है, ऐसे उपकारी जीव कहाँ हैं कि जो जीवके शुद्ध रत्नत्रयमें स्थित करानेके कारणभूत बनते हों अथवा बनें तो वहाँ उपकार ही नहीं मानते। प्रत्येक जीवमें अपनी-अपनी योग्यतासे अपने-अपने भाव प्रकट होते हैं, वे ज्ञानी संत जरा भी उपकार नहीं मानते कि मैंने दूसरेका उपकार किया, क्योंकि उनकी यह श्रद्धा है कि कोई पपार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणति नहीं करता। खैर, यहां प्रसंग

यह चल रहा है कि जीव और कर्म इनमें परस्पर प्रत्युपकारकी तरह निमित्तनैमित्तिक भाव का सम्बंध है और यह सम्बंध अनादिसे चला आ रहा है। जैसे पुत्र किसी पितासे हुआ, वह पिता किसी अन्य पितासे हुआ, वह भी किसी अन्य पितासे हुआ, इस तरहसे प्रत्येक पूर्व पितासे होते आये हैं। वहां क्या यह कल्पना उठाई जा सकती है कि कोई पुरुष ऐसा होगा जो अपने पितासे न हुआ हो, यों ही आसमानसे टपक गया हो ? ऐसा तो नहीं होता। यहां जन्म जनकका सम्बंध होनेपर भी जैसे ऐसा विदित हो रहा कि यह तो सादि सम्बंध है, फिर भी उसकी परम्परा अनादि है। यद्यपि जीव और कर्मका सम्बंध अनादि नहीं है, सादि ही होता है, किसी कर्मका बंध किया तो उस कालसे ही तो बंध हुआ। जीवमें कोई रागादिक भाव हुए तो उस ही कालमें तो हुए, पहिले नहीं हुए, तो जीव और कर्मका सम्बंध सादि है, मगर सम्बंध ऐसे होते चले आये हैं ऐसी परम्परा अनादि है और उस अनादि परम्परासे यह जीव विभाव और कर्मबंध ये परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे कार्य कारण भाव बनते चले आये हैं।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥४२॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणो।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥४३॥

जीवकी अशुद्धताका विवरण—उक्त श्लोकमें जो परस्पर प्रत्युपकारकी बात कही गई है जीव और कर्मके सम्बन्धमें, उसीका स्पष्टीकरण यहाँ दो श्लोकोंमें किया गया है। पहिले बाँधे हुए जो कर्म हैं उनके उदयसे रागादिक भाव होते हैं और रागादिक भावके होने से नवीन कर्मोंका संचय होता है, फिर जब इन बँधे हुए नवीन कर्मोंका उदय होगा तो जीव में रागादिक भाव होंगे और उन जीवोंके रागादिक भावोंसे फिर कर्मोंका बंध होगा। इस तरह संतानकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। वर्तमानमें जो जीवमें विकार हो रहे हैं उसका कारण है पूर्वबद्ध कर्मका उदय। पूर्वमें जो ये कर्म बँधे हैं उसका कारण है पूर्वमें हुए रागादिक विभाव। उन रागादिक विभावोंका कारण है पूर्वबद्ध कर्मका उदय। इस तरहसे प्रत्येकके कारण इस तरहसे होते आये हैं। अब वहाँ कोई क्या यह सम्भावना कर सकता कि सबसे पहिले क्या था ? क्या जीवमें रागादिक भाव थे जिससे कर्म बंधे, फिर रागादिक भाव हुए और यह परम्परा बनी ? अथवा सबसे पहिले कर्मबन्ध था जिसके उदय में रागादिक भाव हुए और कर्मबन्ध हुआ, यह परम्परा बनी। कुछ भी बात कही नहीं जा सकती कि सबसे पहिले क्या था ? जीवकी अशुद्धता थी या कर्मका बंध था। इसकी यों अनादि परम्परा चली आयी है। इस तरह जीव और कर्मका सम्बंध अनादि है और यही

संसार है, जीव और कर्मका बंधन है, और उस प्रसंगमे जीवके विकल्पभाव हो रहे हैं, बस यही तो संसार है।

संसारसंकट और रत्नत्रय बिना संसारसंकटसे निवृत्तिकी असंभवता—हम आपपर यदि कोई विपत्ति है तो यही है कि विकल्प उत्पन्न होते है जिन विकल्पोंके कारण हम अपने स्वरूपकी दृष्टि नहीं रख पाते। स्वरूपकी दृष्टि रहे तो यही आनंदका धाम है। यहाँ ही आनद उमड़ता है और उस आनंदसे ही तृप्त होनेका नाम वास्तविक तृप्ति है। यही जीवका साथी है, शरण है, यही मात्र सारभूत है, उसकी सुध तो नहीं रह पाती। होता क्या है? अनेक प्रकारके विकल्पजाल यही हम आपपर संकट हैं। हम आपको इस मनुष्यभवमें आकर यही संकट मिटानेका उपाय बनाना है। यही संसार है और यह संसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रभाव आये बिना दूर नही हो सकता। जीवका जो यह मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्रका परिणमन है बस यही संसार है और उसका प्रतिपक्षी है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। एक बारमें भाव एक किस्मका होगा या तो मिथ्यादर्शन ज्ञान आचरण वाला होगा या सम्यग्दर्शन, ज्ञान आचरण वाला होगा। इस जीवमें मिथ्यात्व वाला भाव अनादि परम्परासे चला आया है। किसी समय इसका विनाश भी हुआ, विनाश न कहो किन्तु उपशम अथवा क्षयोपशम हुआ तो कारणवश फिर यह मिथ्यात्व भाव उखड़ पड़ा, तो मिथ्यात्व भावका क्षय अब तक नहीं हो पाया। उसका क्षय होनेके बाद अर्थात् मिथ्यात्व भाव जिस कर्म प्रकृतिके उदयका साथ पाकर होता है वे कर्म प्रकृतियाँ नष्ट हो जायें तो फिर कभी मिथ्यात्वभाव बन नहीं सकता। हम आपका उपकारी भाव तो यह रत्नत्रय भाव है। यह रत्नत्रय भाव बने और इस अनादिसे विमुक्त किन्तु निजमें प्रकाशमान इस भगवान आत्माके साक्षात् दर्शन हुआ करें, इससे बढ़कर इस आत्माकी विभूति और कुछ नहीं है। जो लोग पुण्योदयमें पायी हुई बाह्यविभूतिमें अटक गए है, वहाँ ही जिनके विकल्प बने हुए हैं, उस ही वैभवसे जो अपनेको सुखी समझ रहे हैं उनपर तो बड़ा अंधकार है, वे निरन्तर आकुलित हैं, उन्हें तृप्त होनेका मार्ग ही नहीं मिल पा रहा है। वे तो बरबादीके ही साधन हैं। विभूति तो आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है उस ज्ञानमात्र भावका अनुभवन होना यही वास्तविक विभूति है और इस ही ज्ञानानुभुतिमें सम्यक्त्व रहता है। यह ज्ञानानुभूति बनी रहे इसीका नाम है चारित्र। तो यों दर्शन, ज्ञान, चारित्र हुए बिना इस जीवके ये संसारभाव दुर्मोच्च ही हो रहे हैं।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥४४॥

जीव और कर्ममें गाढ़ बन्धनका निर्देशन—अब इस गाथामें यह बता रहे हैं कि जीव

का और कर्म प्रदेशका जो बंध है उस सम्बंधमात्र वाला बंध नही है। जैसे कि चौकी और पुस्तकका केवल संयोग है, इस तरहसे जीव और कर्मका केवल संयोग हो ऐसा संयोग (बंध) नही है किन्तु इस प्रकारका बंध है कि जिससे जीव भी अशुद्ध बन जाता है, कर्म भी अशुद्ध बन जाते है। आत्मा और कर्मका बंध केवल संयोग मात्र जैसा नही है किन्तु वह अशुद्ध जीव के आधारसे है। उन दोनोंमें बंधकी सापेक्षता है। जैसे कि दो सूखी ईंटोंका संयोग हो जाय वह भी एक सम्बंध है और सीमेन्ट लगाकर उन ईंटोंका सम्बंध कर दिया जाय वह भी एक सम्बंध है। इन दोनों सम्बंधोंमें अन्तर है। सीमेन्ट चूने वाले सम्बंधसे अब वे ईंटें अलग नही हो रही हैं जब कि दो यों ही मिली हुई ईंटें जो ईंटें है उनमें कोई बन्धन नही है। तो जीव और कर्मका जो सम्बंध हुआ है वह बंधन वाला सम्बंध है। केवल संयोगके पास आया हो इतना मात्र बन्धन नही है। जीव और कर्मका बन्धन किस प्रकारका है, इसकी सही पद्धति बताने वाला कोई दृष्टान्त ही नही है, फिर भी मोटे दृष्टान्तसे कुछ बन्धन जैसी बात समझा दी जाती है। दूध और जलका परस्पर सम्बंध जब हो जाता है तो वहाँ वर्तनमें ऐसा विभाग नहीं रह पाता कि देखो इस गिलासमें इतने हिस्सेमें दूध है और इतने हिस्सेमें जल है। किन्तु दूध और पानी परस्पर ऐसा घुल-मिल जाते है कि वे उस समय दूर नही किये जा सकते। भले ही दसे पाकर प्रयोग द्वारा पानीको उड़ा दिया जाय, लेकिन जब तक दूध और पानीका सम्बंध है तब तक वे एक दूसरेसे हटे हुए नही है। कोई पुरुष उस दूध और पानी मिले हुए दूधको पिये तो उसका स्वाद भी अलग नही मालूम होता। तो जैसे जल और दूधका सम्बंध है इस तरहसे ही समझ लीजिए कि जीव और कर्मका सम्बंध है। जीव और कर्मका सम्बंध होता है तो वहाँ देखो एकक्षेत्रावगाह रूप हो जाते है। जीवके प्रत्येक प्रदेशमें कर्म समाये हुए है, ऐसा नही है कि जीवके कुछ प्रदेश कर्मसे रिक्त हों। उनमें कर्मबन्धन है तो एकक्षेत्रावगाह बन्धन है। कर्मबन्धनमें और जीवके अशुद्ध भावमें परस्परापेक्षा है। जीवके अशुद्ध भावके कारण कर्मबन्ध हो रहा है। कर्मोदयके कारण जीवमें विभाव हो रहे, इस प्रकारका घनिष्ट सम्बंध जीव और कर्ममें हो रहा है।

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥४५॥

बन्धके कारणभूत विभाव शक्तिका निर्देश—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि जीव और कर्मके इस प्रकार बंध होनेका मूल कारण क्या बना? इस प्रसंगमें जीव और कर्म के बन्धनकी बात कही जा रही है। इस समय जीव और कर्ममें एकक्षेत्रावगाह बन्धन है, एक दूसरेके पराधीन है, जीवकी अशुद्ध अवस्था भी होती है यही संसार है, यही दुःखका हेतु है। पर्यायदृष्टिमें आत्मस्थिति ऐसी हो रही है। भले ही द्रव्यदृष्टि जब इस ओर करते हैं तो

उपयोग ही नहीं जा रहा है, वहाँ जीवके सहज शुद्ध स्वरूपको निरखा जा रहा है। इस जीवके उस सहज सत्वके स्वरूपमें किसी निमित्त किसी नैमित्तिक भाव या एक क्षेत्रावगाह बंध इन सबकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं है। यह द्रव्यदृष्टिके विलासके प्रसंगकी बात यहाँ कही जा रही है। वर्तमान पर्यायमें इस जीवपर गुजर क्या रहा है उसका विवरण किया जा रहा है। जीवकी अशुद्ध अवस्थाका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्म कर्मरूप बँध गए और इन कर्मोंके विपाकका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक भाव हो रहे हैं ऐसा होनेका मूल कारण क्या है वह बताया जा रहा है कि जीव और पुद्गलकी वैभावकी निमित्त शक्ति है जो बंधकी अधिकारिणी बन रही है। जैसे चुम्बक पत्थरमें सूई या छोटे लोहेको खींचनेकी शक्ति है और सूई आदिक छोटे लोहमें खिच जानेकी शक्ति है। यह चुम्बकशक्तिके अंशोंकी बात है कि वह विशाल लोहपिण्डको न खींच सके, मगर खीचनेकी शक्ति तब भी कहलाती है तो जैसे चुम्बकमें खींचनेकी शक्ति है और लोहेमें खिच जानेकी शक्ति है तो शक्ति है ना, तो चुम्बककी भाँति जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाव नामकी एक शक्ति है जिससे दोनोंमें परस्पर बंध हो जाता है। यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावसे सोचा जाय तो ऐसा देखा जाता है कि चुम्बकका सन्निधान पाकर लोह चुम्बकके पास जाता है, इसीको कहते हैं कि चुम्बकमें खींचनेकी शक्ति है और लोहेमें खिच जानेकी शक्ति है। कार्य देख करके शक्तिका अनुमान किया जाता है। चुम्बकके आगे चौकी तो नहीं खिच जाती। उससे यह कहा जायगा कि चुम्बकका सन्निधान पाकर लोहेमें खिच जानेकी शक्ति है, तो इससे यह सिद्ध है कि चुम्बकमें उस प्रकारकी विशेषता है, ऐसे ही द्रव्योंमें से केवल जीव और पुद्गल विभावरूप परिणमते हैं, धर्मादिक चार द्रव्य नहीं। उससे सिद्ध है कि जीव और पुद्गलमें कोई वैभावकी शक्ति है जो बन्धकी अधिकारिणी बन रही है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥४६॥

बन्धकी त्रिविधता—बंध ३ प्रकारका होता है—भावबंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। इनमें से भावबंध और द्रव्यबंध ये तो अलग-अलग एक-एक हैं, किन्तु उभयबंध बंधज है याने जीव और पुद्गलके होने वाले मेलसे होता है। बन्धकी व्याख्या है—दो पदार्थोंमें एकत्व बुद्धि होनेका जो कारण हो ऐसा जो बन्ध विशेष है उसका नाम बन्ध है। बन्ध शब्द ही यह बात ध्वनित करता है कि दो चीजोंका एकमेक हो गया है इसीको ही बन्ध कहते हैं। जीव और पुद्गल इन दो का मेल हुआ है। दोनोंका मेल हुआ है उभयबन्ध बन गया किन्तु भावबन्धमें किन दो का मेल हुआ है और मेल विना बन्ध होता नहीं। द्रव्य बन्धमें किन दो का मेल है? साथ ही यह भी बात समझनी है कि भावबन्धमें किसी दूसरेका मेल

न बताना। अगर दूसरे पदार्थका मेल बताया तो उभय बन्ध बन जायगा। इसी तरह द्रव्यबन्धमें भी किसी दूसरे पदार्थका मेल न बताना अन्यथा वह भी उभय बन जायगा। यहाँ तीन दृष्टियाँ हैं। भाव बन्धमें भी दो का मेल है मगर किसी दूसरे द्रव्यका नहीं। द्रव्यबन्धमें भी मेल दो का है पर किसी अन्यका नहीं। उभयवन्धमें अवश्य विजातीय दो द्रव्योंका मेल है—जीव और पुद्गल। अब इस दृष्टिसे सोचें कि भावबन्धमें भी दो तत्त्व हैं—जिनका मेल हुआ है। अब यहाँ यह समझना होगा कि भावबन्ध कहलाता है आत्मामें रागादिके भावोंका आना। तो यहाँ आत्माका स्वरूप समझना होगा। जो ही आत्मा है सो विभाव नहीं है और जो ही विभाव है सो आत्मा नहीं है। आत्मा शाश्वत है, अपनी शुद्ध अनन्त शक्तियोंका पिण्ड है और विभाव रागादिक ये औपाधिक हैं, किसी समय आये हैं, उपाधिके दूर हो जानेपर ये भी दूर हो जायेंगे। अब उस आत्मामें जो आत्मा शाश्वत है, अपनी अनंत शक्तियोंका स्वरूप है उसमें यह विभावकी झलक है तो विभावोंका यहाँ बन्धन हो गया है। जो शुद्ध अनन्तशक्त्यात्मक आत्मा है उसमें विभावोंका जो यह बन्धन वन बैठा है उस ही का नाम भावबंध है, इसी तरह द्रव्यबंधमें भी जो परमाणु परमाणु करके अनेक अनेक पदार्थ हैं उनकी कर्मरूप पर्याय होते हुए जो मेल बना वह द्रव्य बंध है। उस द्रव्य बंधमें परस्पर कार्माणस्कंधोंका वन्धन है, यह द्रव्यबंध हुआ और उभयबंध तो स्पष्ट ही विजातीय दो पदार्थों का बंध कहा गया है।

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥४७॥

भावबन्ध और द्रव्यबन्धका स्वरूप—अब यहाँ भावबंध और द्रव्यबंधका स्वरूप बताया जा रहा है। भावबंध तो रागात्मक परिणाम है, जीवका जो रागादिमान परिणाम है उसे भावबंध कहते हैं अर्थात् आत्मामें विभावोंका बंधन हो रहा है। आत्मा विभावोंसे जकड़ा हुआ है। बंधमें यह बात तो देखी जाती है कि परतंत्रता हो गयी। बंधन परतंत्रताको सिद्ध करने वाला है। भावबंधमें क्या हुआ? आत्मा विभावोंसे परतंत्र हो गया, आत्मा पराधीन हो गया, रागद्वेष विकल्पादिकके वशमें यह भगवान आत्मा पड़ा हुआ है, इससे विकट बंध और क्या हो सकता है? स्वभावमय आत्मामें स्वभावका विकास न रहकर विभावका बंधन बन गया है। यही जीवका भावबंधन कहलाता है। द्रव्यबंध पौद्गलिक पिण्डका बंध है। उसमें जो बंधनेकी शक्ति है उस शक्तिका यहाँ व्यञ्जन हुआ है, वह द्रव्यबंध कहलाता है। यों भावबंध स्वतंत्र है अर्थात् विजातीय दो द्रव्योंका मेल यहाँ नहीं निरखा गया है। द्रव्यबंध भी स्वतंत्र है अर्थात् यहाँ विजातीय दो द्रव्योंका मेल नहीं निरखा गया है। इस तरह भावबंध और द्रव्यबंधका स्वरूप कहकर उभयबंधका स्वरूप कहते हैं।

इतरेतर बन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ।।४८।।

उभयबन्धका स्वरूप—जीवका और पुद्गलकर्मका परस्परमें जो बंधन है उसे उभय-बंध कहते हैं । भावबंधके निमित्तसे पुद्गलकर्म और जीवके प्रदेशका जो परस्परमें बंधबंधक भाव हो गया है, एक क्षेत्रावगाह एक रूपसे अथवा बंधनरूपसे जो मिलान हुआ है उसको बंधन कहते हैं । आत्मप्रदेश तो जीवद्रव्यकी चीज हुई और कार्माण वर्गणायें पौद्गलिक चीज हुईं । इन दोनोंमें बंध हुआ है वह एक क्षेत्रावगाहमात्र नहीं । तो विश्रसोपचय साथ भी है । विश्रसोपचयके साथ जीवका बंध नहीं माना गया है । पुद्गल कर्म अपने शुद्ध स्वरूपको छोड़ दे और कर्मरूपमें आ जाय और जीव अपने शुद्धस्वरूपको छोड़ दे और एक मूर्तरूपके ढंगमें आ जाय, यह जीव और कर्मका परस्परमें बंध है । यहाँ बंधक तो है जीव और बंध है पुद्गल कर्म अर्थात् पुद्गलकर्म तो बंधने योग्य चीज है और जीवभाव उसके बाँधने वाला है, इस तरह परस्परमें बंधबंधक भाव हो जानेका नाम उभय बंध है । उभय बंधमें निमित्तनैमित्तिक भावकी पद्धति आनेकी मुख्यता है । वैसे तो जीव अमूर्त है, पुद्गलकर्म मूर्त है । तो अमूर्त जीवमें पुद्गल पुद्गलमूर्तका बंधन कैसा ? यह शंका स्वयं अभी आगेकी जायगी । यहाँ इसमें केवल यह जानना कि एक तो जीव संसार अवस्थामें मूर्त बन रहा है, उपचारसे मूर्त सही किन्तु उपचारपनेका शुद्ध प्रकटपना नहीं है अतएव ऐसे मूर्त आत्माको मूर्त पुद्गलका बन्ध हो गया फिर भी वास्तवमें जीव मूर्त नहीं हुआ, अमूर्त ही है तो उसके साथ पुद्गलकर्मका जो बंध है वह एक निमित्तनैमित्तिक भावकी विशेषता आनेरूप बंध है । अब यहाँ जीव पुद्गल एकत्र इस तरह हो गए कि जब पुद्गलकर्मका उदय आयगा तो जीवमें जो रागादिक भाव होते हैं तो पुद्गलकर्मका बन्ध होता है, ऐसा जो परस्परका निमित्तनैमित्तिकपना है जो कि अनिवार्य है ऐसी विशेषता आनेका नाम बंध है ।

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ।।४९।।

जीव और कर्मकी स्वतःसिद्धता—जीव और कर्म इनकी सत्ता कोई स्वीकार नहीं करता है । ऐसा जिज्ञासु मनमें यह शंका रख सकता है कि जीव भी कुछ नहीं है, कर्म भी कुछ नहीं है, फिर उनका बंध बताना और उनकी चर्चा करना व्यर्थ है । ऐसा जीव और कर्म के अस्तित्वके विषयमें जिसे संदेह है ऐसे जिज्ञासुके संदेहको मेटनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जीव और कर्मका अस्तित्व खतम नहीं है । जीव भी स्वतःसिद्ध है और कर्म भी स्वतः सिद्ध है और इस बातको युक्तियोंसे भी समझा जा सकता है ऐसी युक्तियोंसे कि जो स्वानु-भवमें उतरी हुई है । और जब सुसम्वेदन प्रत्यक्षमें जीवका अस्तित्व समझा गया, जैसे

समझा गया वैसे ही जब पर्यायमें नहीं समझा तो उससे यह भी समझा जा सकता है कि इसके साथ कोई विजातीय पदार्थ लगा हुआ है। इस तरह जीव और कर्मकी सत्ता असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतःसिद्ध है।

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥५०॥

जीवकी सत्ताकी प्रसिद्धि—जीवकी सत्ता स्वयं सिद्ध है, कर्मकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। इसकी सिद्धि इस गाथामें की जा रही है। जीवमें जो अहं प्रत्यय बन रहा है। मैं हूं, मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, कर्ता हूं, भोक्ता हूं आदिक अनेक पद्धतियोंमें अहंका जो प्रत्यय हो रहा है, 'मैं' का ज्ञान हो रहा है उस अहं प्रत्ययके द्वारा यह जीवका अस्तित्व सिद्ध है। 'मैं' जिसके लिए कहा जा रहा हो वही तो जीव है। कदाचित कोई यह कहे कि मै कुछ भी नहीं हूं तो मैं को तो उसने पहिले ही कहा है जिसका कि निषेध करते है। उस 'मैं' का निषेध कैसे किया जा सकता है? कोई कहे कि मैं जीव नहीं हूं। मेरे जीवका अस्तित्त्व ही नहीं है तो उसीसे पूछो कि कौन कहता है कि जीवका अस्तित्त्व नहीं है? तो वह कहेगा कि मैं कहता हूं। अरे जिस 'मै' का निषेध कर रहे थे वही 'मैं' सिद्ध तो हो गया। जिसे 'मैं' कह रहा वह कोई चीज तो है। इस शरीरके अन्दर कोई जीव है और वह एक अन्वय रूपसे शरीरमें रह रहा है। जीवका अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है। यदि कोई भौतिकवादी यह कहे कि जीव कोई अलग वस्तु नहीं है किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतोंका जहाँ सम्बन्ध हुआ है तो उससे जीव उत्पन्न हुआ है। तो यों चार महाभूतके मेलसे जीव नहीं बन सकता, क्योंकि महाभूतमें जीवत्वस्वभाव नही पड़ा हुआ है, उनमें चेतना नही पड़ी हुई है तो उनका कितना ही मेल हो जाय उसमें चेतनात्मक तत्त्वकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि उन चार महाभूतोंमें नहीं है चैतन्य, फिर भी उनके मेलसे जीवत्व बन जायगा तब तो बड़ी विडम्बना बन जायगी। जिस समय कोई मिट्टीकी हंडीमें कढ़ी पका रहे हो तो वहाँ हंडी मिट्टी की है, अथवा कोई ताँबा, पीतल आदि धातुकी हो तो वह भी पृथ्वी ही तो है। तो पृथ्वी वहाँ है ही, जल भी वहाँ पड़ा हुआ है। गर्मी भी वहाँ इतनी अधिक है कि वह सब जल खौल रहा है और वायु इतनी तेज है कि उस हंडीके ऊपर अगर ढक्कन धरा हो तो वह भी उछलकर बाहर गिर जाता है। तो पृथ्वी, जल, अग्नि वायु—इन चार महाभूतोंका संयोग है तब तो वहाँ बाघ, शेर, चीता, हाथी आदि निकल पड़ना चाहिए, क्योंकि चार भूतोंके संयोयमें जीवका उत्पन्न होना बता रहे। तो जिनके जीवत्व नही है उनका कितना भी मेल बन जाय उस मेलसे भी चैतन्यस्वरूप जीवकी उत्पत्ति नही हो सकती है। जीव है यह बात अहं प्रत्यय द्वारा वेद्य है। मै हूं, इस प्रकारका जो मैं

जिसके लिए कहा गया वही जीव है ।

कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि—अब कर्मकी सत्ताके विषयमें देखिये—इस जगतमें लोग नाना प्रकारके दिख रहे हैं, कोई कम ज्ञानी, कोई अधिक ज्ञानी, कोई दरिद्र, कोई श्रीमान, किसीकी टूटी फूटी झोंपड़ी है, किसीके महल हैं, कोई यहाँ मौज मान रहा है, कोई दुःखी हो रहा है । तो ऐसी जो विषमतायें हैं ये जिसके हो रही हैं उस ही पदार्थके स्वभावसे नहीं बन सकतीं । किसी भी पदार्थका स्वभाव विषमताके लिए नहीं हुआ करता । प्रत्येक पदार्थका स्वभाव समताके लिए, एकरूपताके लिए हुआ करता है । यदि किसी जगह विषमता हुई हो, ऊँच नीचकी स्थिति बनी हो वहाँ समझना चाहिए कि कोई विजातीय पदार्थका मेल है तब वहाँ विषमता हुई है । तो यहाँ कोई श्रीमान, कोई दरिद्र जो दिख रहा है वह सिद्ध करता है कि कर्मकी सत्ता है । यदि ऐसे कर्म उदित न होते तो कोई श्रीमान हो, कोई दरिद्र हो, इस तरहकी वहाँ विषमतायें नही होतीं ।

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादि भावानामन्यथानुपपत्तितः ॥५१॥

जीव और कर्मके संयोगकी सिद्धि—उक्त गाथामें जीव और कर्मका अस्तित्व सिद्ध किया गया है । इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि जिस प्रकार जीवका और कर्मका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म इन दोनोंका सम्बंध भी स्वतःसिद्ध है । यहाँ स्वतः-सिद्धका अर्थ यह है कि जीव और कर्मका मेल अनादिकालसे चला आ रहा है । द्रव्यमें किसी भी कारणसे यह सम्बन्ध बना हो, किसीने बना दिया हो ऐसी बात नहीं, क्योंकि इनका द्रव्य ही कुछ नहीं है । यह अनादि परम्परासे सम्बंध चला आ रहा है । दूसरा तथ्य यह है कि जीव और कर्मका सम्बंध बताना कि किसी ईश्वर आदिकने जीव और कर्मका मेल नहीं कराया है । जैसे कि लौकिक जन समझते हैं कि कोई एक ईश्वर है, वही जीवमें तकदीर बनाता है । तकदीर लिखनेमें तकदीरका योग जुड़ता है सो ऐसा नहीं है कि किसी ईश्वरने या अन्य पुरुषने किसी जीवके कर्मका योग जोड़ा हो वह जीव और कर्मका सम्बंध स्वतःसिद्ध है । तीसरा तथ्य यह है कि जब जीव और कर्ममें ऐसे निमित्तनैमित्तिक भावकी स्थिति होती है तब जीव रागद्वेषादिक विभावोंरूप परिणाम रहा है उसका निमित्त पाकर यहाँ कर्मोंमें बन्धन स्वतः हुआ है, जीवने भी नहीं किया है, किन्तु इस जीवके विभावका निमित्त पाकर उन पुद्-गल कर्मोंमें बन्ध पर्याय उत्पन्न हुई है ऐसा तथ्य बतानेके लिए इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि जैसे जीव और कर्मकी सत्ता स्वतःसिद्ध है इसी प्रकार जीव और कर्मका संयोग भी, सम्बन्ध भी स्वतःसिद्ध है । यदि जीव और कर्मका सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय तो कर्तृत्व-भाव और भोक्तृत्वभाव नहीं बन सकता है । जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष भी देख रहे

है, अतएव जीव और कर्मके संबंधमें किसी प्रकारकी शंका न रहनी चाहिए। यदि इस जीव-कर्मका सम्बन्ध न होता तो यह सिद्ध नहीं हो सकता था कि जीव कर्म करने वाला है और अपने-अपने कर्मके अनुसार, कर्तव्यके अनुसार जीव कर्मके फलको भोगता है। कोई किसी प्रकार समझे, पर इतना उसे कहना ही पड़ेगा कि जीव अपने कर्तव्योंके अनुसार फल भोगता है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ईश्वरने जीवको किया और ईश्वर जीवको फल दिलाता है, वहाँ जब यह शंका की जाती है कि ईश्वर सर्व जीवोंको फल देता है तो सबको समान फल क्यों नहीं देता, चाहका फल क्यों नहीं देता? बुरा फल क्यों देता है, दुर्गतिमें क्यों ढकेलता है? यदि ईश्वर दयालु है तब तो उसे सभीको समान फल देना चाहिये। तो वहाँ लोगोंको उत्तर देना पड़ता है कि जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार ईश्वर फल देता है। यहाँ इतना तो स्वीकार करना पड़ा कि जीवको जो फल मिलता है उसके कर्तव्यके अनुसार मिलता है। वह कर्तव्य क्या है? कर्म है और उस कर्ममें जो एक विशिष्ट पुद्गल कार्माण बन्ध हुआ है वह कर्म है। तो जीवका सम्बन्ध स्वत:सिद्ध है, कर्मका अस्तित्व स्वत:सिद्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी स्वत:सिद्ध है।

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्वयणुकादिवत्।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥५२॥

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्धन होनेकी असंभवताकी आशङ्का—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि मूर्तिमान पदार्थके साथ मूर्त पदार्थका बन्ध वह तो न्यायकी बात है और ऐसा होता है जैसे कि परमाणु परमाणुका परस्पर बन्ध हो जाता है, स्कंधोंमें भी परमाणुका, द्रव्यस्कंधका बन्ध हो जाता है, क्योंकि वे दोनों मूर्तिक हैं। तो मूर्तका मूर्तके साथ बन्ध होना तो उचित है लेकिन आत्मा अमूर्त है और पुद्गल कर्म मूर्तिक हैं, तो मूर्त पुद्गलके साथ आत्माका बन्धन कैसे? अमूर्तके साथ मूर्तका बन्ध नहीं हो सकता है। फिर यहाँ यह बात बड़े बल प्रयोगके साथ जो कही गई है कि जीव और कर्मका बन्ध अनादिकाल से है यह बात संगत नहीं बैठती है। एक तो बन्ध ही सम्भव नहीं है। जैसे कि धर्मादिक द्रव्य हैं, अमूर्त हैं, उसके साथ किसको बन्ध हो सकता है? आकाशमें सभी पदार्थ रह सकते हैं, मूर्तिक पदार्थ भी रह रहे हैं, पर आकाशके साथ किसीका बन्ध तो नहीं होता। उसी तरह आकाश आदिककी तरह आत्मा भी अमूर्त है, फिर अमूर्तके साथ मूर्त कर्मका बन्ध किस तरह होगा, ऐसा शंकाकारने अपना आशय रखा है। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

नैवं यतः स्वत:सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥५३॥

उक्त शंकाके समाधानमें अशुद्धताका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्ध होनेके स्वभावका

निर्देशन—शंकाकारने उक्त श्लोकमें यह शंका की है कि अमूर्त आत्माके साथ मूर्त कर्मका बन्ध नहीं हो सकता, सो ऐसी शंका संगत नहीं है, 'क्योंकि जीव और कर्मका बन्ध अनादिसे चल रहा है। यह एक स्वभाव हो गया है, और स्वभावमें कभी कोई तर्क या प्रश्न नही किया जा सकता है। स्वभावकी बात यहाँ किसी एक द्रव्यके लिए नही कही गई है। जीव-द्रव्यका बन्धनेका स्वभाव हो गया, यह बात नहीं कही जा रही किन्तु कही यहाँ पर्यायगत बात है। जीव अनादिकालसे अशुद्ध है, शुद्ध नहीं होता तो आज भी शुद्ध न हो सकता था। तो उस अशुद्ध आत्माका ऐसा स्वभाव है। तो अशुद्ध पर्यायके स्वभावकी बात कही जा रही है। अथवा जो कुछ घटनायें बन रही हैं ये घटनायें स्वभावरूप हो गयी हैं, अर्थात् ऐसी स्थितिमें कि जीव जब अशुद्ध हुआ तो वहाँ कर्मबन्ध हो ही गया, ऐसा स्वभाव है और जो स्वभाव है वह तर्कके गोचर नहीं होता। उसमें प्रश्न नही उठाया जा सकता है? जीव और कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है, यह बात बड़े विस्तारपूर्वक बतायी गई है। अशुद्ध जीवात्मा का स्वभाव ही ऐसा है और कार्माण स्कंधोंका विस्रसोपचयमें रह रहे उन कार्माण कर्मोंका भी स्वभाव ही ऐसा है कि जब जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाये तो कर्म कर्मरूप बन्ध जायें, और जब कर्मका विपाक आये तो जीवको कषायरूप बर्तना पड़ता है। ऐसा यहाँ पार-तंत्र्य है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, इस कारणसे ऐसा बन्ध चल रहा है और इस स्थितिमें ऐसा बन्ध होना स्वभाव है। स्वभावमें प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ स्वभाव तो कहा गया है, वह द्रव्यका नहीं बताया गया है, किन्तु पर्यायगत स्वभाव है। जीव अशुद्ध पर्यायमें आया तो उसमें क्या प्रकृति पड़ जाती है, यह बताया गया है।

दृष्टान्तपूर्वक अशुद्ध वस्तुके पर्यायगत स्वभावका स्पष्टीकरण—जैसे यहाँ इन स्कंधों में प्रकृति बतायी जा सकती है। घड़ेमें पानी आ जाय, कोई चीज रखी जाय ऐसा घड़े में स्वभाव पड़ गया है। अब घड़ा जिन परमाणुओंसे बना है उन एक-एक परमाणुओंमें यदि कोई कहे कि उस परमाणुमें भी भरा रहनेका स्वभाव होगा, सो नही कहा जा सकता। पर्याय जिसमें जो बात सम्भव होती है वह बात इस पर्यायकी स्वभाव रूपसे कही जाती है। तो यों जब जीव अनादिकालसे अशुद्ध है और कार्माणवर्गणायें भी इसी तरहकी योग्यता रखती हैं तो उन दोनोंका, उस योग्य स्थितिमें बंध हो जाना यह स्वभावकी ही बात है। जैसे कहते हैं, बिच्छूका काटनेका स्वभाव है, तो बिच्छू एक पर्याय है, उस पर्यायमें रहने वाले का कैसे स्वभाव पड़ गया है? उसकी पर्यायसे ही ताल्लुक है। यदि कोई ऐसा कहे कि बिच्छू पर्यायमें जो जीव रह रहा है उसका स्वभाव है तो बिच्छू पर्याय समाप्त होनेके बाद मानो वह मनुष्यपर्यायमें आ गया तो वहाँ भी काटनेका स्वभाव हो। तो यह पर्यायगत स्व-भावकी बात कही जा रही है। जैसे इसी बातको अगली गाथामें स्पष्ट करेंगे। हाँ, यदि इसपर

भी सन्तोष न होता हो तो और परीक्षा ही करनी चाहते हो कि कैसे माना है कि अमूर्त जीव के साथ मूर्तिक कर्मका बन्ध हो गया। उसकी परीक्षा भी बता दी जायगी। उसे युक्तियोंसे भी सिद्ध किया जायगा। इस गाथामें अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्मका बन्ध कैसे होता है, इस शंकाके दो उत्तर दिए गए हैं—एक तो यह कि स्वभाव उस प्रकारका है। स्वभावमें तर्क नहीं उठाया जा सकता। दूसरा उत्तर यह है कि उसकी परीक्षा भी बतायेंगे और युक्तियोंसे भी सिद्ध करेंगे। इन्हीं बातोंमें से पहिली बातका स्पष्टीकरण अब कर रहे हैं।

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत्।
एतंविधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥५४॥

उदाहरणपूर्वक प्रकृत स्वभावके प्रतापका निर्देश—जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है ऐसा सभी लोग कहते हैं। और भी देख लीजिए—जहाँ अग्नि होगी वहाँ किसी ईंधनका संयोग हो जाय तो अग्नि जल जायगी। कभी यदि ऐसी स्थिति आये कि अग्नि भी है और ईंधन भी उसपर डाला हो और फिर भी न जले तो ऐसी स्थितियाँ कब होती हैं जब कि उसका प्रतिबंधक कोई मणि वगैरह मौजूद हो अथवा जैसे कोई वनस्पतिरस होता है जिसे हाथमें लगा लें या ईंधनपर लगा लें फिर अग्नि उसे नहीं जला सकती है। तो वह एक प्रतिबंधक कारण आ गया। कार्य होनेका उपादान निमित्त कारण और प्रतिबंधक कारणका अभाव ये सब चाहिएँ। तो यह बात दूसरे प्रसंग की है लेकिन यहाँ यह कहा जा रहा कि अग्निमें स्वभाव तो गर्मीका है। तो अग्निमें जो उष्णता आयी है उसको किसमें अर्जित किया है, किसने उसकी कमाई किया है, कैसे उष्णता उसमें आयी है? उसका उत्तर यह है कि ऐसा ही स्वभाव है। अग्निमे जो उष्णता आयी है वह स्वभावसे आयी है। यहाँ कोई तर्क उठाने लगे, कोई अनुमान प्रयोग करने लगे कि हम तो अग्निको ठंडी मानते हैं और वह युक्ति भी दे देखो अग्नि ठंडी होती है पदार्थ होनेसे। जैसे—जल। जल पदार्थ है वह ठंडा होता है। अतः अग्नि भी पदार्थ है, उसे भी ठंडी होना चाहिए। व्याप्तिका कोई ध्यान न देकर यों ही अनुमानसे किसीपर कोई बात लादे कि अग्नि ठंडी होनी चाहिए, तो उसका उत्तर देनेमें ज्यादा दिमाग लगानेकी आवश्यकता नहीं है, उसके हाथपर अग्निकी डली रख दीजिए, अपने आप वह समझ जायगा कि अग्नि गर्म होती है। अग्निमें गर्मीका स्वभाव है और यह गर्मीका लक्षण है, यह बात स्वभावसे आयी है। यदि कोई नहीं मानता है तो स्पर्श कराकर उसे समझा दीजिए कि देख लो अग्नि गर्म है अथवा नहीं। तो अग्निमें जो गर्मी आयी है, क्यों आयी है, कैसे आयी है, किसने इसमें गर्मी डाल दी है, ये प्रश्न बेकार हैं। स्वभाव ही ऐसा है, उसका अनुभव करके देख लो। तो जैसे इस दृष्टान्तमें बताया है कि अग्निका जो गर्मी

स्वभाव है वह किसीने नहीं किया है, स्वयं ही है, इसी प्रकार दृष्टांतमें भी अब बतला रहे हैं।

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥५५॥

प्रकृत दार्ष्टान्तमें प्रकृत स्वभावके प्रतापका प्रतिपादन—उक्त गाथामें जैसे दृष्टान्तमें घटाया गया है कि अग्निमें उष्णता स्वयं सिद्ध है, उष्णता होना स्वभाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्मका जो अनादि बन्ध चला आ रहा है वह स्वतः है। स्वभाव ऐसा है उसमें यह तर्क नहीं किया जा सकता कि जीव और पुद्गलकर्मका अनादि बंध हुआ है तो कैसे हुआ है, किसने किया है, कहाँ हुआ है आदिक प्रश्न वहाँ नहीं किए जा सकते है, क्योंकि ऐसा प्रश्न उठना वहाँ सम्भव ही नहीं ऐसा प्रश्न तो आकाशपुष्पकी तरह असत् ही होता है। स्वभावमें क्या प्रश्न किया जाय? यह बन्ध कहाँसे हुआ? किस जगहसे आया, किसने किया और किस जगहसे किया? ये सब प्रश्न यहाँ नहीं उठाये जा सकते। जैसे आकाशके पुष्प कुछ नहीं हैं इसी प्रकार ये प्रश्न भी वहाँ ठहरते नहीं हैं। यों जीव और पुद्गल कर्मका अनादि सम्बन्ध है, यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है।

चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम ॥५६॥

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान कर्मके साथ बन्ध होनेके सम्बन्धमें स्वानुभूतिसहित प्रत्यक्ष से विमर्श करनेका अनुरोध—कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है ऐसी शंका संशय का निवारण स्वभाव बताकर कहा गया है। अब यदि इस उत्तरमें सन्तोष नहीं हो रहा है और ऐसी तीव्र जिज्ञासा ही है, हृदयमें एक ऐसी प्रबल इच्छा हुई है कि हमको तो भली भाँति युक्तिपूर्वक समझाइये कि कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है? है तो किस तरह है? तो स्वानुभूति सहित प्रत्यक्षसे पहिले विचार कर लीजिए अर्थात् अपने अनुभवसे ही इस शंकाका समाधान कर लीजिए कि वस्तुतः अर्थात् सही रूपसे यह बात उतरती है अथवा नहीं कि जीवका और पुद्गलकर्मका अनादिकालसे सम्बन्ध है, परम्परा है और ऐसा स्वभावसे ही हुआ है, वहाँ किसने किया? प्रथम तो यह प्रश्न यों नहीं उठता कि यही निर्णय कोई नहीं कर सकता कि सबसे पहिले जीवमें रागादिक भाव आये या पहिले कर्मबन्ध था? ये दोनों ही अनादिसे हैं, ऐसा ही स्वभाव है लेकिन इस स्वभावके उत्तरमें संतोष नहीं है तो अपने अनुभवसे विचार कर लीजिए। वह क्या अनुभव है जिससे कि स्वयं विचार किया जा सकता है। उस अनुभवकी बात स्पष्ट कर रहे हैं।

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥५७॥

अमूर्त मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका मद्यादिपानके प्रसङ्गमें वद्ध विकृत बेहोश हो जानेका प्रत्यक्ष उदाहरण—देखिये—यह तो निश्चय हो गया कि ज्ञान अमूर्त है, आत्मा अमूर्त है। तो आत्माकी जितनी शक्तियाँ हैं, जो धर्म हैं, जो गुण हैं वे भी अमूर्त है। तो आत्माकी जितनी शक्तियाँ हैं, जो धर्म हैं, जो गुण हैं वे भी अमूर्त है। जब आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं तो आत्माकी क्या किसी शक्तिमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आ जायगा। आत्मामें मूर्तपना नहीं है तो आत्माके ज्ञानमें भी मूर्तपना नहीं है। हम आपको भी जो आजकल ज्ञान चल रहे हैं, क्या कोई यह कह सकता है कि हमारा ज्ञान काला है, नीला है अथवा सुगंध है दुर्गन्ध है, यह कठोर है, चिकना है आदिक ? तो जैसे आत्मा अमूर्त है उसी प्रकार ज्ञान भी अमूर्त है, लेकिन देखा यह जा रहा है कि ऐसा अमूर्त ज्ञानमात्र मूर्त मदिरा आदिक के कारणसे बेहोश हो जाता है, ढक जाता है। वह ज्ञान प्रभावित हो जाता है। यह तो अनेक जगह देखनेको मिल जायगा। जो लोग मदिराका पान कर लेते है उनकी हालत बेहोशीकी हो जाती है। वे सड़कपर पड़े रहते है, कुत्ते भी उनके मुखमें मूत जाते है। भला बेहोशी न हो तो ऐसी बात कोई आदमी सह सकता है ? उसका ज्ञान दब गया, गड़-बड़ ज्ञान हो गया, यह हुआ मदिरापान करनेके कारण। तो मदिरा मूर्तिक है, ज्ञान अमूर्तिक है, वहाँ भी एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि मदिरापान करने से अमूर्त ज्ञानपर यह असर क्यों हुआ ? अमूर्तके साथ मूर्तका इस तरह जुड़ाव कैसे बना ? वहाँ भी प्रश्न हो सकता है। लेकिन उस स्थलमें तो अपना अनुभव गवाही दे रहा है, स्वयं प्रत्यक्षसे देख रहा है कि मदिरा पीने वाले पुरुषका ज्ञान बिगड़ गया। तो देख लीजिए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये आत्माके ज्ञानगुणकी ही तो पर्याय हैं। ज्ञानकी ५ पर्यायें कही गई हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान्। जैसे कि केवलज्ञान तो सकल प्रत्यक्ष है, निर्दोष है, निरुपाधि है, वहाँ तो कभी बिगड़नेका प्रश्न ही नहीं होता। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये विकल प्रत्यक्ष हैं, इन्द्रियजन्य नहीं हैं, फिर भी इसमें भीतरी आत्माके कोई चिन्ह हैं या दूसरेके मनमें रहने वाले पदार्थोंको जानता है। कुछ थोड़ा बहुत सम्बन्ध है मूर्त पदार्थके साथ अथवा इसके आवरणका कभी उदय भी आ सकता है, लेकिन यह ज्ञान हम आपके नहीं है और न स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा इसकी बात बता सकते है, अतः इसको भी छोड़ें। अब शेष रहे दो ज्ञान—मति और श्रुत, जो यहाँ मनुष्योंमें पाये जा रहे हैं। ये ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं। यहां देखते है कि कोई पुरुष मदिरा पी लेता है तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जो कि अमूर्तज्ञान हैं ये गड़गड़ हो जाते हैं, बेहोश हो जाते हैं। तो इससे सिद्ध हुआ कि यह बेहोशी जब मदिराके निमित्तसे हुई है तो ऐसा पारतंत्र्य जीव कर्मका बन्धन यह भी किसी निमित्त को पाकर हो जाया करता है। तो जैसे मूर्त मदिराके सम्बन्धसे अमूर्त ज्ञानपर प्रभाव हुआ

है इसी प्रकार योग्य उपाधिके सन्निधानसे अथवा योग्यतासे जीव और कर्ममें बन्धनकी भी बात आ जाती है। अर्थात् मूर्त कर्मके द्वारा अमूर्त आत्मा भी बन्ध जाता है। जैसे मूर्त मदिरासे अमूर्त ज्ञानपर प्रभाव पड़ा हुआ है। इस दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूर्त कर्मके द्वारा अमूर्त आत्माका बन्ध भी हो जाता है। अब इसीका स्पष्ट अर्थ अथवा सारांश बताते हैं।

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः।
बिना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥५८॥

मद्यादि द्वारा मति श्रुतज्ञानके बिगड़ जानेकी असिद्धताकी असिद्धि—उक्त गाथामें बताया गया है कि मूर्त मदिराके सम्बंधसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जो कि अमूर्त हैं ये बेहोश हो जाते हैं यह बात असिद्ध नहीं है, ऐसा तो देखा ही जा रहा है, और यह भी देखा जाता कि जब मदिराका नशा उतर जाता है तो वही पुरुष फिर चेत भी जाता है। अथवा जिनके मद्यादिकका सम्बंध नहीं है उनका ज्ञान सही काम कर रहा है। तो जब ये दोनों बातें प्रत्यक्ष से देखी जा रही हैं तो सिद्ध हो जाता है कि मदिरापानसे ज्ञान मंद हो जाता है। तो जैसे मदिरापानसे ज्ञान मंद हुआ, ऐसे ही मूर्त कर्मके साथ अमूर्त आत्माका बंध हो जाता है, यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। तो जैसे जीव अनादिसे अशुद्ध है और ये कार्माण वर्गणायें भी अनादिसे अशुद्ध हैं, ऐसा नियम नहीं है कि ये सब अनादिसे शुद्ध ही थे, पीछे इनमें अशुद्धता आयी, यद्यपि पुद्गलमें शुद्ध अशुद्ध होना यह परिवर्तन चलता रहता है, पर वहाँ यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि पुद्गल अनादिसे शुद्ध था अथवा जीवके वन्धनमें आया हुआ कर्म शुद्ध हो। तो यहाँ ये कार्माणस्कंध भी अशुद्ध हैं और यहाँ यह जीव भी अशुद्ध है और इनका सत्त्व भी अनादिसे है। तो इनका संयोग भी अनादिसे है। यों जीव और कर्म का वन्ध अनादिसे है, यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है।

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥५९॥

उपचारमात्रसे ज्ञानकी मूर्तताका व्यवहार व तत्त्वतः ज्ञानकी अमूर्तताका प्रकाश—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उपचारसे मूर्त भी हैं, परन्तु यह उपचार किस कारणसे किया गया है? वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्त नहीं हैं। तत्त्वदृष्टिसे निरखा जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और जो अमूर्त ज्ञान है वह कभी मूर्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तुमें जो स्वरूप है, उसकी सीमा है, उसका उल्लंघन ही कोई नहीं होता, जो मूर्त है वह हर स्थिति में मूर्त ही रहेगा और जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहेगा। जिस पदार्थमें रूप, रस, गंध स्पर्श है वह तो रूप, रस, गंध, स्पर्शादिकमय ही रहेगा। चाहे बिखर कर अकेला भी हो

जाय, अणु तो भी वह रूप, रस, वर्ण गंधमय होगा ही और जो पदार्थ अमूर्त हैं उनमें कितना भी उपाधिका सम्बन्ध बढ़ जाय, वहां कभी रूप, गंध, स्पर्श नहीं हो सकता है। तो जब मूर्त मूर्त ही रहता है और अमूर्त अमूर्त ही रहता है तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वास्तवमें अमूर्त ही रहेंगे। अतः उपचारसे कथञ्चित मूर्त कह दिया जा सकता है।

नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्त यत्तत्त्वतोपि च।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥६०॥

ज्ञानके मूर्तत्वके उपचारकी सिद्धि— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वास्तवमें अमूर्त ही हैं, उनमें उपचार करके मूर्तपनेकी बात कही गई है सो ठीक है, वह उपचार असिद्ध नही है अर्थात् उस उपचारकी दृष्टिमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्त ही बन जाते है। हाँ है उपचारसे जिस उपचारसे उन ज्ञानोंको मूर्त कहा गया है वह उपचार असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध है, वह ज्ञान चूंकि कर्मोसि आवृत अथवा कर्म और साधन अनुकूल जुटने पर यह बेहोश हो जाता है, इस कारणसे उपचारसे मूर्त कहा गया है। वस्तुतः मूर्त नहीं है। अथवा जब पर्याय व्यवहारकी दृष्टिमें ही रहकर निरखा जायगा तो यह भी न कहा जा सकेगा कि यह ज्ञान मूर्त बन जाता है। वस्तुमें इस ही प्रकारकी शक्तियाँ होती है कि उनके कारण कुछ विरुद्ध ऐसा बन जाता है कि पदार्थको अपने स्वभावसे विपरीत परिस्थितिमें गुजरना पड़ता है। आत्माका ज्ञानगुण अमूर्त है, वह यहाँ मूर्त कैसे बन गया? और यहाँ वस्तुशक्तिका इस तरहका परिणमन कैसे आ गया? इसमें किसका दोष बताया जायगा? यही कहा जायगा कि स्वयं आत्माने अपना अपराध किया है, जिस कारणसे उसे मूर्त बनना पड़ा है। उपचार होनेका कारण यह होता है कि जहाँ मुख्य तो कुछ हो नहीं और प्रयोजन अथवा निमित्त हो तो वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। जैसे किसी बालकका नाम अग्नि रख दिया गया तो बालकको अग्नि उपचारसे ही तो कहा गया है कि क्या सचमुचमें वह अग्नि बन गया है? अग्निमें एक तैजस गुण पाया जाता है, गर्मी पायी जाती है और उस बालकमें भी विशेष क्रोध देखा गया, उसके तेजी पायी गई तो उसको दृष्टिमें रखकर लोग उपचारसे उसे अग्नि कह देते हैं पर वास्तवमें वह बालक अग्नि नहीं हो जाता, तो ऐसे ही ज्ञान तो वास्तवमें अमूर्त है, फिर भी उसमें मूर्तपनेका जो उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्त से है। कर्मका आत्माके साथ अनादिकालसे ही बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध चला आया है। तो आत्माका विपाक भी उसी प्रकार होने लगा। यों यह कहना पड़ता है कि लो अब आत्मा भी मूर्त बन गया। तो मूर्ततामें कारण क्या कहा जाय? बाह्यकी ओरसे तो यह कहा जायगा कि कर्मोका सम्बन्ध है, शरीरका सम्बन्ध है, इसकी आधीनता है और अन्तरङ्गसे यह कहा जायगा कि इस जीवने स्वयं अपने आप अपराध किया है, अपना निज स्वभाव

छोड़ दिया है । अपने आपकी सुध भी नहीं रखी है, इस कारण यह जीव कर्म और शरीर में ऐसा बँधा-बंधा फिर रहा है ।

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥६१॥

जीवके द्विविध परिणमन—अनादिसिद्ध इस जीवात्मामें ये दो प्रकारकी क्रियायें विदित हो रही हैं—स्वभावकी क्रिया और वैभाविकी क्रिया । ये प्रत्येक पदार्थमें परिणमनशील होती है । जीव भी एक पदार्थ है, वहां भी परिणमनशील है, निरन्तर परिणम रहा है । तो उसके इस परिणमनमें दो प्रकारकी क्रिया विदित होती हैं, स्वभाविकी क्रिया और वैभाविकी क्रिया । एक अवस्थाको छोड़कर, दूसरी अवस्थाको धारण करना यही तो परिणमन कहलाता है । तो ऐसे ही परिणमनके कारण जीवात्मामें दो प्रकारका परिणमन पाया गया, स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन । जैसे अरहंत सिद्ध आत्माओंमें स्वभावपरिणमन पाया जाता है, छद्मस्थ संसारी मोही प्राणियोंमें विभावपरिणमन पाया जाता है इस प्रकारके दो पद्धतियोंके परिणमन इस जीवात्मामें पाये जा रहे हैं तो उन परिणमनोंपर विचार करते हैं कि जीवमें ऐसे दो प्रकारके परिणमन हो क्यों जाते हैं ? उसका आधार क्या है ? इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कहते है ।

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥६२॥

जीवकी वैभाविकी क्रिया व उसकी निश्चयनयतः परायत्तताका अभाव—इस जीवमें जो वैभाविकी क्रिया हो रही है वह किसी परके आधीन नहीं हो रही है । किन्तु हो तो रही है आत्मामें ही । वहाँ कोई परपदार्थ निमित्त होता है । यदि कोई वैभाविक शक्तिको ही पराधीन समझ ले तो उसके लिए आचार्यदेव इस श्लोकमें सम्बोध रहे हैं कि अरे वैभाविकी शक्ति तो आत्माका सच्चा गुण है । जैसे कि आत्मामें अन्य अनेक गुण रहते हैं उसी प्रकार एक वैभाविक गुण भी है । उस वैभाविक गुणका विभावपरिणमन और स्वभावपरिणमन ऐसी दो पद्धतियोंमें परिणमन होता । यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभावस्वभावरूप परिणमन न हो सकता था । वैभाविक शक्तिका यह भाव है कि आत्मामें किसी न किसी रूप परिणमनेका तो सामर्थ्य है ही, पर आत्मा विपरीत रूपसे परिणम सकता है । इतनी विशेषता बतानेके लिए उस भावशक्तिमें ही 'वि' इतना विशेषण देकर समझाया गया है कि आत्मामें एक वैभाविकी शक्ति है । यह वैभाविकी शक्ति अपनी ओरसे अपने आपको निमित्त बनाकर विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता है । विभाव होता है तो पर-उपाधिका निमित्त पाकर होता है । कोई भी शक्ति शक्ति

क्या वैभाविक कहा जायगा ? ऐसा जो अर्थ विकल्प है, ज्ञेय ग्रहण है क्या वह विपरीत परिणमन है ? जीवकी क्या वैभाविकी क्रिया है ? यदि इस तरह जीवकी वैभाविकी क्रिया बन जाय तब तो फिर स्वाभाविकी क्रिया रही। इसीके आशयको शङ्काकार निम्न श्लोक में स्पष्ट कर रहा है।

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः ।
मद्यकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥६५॥

उदाहरणपूर्वक ज्ञेयाकार ज्ञानमें अविकृतता बताकर वैभाविकी शक्ति माननेकी अनावश्यकताका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—शङ्काकार उक्त शङ्काका आशय स्पष्ट कर रहा है कि जिस समय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है। तो वहाँ ज्ञान ज्ञान ही रहा, ज्ञेय नहीं हो गया। जैसे किसी ने घटको जाना तो ज्ञानमें घटाकर आया, उस समय वह घटज्ञान ज्ञान ही रहा, वह घटज्ञान घट न बन जायगा। इसी तरहसे मदिरा का निमित्त पाकर जो ज्ञान मद्याकार हुआ, मूर्छित हुआ तो वहाँ भी वह ज्ञान ही है, वह मदिरामय नहीं हो जाता, तब वहाँ विभाव क्या आया ? अमूर्त ज्ञान अमूर्तरूप ही रहा, उसका फिर बंधन किस तरहसे हो सकेगा ? शङ्काकारका यह आशय है कि मदिरापान करनेपर भी ज्ञान मदिरा नहीं बन जाता। ज्ञान ज्ञान ही रहता है। जैसे घट पट आदिक पदार्थोंका ज्ञान करने पर ज्ञान ज्ञान ही है, वह कहीं घट-पटादिक रूप नहीं बन जाता। तो ऐसी स्थितिमें ज्ञानमें बद्धता क्या आयी और विभाव भी क्या आया ? वैभाविकी शक्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं।

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥६६॥

बद्ध व अबद्ध ज्ञानमें अन्तर—शङ्काकारका यह कहना कि मदिरापान करने पर भी उस स्थितिमें बदला हुआ ज्ञान भी तो ज्ञान ही है और मदिरापान न करे ऐसी स्थितिमें जो ज्ञेय पदार्थोंके आकार हुआ ज्ञान है वह भी ज्ञान है। तो ज्ञानपना दोनों जगह समान है। न तो घटपटादिकका ज्ञान करने पर ज्ञान घटपटादिक रूप बना और न मदिरापान करने पर ज्ञान अज्ञान बना। ज्ञान यहाँ भी है, ज्ञान वहाँ भी है। तो ज्ञानपना दोनोंमें समान है, तब वैभाविकी शक्ति माननेकी क्या आवश्यकता है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि केवल ज्ञेयपदार्थ विषयमें आ रहे हों और वहाँ अन्य कुछ निमित्त न हो, ऐसी स्थितिमें होने वाला ज्ञान और मदिरापान करने पर होने वाला, बदलने वाला ज्ञान, इन दोनों ज्ञानोंमें बहुत अन्तर है। शङ्काकार यह जो समझ रहा है कि चाहे ज्ञान घट पटको जाने तो भी ज्ञान

ज्ञान ही है, वह घटपटादिक रूप नहीं बन जाता, ऐसे ही मदिरा पी लेने पर ज्ञानने अपना परिणमन किया तो भी ज्ञान ज्ञान ही है, कहीं मदिरा तो नहीं बन गया। यों ज्ञानोंमें कोई अन्तर नहीं है। सो शंकाकारका यह मानना युक्त नहीं है। मदिरापान करने पर बदला हुआ ज्ञान मलिन है, और ढंगका है और मदिरापान किए बिना केवल पदार्थोंके विषयके निमित्तमात्रसे जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्पष्ट है, सावधान है। इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर है। मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदलता है उस ज्ञानमें तो यथार्थता नहीं है और जो केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार हो रहा है ऐसे ज्ञानमें यथार्थता है। तो इन दोनों स्थितियोंके ज्ञानों में बहुत बड़ा अन्तर है अथवा यों कह लीजिए कि एक ज्ञान तो बद्ध ज्ञान है, दूसरा ज्ञान अबद्ध ज्ञान है। यह एक आपेक्षिक ढंगमें कह रहे है। यहां हम आप मनुष्योके मदिरापानके समय होने वाला ज्ञान बद्ध ज्ञान है और मदिरापान आदिकके अभावमें स्पष्ट बुद्धिके समय होने वाला ज्ञान अबद्ध ज्ञान है। वस्तुतः तो यह मान लिया कि सभी ज्ञान बद्ध ज्ञान है पर एक मुकाबलेतन दृष्टान्तके अनुरूप बात कही जा रही है। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ तक जीवके मोहकर्मका सम्बन्ध बना है तहाँ तक ज्ञानबद्ध ज्ञान कहालाता है। जहाँ मोह कर्मका अभाव हो गया है वह ज्ञान अबद्ध ज्ञान कहलाता है। यों बद्धज्ञानमें और अबद्धज्ञान में बड़ा अन्तर है। तब शङ्काकारका यह कहना कि मदिरापान करे तब भी वह ज्ञान ज्ञान ही है और मदिरापान न करे तब भी ज्ञान ज्ञान ही है। यों समानताकी बात कहना असंगत है। बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें क्या अन्तर है? इसी बातको अब अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं।

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थ परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ।।६७।।

मोहकर्मावृत्त, बद्ध ज्ञानकी विडम्बना—

मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत्त हो गया है वह ज्ञान अर्थके अनुसार परिणमन कर रहा है अर्थात् इष्ट पदार्थके संयोगसे वह ज्ञान राग कर रहा है और अनिष्ट पदार्थके संयोगसे वह द्वेष कर रहा है। यहाँ एक बात विशेषतया यह जानना है कि ज्ञान और आत्मा इन्हें एक मानकर कथन किया जा रहा है। ज्ञान गुण है। ज्ञानका काम मात्र जानना है। रागद्वेष चारित्रगुणके विकार हैं। रागद्वेषका ज्ञानसे सम्बंध नहीं है। ऐसे दो गुणोंको दृष्टिमें रखकर यह कथन नहीं है, किन्तु ज्ञान है सो आत्मा है, तो ज्ञान बद्ध है, इसका अर्थ है—आत्मा बद्ध है। रागद्वेष कर रहा है आत्मा, इसका अर्थ है कि यह ज्ञान रागद्वेष कर रहा है। तो उस ज्ञानकी चर्चा यहाँ चल रही है। जब कि ज्ञान मोहकर्मसे आवृत्त हो जाता है अर्थात् मोहनीय कर्मका विपाक होता है तो उस समय यह ज्ञान जिस-जिस पदार्थको जानता है उस उस पदार्थ में इष्ट बुद्धि रखता है अथवा अनिष्टबुद्धि रखता है। तो स्वयं राग करता हुआ और द्वेष

करता हुआ चलता है। छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञानमें ऐसी योग्यता है कि वह पदार्थोंको क्रम क्रम से जाने। जब तक ज्ञानावरण कर्मका सम्बंध है तब तक उसके क्षयोपशममें इतनी ही शक्ति प्रकट है कि वह कुछ जाने और क्रमसे जाने, और वहाँ मोहनीय पदार्थका सम्बंध है तो इष्ट या अनिष्ट जैसे पदार्थ उसे मिलते हैं। वस्तुतः इष्ट और अनिष्ट कुछ नहीं है, उसकी कल्पनामें इष्ट और अनिष्ट है। तो जो इष्ट अनिष्ट पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें राग अथवा द्वेषकी बुद्धि होना यह मोहनीय कर्मके निमित्तसे हो रहा है। पर हो कौन रहा है? यह ज्ञान। ज्ञान ही राग अथवा द्वेष कर रहा है। ज्ञानका अर्थ यहाँ आत्मतत्त्वसे है। तथ्य यदि देखा जाय तो जगतमें इष्ट और अनिष्ट पदार्थ कुछ नहीं है। एक पुरुषके कुटुम्बमें जो स्त्री पुत्रादिक जीव आये हुए हैं उन्हें वह अपना सर्वस्व मानता है, दूसरे लोग उन्हें अपना कुछ नहीं मानते। और कदाचित् उन जीवोंके बजाय कोई दूसरे जीव आये होते या जिन्हें और समझ रहा है वही जीव आये होते तो उन्हें अपना मानता। तो यहाँ क्या है? मोहका ही तो पागलपन है। किन्हींको मान लिया कि ये मेरे हैं और किन्हींको मान लिया कि ये गैर हैं। यह मोहकी उन्मत्तता है। वस्तुतः अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। बाहरी पदार्थ इष्ट और अनिष्ट बनते हैं वह इसकी कल्पनाके आधारसे बनते हैं। यह कल्पना बेकार है और पागलपन है। क्यों कल्पना इस भगवान आत्मामें उठ रही है? जब इसका स्वरूप विशुद्ध है, ज्ञानानन्दमय है जैसा कि प्रभुमें प्रकट हुआ है वहाँ न चलकर यह क्यों बँध गया है बाह्य पदार्थोंसे, अर्थात् इष्ट अनिष्ट भाव करके रागद्वेषादिकमें यह क्यों बँध गया है? यह सब एक मलिन अवस्था है। तो मलिन अवस्थाके ज्ञानमें और निर्मल अवस्थाके ज्ञानमें क्या अन्तर नहीं है? इतना बड़ा अन्तर तो हो रहा है कि मलिन अवस्था वाला जन्म मरण कर रहा, कष्ट सह रहा, आकुलित हो रहा और जो मोहकर्मसे रहित है ऐसा भगवान आत्मा विशुद्ध आत्मामें बर्त रहा है, इतना बड़ा अन्तर है, फिर भी शंकाकार यहाँ कह रहा है कि चाहे मदिरापानमें रहने वाला ज्ञान हो और चाहे मदिरापान किए बिना केवल ज्ञानको विषय करने वाला ज्ञान हो, ज्ञान तो दोनों ही हैं, उनमें क्या अन्तर है? शङ्काकारका यह आशय युक्त नहीं है।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥६८॥

अबद्ध, मोहातिक्रान्त ज्ञानकी शुद्धता और महिमा—बद्ध ज्ञानकी बात उक्त श्लोकमें कही गई है। यहाँ अबद्ध ज्ञानका स्वरूप बताया जा रहा है। जो ज्ञान मोहकर्मसे परे है अर्थात् जिस ज्ञानके साथ मोहकर्मका सम्बन्ध नहीं रहा है उसको अबद्धज्ञान कहते हैं। ऐसा अबद्धज्ञान क्षायिक है और जैसे जो अपना स्वरूप रख रहे हैं, जैसे परिणाम रहे हैं

वैसे ही सर्व विश्वका जाननहार है। जब तक जीवके मोहकर्मका सम्बन्ध रह रहा है तब तक तो इसके अष्टकर्मका ही सम्बन्ध है। जब मोहकर्मका सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाता है ऐसी अवस्थामें प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें ७ कर्म उसके मौजूद हैं। मोह कर्म न रहा, किन्तु अन्तर्मुहूर्त की स्थिति निकलनेके बाद तीन घातियाकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। सो जब चार घातिया कर्मोसे रहित केवल अरहंतप्रभु हो जाते हैं वहाँ उसका ज्ञान शुद्ध ज्ञान है, मोहकर्मसे रहित ज्ञान है। मोह कर्मसे रहित ज्ञान तो १२ वें गुणस्थानमें भी है। जहाँ ३ घातिया कर्म अभी हैं, मोहनीयकर्म न रहा सो वह भी ज्ञान शुद्ध ज्ञान है और वह एक बहुत छोटे अन्त-र्मुहूर्तमें, जैसे एक दो चुटकीके बजानेमें जितना समय लगे उतने समय जितना ही तो काल है उसके उतने समयमें वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान है और तुरन्त ही उस ज्ञानमें इतना विकास होने वाला है, वह समस्त लोकालोकको जानने वाला है, क्लेश उस दशामें भी नहीं है, किन्तु अनुभव करने वाला तो ज्ञान है, वह वहाँ अनन्त नहीं है सो अनन्त आनन्द नहीं कहा। अब चार घातिया कर्मोसे रहित होनेपर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द व अनन्तशक्ति प्रकट हुई है। वहाँ ज्ञान, क्षायिक ज्ञान है। अबद्ध ज्ञान है, उस ज्ञानकी तुलना यहाँ मोही कर्मसहित ज्ञानसे शंकाकार कर रहा है तो कैसे यह तुलना की जा सकती है ? यह अबद्ध ज्ञान समस्त विश्वका प्रकाश करने वाला है। ज्ञानावरणकी, सर्व ज्ञानावरणकी मलिनतासे दूर हो गया है। यहाँ घातिया कर्मोका कोई आवरण नहीं है, ऐसा यह अबद्धज्ञान शुद्ध क्षायिक ज्ञान है, अनन्त आनन्दके साथ जिसका विलास चल रहा है, ऐसा पवित्र ज्ञान ही हम आप सबके लिए हितरूप है।

शुद्ध, अबद्ध ज्ञानसे ही महत्त्व व शाश्वत कल्याण—हम आप सब लोग ऐसी अभि-लाषा रखते हैं कि हम बड़े कहलायें और सुख शान्तिमें रहा करें। प्रथम तो इस कल्पनामें जितना अपनेको बड़ा माननेकी बात समझ रखी है वह कुछ बड़प्पन नहीं है। ऐसा बड़ा माननेकी कल्पनामें ही अशान्ति भरी हुई है। सो बड़ा मानना और शान्ति पाना—इन दोनों का ही विरोध है और फिर जो वास्तविक महत्त्व है, बड़प्पन है, यदि उसके लिए रुचि जग जाय तो वहाँ इसे अनुचारिणी शान्ति अवश्य मिल जायगी। बड़प्पन है इस क्षायिक ज्ञानकी स्थितिमें। हमारी धुन होना चाहिए कि मेरी यह स्थिति कब बने ? अन्य सारी स्थितियाँ बेकारकी स्थितियाँ हैं, जीवको भुलाने वाली हैं। मेरी तो अरहंत अवस्था प्रकट हो और मेरा ज्ञान बिना बन्धनके, बिना मर्यादाके सारे विश्वको जान जाय अथवा विश्वको जाने या न जाने उससे भी हमें प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जानकर भी क्या मिलता और न जान कर भी क्या बिगड़ता ? ज्ञानका स्वभाव है ऐसा कि सर्वको जाने बिना रह न सकेगा, यह उसके स्वभावकी बात है। पर हमें सारे विश्वको जाननेसे क्या प्रयोजन है ? मैं ज्ञानरूप

रहूं, जैसा मेरा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है बस उसमें कल्पनायें न आयें, मलिनता न उठे, वैभाविक बात न बनें। जैसा मैं सहज हूं वैसा मैं सहज रहूं, सारी आकुलताओंसे परे हो जाऊँ। यही मात्र एक भावना चले, अन्य किसी भी स्थितिकी कल्पना न आये, यह हम आप सबको युक्त है और कुछ बातें उठ जायें, कल्पना भी जग जाय, किसीका प्रतियोगी बन जाय, फिर भी श्रद्धान, संस्कार ऐसा ही होना चाहिए कि थोड़े ही समय बाद फिर अपनेको धिक्कारने लगें। मैं कहाँ विकल्पोंमें लग गया? कहाँ परपदार्थके उपयोगमें चल बैठा? मेरा यह काम नहीं। मेरा काम तो यही है वास्तविक कि जो मेरा सहज ज्ञानस्वरूप है उसके निकट रहूं, उसको अनुभवमें लूं। मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हूं, कुछ कल्पना ही मेरे लिए बन्धन है, उसको छोड़-कर स्वतन्त्रतया जैसा सहज मैं हूं वैसा ही मात्र रह जाऊँ, इससे मेरी भलाई है। इसके अति-रिक्त अन्य जो बातें, कल्पनायें जगती हैं उनसे मेरा कल्याण नहीं है, ऐसी बार-बार साव-धानी जगे। असावधानी होती है, पर वह अधिक समय तक न रहे, फिर बार-बार प्रेरणा आये, ऐसी हमारी वृत्ति जगे तो आशा है कि हम संसार संकटसे दूर हो जायेंगे। और फिर जिसको ऐसी लौ लग गयी है, धुन बन गयी है, भीतरमें यह बात समा गई है कि ज्ञानका शुद्ध ज्ञानरूप बर्तना बस इतनेसे ही मेरा प्रयोजन है, यही मेरा स्वरूप है। ऐसी झलक जिसको आ गई है नियमसे वह भव्य है और नियमसे वह संसारसे पार हो जायगा। तो यही एक वास्तविक सारकी बात है कि हमारा ज्ञान अबद्ध रहे, बाह्य इष्ट अनिष्ट कल्पनाओं में न बंध जाय, चले कल्पनाओंमें तो फिर सावधान हो जायें। बार-बारकी सावधानी और ज्ञानस्वभावके निकट बननेका अभ्यास यह हमारे लिए हितरूप बात है।

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः।
शीतोष्णानुभव स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञेपरात्मनि ॥६६॥

अबद्ध ज्ञानमें मलिन अनुभूतिका अभाव—क्षायिक ज्ञान अबद्ध है और कल्याणमय है, यह बात कैसे समझी जाय? उसके सम्बन्धमें इस श्लोकमें कहा जा रहा है कि क्षायिक ज्ञान अबद्ध है। वहाँ इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नहीं होती। ज्ञानकी अबद्धता यही है कि इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धिका न होना और बद्धता यही है इष्ट अनिष्टरूप बुद्धिका होना। वहाँ ज्ञानको रस्सी आदिक किसी पदार्थने जकड़ नहीं रखा है कि जिससे ज्ञानको बद्ध कहा जाय। इष्ट बुद्धि आये, अनिष्ट बुद्धि आये, यही तो ज्ञानका बन्धन है। क्षायिकज्ञानमें बन्धन नहीं है। वहाँ इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि नहीं चलती है। यह बात प्रमाणसिद्ध है। ज्ञान होना और बात है और इष्ट अनिष्ट बुद्धिका बनना और बात है। जैसे कि किसी पुरुषको बुखार चढ़ा हुआ है तो घरके लोग थर्मामीटर लगाकर उसके उस बुखारका ज्ञान करते हैं कि इसके बुखार १०३ डिग्री है या १०४ डिग्री है। तो उन लोगोंने उसके बुखारका ज्ञान

किया, और उस बुखारका ज्ञान उसे भी हो रहा है जिसके बुखार चढ़ा है तो देखिये एक तो बुखारका ज्ञान अन्य लोग कर रहे है और एक खुद कर रहा है जिसके बुखार चढ़ा है। तो बताइये उन दोनोंके ज्ञानमें अन्तर है कि नहीं ? अन्तर है। क्योंकि जिसे बुखार है वह तो कष्टका अनुभव कर रहा है, आकुलित हो रहा है, विकल्प मचा रहा है, यों वह तो उस बुखारका अनुभव कर रहा है, पर अन्य लोग उसके बुखारका अनुभव नहीं करते। तो कष्ट भोगने का ज्ञान और कष्ट परिणतिका ज्ञान—इन दोनोमें अन्तर है। तो क्षायिक ज्ञानमें कष्ट नही है, इष्ट अनिष्ट बुद्धि नही है इसलिए वह केवल जाननहार है और जो बद्ध ज्ञान है मोहकर्मसे आवृत हैं उनका ज्ञान मलिन है अतएव कष्टमें है। तो बद्ध ज्ञान और अबद्धज्ञान में यह अन्तर है।

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥७०॥

सोदाहरण अमूर्त आत्माका मूर्त कर्मके साथ बन्ध हो सकनेका निर्णय—उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जो अभी मदिराका एक ज्वलंत उदाहरण दिया गया है कि मदिरा-पान करनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान बिगड़ गए है। पुरुषोंको प्रत्यक्ष देखा भी जा रहा है कि मदिरापायी पुरुष बेहोश रहता है, अटसट भी बकता है और उसे स्वहितका बोध नहीं रहता। तो इस उदाहरणसे यह बात भली प्रकार सिद्ध हो गई कि जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त हैं फिर भी इस प्रसंगमें मूर्तादिक जैसे हो गए अथवा बँध गए, बिगड़ गए, उस मदिराके सम्बंध से इस ज्ञानमें कुछ प्रभाव पड़ा ही तो है, इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अमूर्तिक है, फिर भी मूर्तिमान कर्मोंसे बँध जाता है और इस स्थितिमें यदि यह कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है कि यह आत्मा मूर्त कर्मोंके निमित्तसे कथञ्चित् मूर्त हो जाता है और इस तरहसे मूर्त मान लेनेपर यह भी कहा जा सकता है कि संसार अवस्थामें इस मूर्त हुए आत्माके साथ मूर्तिमान कर्म बँध गए।

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः।
वावदूकोथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥७१॥

बद्धत्व व अशुद्धत्वके स्वरूपकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकारका एक प्रश्न हुआ है कि बताया गया है कि मूर्तिमान कर्मसे यह जीव बँध जाता है तो बँधनका अर्थ क्या है ? जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है—इसका अर्थ क्या होगा ? याने बद्धता किसका नाम है तथा वास्तव अशुद्धता भी कुछ होती है क्या ? यह भी उक्त विवरणमें कहा गया है कि 'जीवमें अशुद्धता है', तो क्या जीवमें कोई अशुद्धता भी वास्तविक है ? इस तरह दो प्रश्न किए गए है। यहाँ आचार्य महाराजसे यह शङ्का की गई है सो जो पुरुष तर्क कुतर्क उठाने वाला है, अधिक

बोलने वाला है उसका भी मिथ्या अभिप्राय दूर करना चाहिए अथवा जिसको इस तत्त्वमें कुछ संदेह हुआ है ऐसे संदिग्ध पुरुषका भी संशय मिटा देना चाहिए । तो यों चाहे कोई तर्क वितर्क करके प्रश्न कर रहा हो अथवा उसे वास्तवमें संदेह हुआ हो, हर स्थितिमें ऐसे श्रोताओंका संशय दूर करना चाहिये । अर्थात् इन दो प्रश्नोंका समाधान कीजिए कि बद्धता किसका नाम है और आत्मामें वास्तविक अशुद्धता भी कुछ हो जाती है ।

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी ।
तद्गुणाकारसंक्रातिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥७२॥

जीवके बद्धत्वका वर्णन—उक्त प्रश्नके समाधानरूपमें यह श्लोक आया है । आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविकी शक्ति भी है । यद्यपि शक्तियाँ सभी वस्तुस्वरूपकी सत्ताके लिए हैं, उसकी विशुद्धिके लिए हैं तथा शक्तियाँ स्वयं कोई भी विकारका स्वरूप नहीं रखती हैं, फिर भी यह वैभाविकी शक्ति जब उपयोगिनी होती है, विभाव अवस्थामें आने वाली होती है तब वहाँ आत्माके गुणोंकी संक्रान्ति हो जाती है अर्थात् जो आत्माके गुण हैं और आकार हैं उनकी बदल हो जाती है, गुण अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं । अर्थात् जो गुणका स्वरूप है और उनका शुद्ध कार्य है । उससे वह हट जाता है और यहाँ तक कि प्रदेशके आकारमें भी बदल हो जाती है । इस तरहका बंध हो जाता है । सो यह बंध अन्य उपाधिके कारणसे है । इस प्रकारका बंध होना आत्मामें वैभाविकी शक्तिके स्वभावसे नहीं है, किन्तु अन्य बंध कर्म उपाधिका सम्बन्ध है, तो कर्मविपाकमें इस प्रकारसे आत्माके गुणोंमें परिवर्तन हो जाता है । तो गुण भी बिगड़ा, आकार भी बिगड़ा, ऐसी स्थितिका नाम बंध कहलाता है । शङ्काकारके दो परिणमनोंमें से यहाँ स्पष्टरूपसे एक प्रश्नका उत्तर हुआ है कि बद्धताका अर्थ क्या है, पर इसके ही साथ दूसरे प्रश्नका भी उत्तर सहज हो जाता है, यही अशुद्धता है । आत्मा स्वभावसे जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें न रहकर स्वभावरूप अपनी व्यक्ति न बनाकर जो एक विपरीत व्यक्ति होती है उस ही का नाम अशुद्धता है अथवा स्पष्ट रूपसे यों कह लीजिए कि वैभाविक शक्तिका परिणमन कर्मोदयका निमित्त पाकर, रागद्वेषका निमित्त पाकर ये सब विभाव परिणमन होते हैं । इसीको वैभाविकी शक्तिकी उपयोगिनी अवस्था कहते हैं । जब बिभावरूप परिणमनको होता है ऐसी उसमें योग्यता होती है, वही उपयोगिनी दशा कहलाती है । उस अवस्थामें आत्मा अपने स्वभावके अनुकूल व्यक्ति नहीं कर पाता है और रागद्वेषादिक विभावोंमें बँध जाता है और उन भावोंके कारण यह पराधीन हो जाता है, अपनेमें कष्ट और कायरताका अनुभव करता है, यही बंधका यथार्थ स्वरूप है ।

तत्र वन्धे न हेतुः स्याच्छक्ति वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ।।७३।।

वैभाविकी शक्तिकी व उसके उपयोगकी बन्धमें अहेतुता व परायत्तताकी बन्धमें प्रयोजकता—उक्त श्लोकमें बंधका कारण वैभाविकी शक्तिको बताया है किन्तु बंधमें वैभाविकी शक्ति साक्षात् हेतु नही है और न उसका उपभोग भी बंधका कारण है, किन्तु पराधीनता बंधका प्रयोजक है । यदि वैभाविकी शक्ति ही बंधका कारण बन बैठे तो यह शक्ति तो नित्य है । जितनी भी शक्तियाँ होती है वस्तुमें वे सब उस वस्तुमें शाश्वत हैं । तो वैभाविकी शक्ति जब सदाकाल है तब सदा आत्मामें बंध होता रहेगा । आत्मा कभी युक्त हो ही न सकेगा, क्योंकि अब यहाँ वैभाविकी शक्तिको बंधका कारण मान लिया है, अथवा जीव किसी प्रकार मुक्त भी हो गया तो वैभाविकी शक्ति तो सदा है । शुद्ध अवस्थामें भी जो जीव है उसके भी वैभाविकी शक्ति है तब वहाँ भी बंध होने लगेगा, इस कारण केवल शक्ति बंधका कारण नही है, ऐसा देखा भी नही गया, युक्ति भी नही बताती, और केवल उपयोग भी बंधका कारण नही है । उपयोग तो शक्तिके परिणमनका नाम है । उपयोग शक्तिकी स्वभावदशामें भी है और विभाव दशामें भी है । अर्थात् जब रागद्वेषरहित शुद्ध परिणमन हो रहा है वहाँ भी वैभाविकी शक्तिका परिणमन है, वह स्वभावरूप है और जब रागद्वेषरूप परिणमन हो रहा है उस समय भी वैभाविकी शक्तिका उपयोग है तो उपयोगको भी बंधका कारण नही कह सकते है । क्योंकि उपयोग भी निरन्तर रहता है । शुद्ध अवस्थामें भी परिणमन तो है ही । वहाँ तो बंध नही होता । इससे सिद्ध है कि न तो वैभाविकी शक्ति बंधका कारण है और न उसका उपयोग, अर्थात् परिणमन बंधका कारण है, किन्तु बंधका कारण क्या है ? पुद्गल कर्मके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप उपयोग है बस वही बंधका कारण है तो ऐसा कहनेमें मुख्य बात यह आयी कि बंधके कारणमें पुद्गलकी मुख्यता है, उपाधिकी मुख्यता है । जीवमें वैभाविकी शक्ति तो है, पर पुद्गलका सम्बन्ध हो, उपाधिका सन्निधान हो, उस प्रकारका निमित्त योग हो तो वैभाविकी शक्तिका विभावरूप उपयोग होता है ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ।।७४।।

वैभाविकी नामक उपजीविनी शक्तिको बन्धहेतु माननेपर मुक्तिकी असंभवताका प्रसङ्ग—वैभाविकी शक्ति जीव और पुद्गलकी उपजीविनी शक्ति है अर्थात् उपजीवी गुण है । उपजीविनीका अर्थ है कि जो गुण भावरूप हो, जैसे जीवमें ज्ञान, सुख, दर्शन, शक्ति, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक अनेक गुण उपजीवी है, सद्भावात्मक है तो जिस तरह ये गुण उपजीवी गुण है उसी तरह वैभाविक गुण भी उपजीवी गुण है । ज्ञानादिक शक्तियों

की भाँति वैभाविक शक्ति भी सद्भावात्मक शक्ति है। तो जीवमें और पुद्गलमें जो वैभाविकी शक्ति है वह उपजीविनी शक्ति है। अब यहाँ विचार कीजिए कि यदि उपजीवी गुण भी बंधका कारण बन जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्ति असम्भव है। किसी प्रकार मुक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि जीवकी सत्ताका हेतुभूत जो भी गुण है वह गुण ही अब बंधका कारण मान लिया गया है और वह हमारे रहता है सदा काल। गुण द्रव्यकी सत्ताके लिए है, लेकिन गुण हो गया बंधके लिए तो जैसे जीवकी सत्ता सदा काल रहती है उसी प्रकार बंध भी सदा काल रहेगा, क्योंकि बंधको यहां स्वगुण निमित्तक मान लिया गया है। यह उपजीवी गुणोंकी बात है। तो उपजीवी गुणोंका प्रतिपक्षी है प्रतिजीवी गुण और प्रतिजीवी गुणका स्वरूप समझ लेनेसे उपजीवी गुणका स्वरूप और स्पष्ट समझमें आयगा। कुछ गुण कहलाते हैं प्रतिजीवी गुण कि जो गुण भावरूप नहीं हैं किन्तु केवल कर्मोंके निमित्तसे होने वाली अवस्थाके दूर हो जानेसे प्रकट हो गए हों उन्हें प्रतिजीवी गुण कहते हैं। जैसे जीवमें एक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। सिद्ध भगवानके अष्टगुणोंमें एक अगुरुलघुत्व गुण भी आता है, जिसका अर्थ है कि अब वे बड़े है न छोटे। न गुरु रहे, न लघु। यह अगुरुलघुत्व गुण उपजीवी गुण नहीं है। जीवमें कोई सद्भावात्मक सत्ता रखने वाला नहीं है। पदार्थ है, स्वरूपसे जैसा है सो है, उसको क्या गुरु कहा जाय और क्या लघु? यदि पदार्थकी सत्ताकी ओरसे निरखा जाय तो जैसे अणु वैसे ही सिद्ध वैसे ही धर्मादिक द्रव्य। सब अपने अपनेमें अपना स्वरूप रख रहे हैं। अगुरुलघुत्वकी बात ही क्या है किन्तु छद्मस्थ अवस्थामें, संसार अवस्थामें गोत्रकर्मके उदयसे यह जीव कभी उच्च कुलमें आता था, कभी नीच कुलमें आता था। तो यहाँ गुरु लघुका व्यपदेश चल रहा था, कभी गुरु हुआ कभी लघु, ऊँच नीच हो रहा था। जब गोत्रकर्मका अभाव हो गया तो गोत्रकर्मके क्षय हो जानेसे अब गुरु लघुपना जो हो रहा था वह कुछ न होगा। तो यों यह अगुरुलघुत्व जीवका प्रतिजीवी गुण हुआ, इसी प्रकार सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व आदि प्रतिजीवी गुणोको भी समझ लेना चाहिये।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥७५॥

वैभाविकी शक्तिके उपयोगसे भी बन्धकी अहेतुता—वैभाविकी शक्ति जिस प्रकार बंधका कारण नहीं है, क्योंकि यदि वैभाविकी शक्ति बंधका कारण हो जाय तो शक्ति तो उपजीवी गुण है, जीवमें सदा काल रहती है। सो मुक्त जीव भी हो जाय तब वहाँ भी बंध होने लगेगा, यह अनिष्ट प्रसङ्ग आता है। इस कारण वैभाविकी शक्ति बंधका कारण नहीं है। इसी प्रकार वैभाविकी शक्तिका उपयोग भी बंधका कारण नहीं है। उपयोगका अर्थ है शक्तिके अपने अर्थका, अपने विषयका अधिकार रखने वाली अभिव्यक्ति याने शक्तिके स्वरूपा-

त्मक जो व्यक्ति है उसका नाम उपयोग हैं । उपयोगका यहां सामान्यतया अर्थ है परिणमन । शक्तिकी जो व्यञ्जना है, परिणमन है, व्यक्तरूप है उसका नाम उपयोग है । तो शक्तिका व्यक्त रूप यदि बंधका कारण बन जाय तो प्रत्येक शक्तिका व्यक्तरूप तो होता ही है । शुद्ध अवस्था में भी वैभाविकी शक्तिका कोई न कोई व्यक्तरूप है ही । वह है स्वभावपरिणमन । तो वहाँ ऐसा स्वभावपरिणमन बंधका कारण तो नहीं होता । तो बंधका कारण न तो वैभाविकी शक्ति है और न वैभाविकी शक्तिका उपयोग है । बंधका कारण तो कुछ और ही है । क्या है इस अमूर्त आत्माके साथ मूर्त कर्मोंके बंधका कारण, इसी बातको अगली गाथामें स्पष्ट करते हैं ।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः ।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान् ।।७६।।

उपाधिसान्निध्य, स्वकीय अपराध व परायत्तताकी बन्धहेतुता—बंधका कारण-कलाप मिल जाने पर जो आत्माके गुणोंका जो बदल है, स्वरूप अवस्थाको छोड़कर विपरीत अवस्था में आना है अथवा अपने आकारकी पराधीनता है वही बंध है और उस बंधसे यह अपराधी होता हुआ जीव स्वयं बद्ध हो जाता है । इसका सारांश यह है कि जब बंधकें कारणकूट मिल जाते हैं, योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्म विपाक आदिक तो यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बंध जाता है । इसमें अपराधी आत्माको ही कहा जायगा, क्योंकि यह ऐसा संस्कार लिए हुए है, अज्ञानभावमें है, अशुद्ध स्थितिमें चल रहा है कि यही उसका अपराध है । अपराधका अर्थ है जो राधसे अप हो गया है । "अप" के मायने हैं अपगत, जो राध अर्थात् सिद्धिसे अपगत है, दूर है, बहिर्गत है, भ्रष्ट है वह भाव अपराध है । राधा और सिद्धि दोनोंका एक ही अर्थ है, क्योंकि "राधृ संसिद्धौ" धातुसे राधा शब्द बना है । तो जो आत्मसिद्धिसे च्युत है ऐसे परिणामको अपराध कहते है और यह अपराध जिन जीवों के पड़ा हुआ है अर्थात् अपनी आत्मोपलब्धिसे जो पतित है वह जीव अपराधी कहलाता है । ऐसा अपराधी यह आत्मा बंधके कारणकूट मिलनेपर स्वयं बंध जाता है और वहाँ बंधन यही है कि आत्माके गुणोंकी अवस्था बदल जाती है, अर्थात् सहजशक्तिके कारण जो सहज कार्य होना चाहिये था गुणोंका वह सहज कार्य नही होता, अर्थात् अपने गुणोसे च्युत हो जाता है ।

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा ।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ।।७७।।

पराधीनदशामें जीवकी पराधीनताकी सिद्धि—उक्त श्लोकमें यह बताया है कि यह जीव स्वयं अपराधी होता हुआ बंधके हेतुओंके मिल जानेपर बँध जाता है, अपराधी हो जाता है । उसके सम्बंधमें इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि संसारी आत्मा कर्मोके आधीन है, परतंत्र

हुआ है—यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु दृष्टान्तसे भली भाँति सिद्ध है। देखिये—जो आत्मतत्त्वको नहीं जान रहा है, शरीरमें ही आत्मबुद्धि किए हुए है ऐसा व्यामोही पुरुष ठंडके दिनोंमें किसी ठंडी चीजका स्पर्श करता है तो स्पर्श तो शरीर करता है, मगर वह कहता है कि मुझे ठंड लग रही है, अथवा गर्मीके दिनोंमें जब लू लगती है तो लू तो लगती है शरीरमें पर वह कहता है कि मैं गर्म हो गया हूं। तो जिस समय यह आत्मा ठंडी या गर्मीका अनुभव करने लगता है उस समय यह मूढ़ व्यामोही जीव अपने आत्माको ही ठंडा और गर्म समझने लगता है। तो यह मूढ़ता कैसे हुई ? ऐसी समझ तो न बननी चाहिये थी, आत्माके ही गुणोंमें जो क्रिया हो सकती है वही क्रिया आत्मामें हो रही है ऐसा अनुभव रहना चाहिए था, ज्ञान गुण बर्त रहा है तो जाननेकी बात मानता यह और ऐसा ही अनुभव करता, यह तो सही ढंग था, लेकिन जो बात जीवमें है ही नहीं, शीत, उष्ण, स्पर्श आदिक जीवमें होते ही नहीं और उनरूप अपनेको अनुभव कर रहा है तो यही तो सिद्ध कर रहा कि कोई विकट पराधीनता ऐसी है कि जिससे यह मूढ़ता बढ़ गई है और अपने आपको ठंडा गर्म आदि अनुभवने लगा है, जीव इन बाह्य वस्तुवोंके परतंत्र अपनेको समझता है। जैसे घरमें कोई बड़ा पुरुष है और वह शासन करता है तो बच्चे लोग अपनेको पराधीन मानते हैं कि मुझमें तो बड़ी पराधीनता है, पिता जिस तरह रखे रहना पड़ता है आदिक रूपमें जीव अपनेको पराधीन समझता है। मगर मूलमें पराधीनता तो देखिये—जहाँ बुद्धि ही बिगड़ गई, जैसा पदार्थ है वैसा न मानकर उससे विपरीत अनुभवनेकी बात जो लग गई है, यह कितनी विकट पराधीनता है और ऐसा होनेमें कितना विकट कोई कारण साथ लगा हुआ है, उस अपराधको देखिये—तो यह जीव अपराधी है यह बात स्पष्ट समझमें आ रही है।

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥७८॥

जीवकी परायत्तताके उदाहरणका स्पष्टीकरण—शीत और उष्ण ये दोनों गुण मूर्त पुद्गल पदार्थके हैं। सिद्धान्त शास्त्रमें कहा गया है और हमारे ये सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी बता रहे हैं कि ये शीत उष्ण आदिक पुद्गल द्रव्यमें हुआ करते हैं। जितनी भी स्पर्शकी पर्यायें हैं वे सभी पुद्गलमें हैं। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गलका लक्षण ही मूर्तता है। तो जैसे काला पीला आदिक रूप पुद्गलमें ही पाये जाते हैं, गंध, दुर्गन्ध, सुगन्ध पुद्गलमें ही पाये जाते हैं, अथवा खट्टा, मीठा आदिक रस पुद्गलमें ही पाये जा सकते हैं इसी प्रकार रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म आदिक स्पर्श भी पुद्गलमें ही पाये जाते है। तो हैं तो पुद्गलके ये गुण, पुद्गलकी पर्याय, पर किसी-किसी आत्मामें इन शीत उष्ण आदिक पर्यायोंका अनुभव चलने लगता है। यद्यपि यह बात त्रिकाल असम्भव है कि जीव ठंडा अथवा

गर्म बन जाय। जो गुण जिस द्रव्यमें नहीं है वह द्रव्य उस गुणरूप कभी हो नहीं सकता। लेकिन यह अज्ञानी व्यामोही जीव अपने आपका अनुभव तो ऐसा ही कर रहा है कि मैं ठंडा हो गया, मैं गर्म हो गया। मुझे विकट गर्मी लग रही····, तो भला इस संकटका भी तो अंदाज करो कि गर्म तो हो रहा शरीर और वह व्यामोही अपने आपको गर्म अनुभव कर रहा। यह क्या कम विपत्ति है ? अपने स्वरूपसे चिगकर विकार रूपमें आना, उल्टे ढंग में चलने लगना, यह तो जीवपर महान संकट है, और इसमें बड़ी परतंत्रता बसी हुई है। तो जीव परतंत्र है—यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु इस दृष्टान्तसे भली प्रकार सिद्ध है। देखिये ना—आत्मा यद्यपि अमूर्त है, उसमें न शीतपरिणमन हो सकता, न उष्ण परिणमन हो सकता, किन्तु कर्मविपाक इस भाँतिके हैं कि जिनका निमित्त पाकर यह आत्मा अपने आपको ठंडा मान लेता है और गर्म मान लेता है। तो उल्टी मान्यतामें बढ़ जाना यह जीवकी परतंत्रता ही तो है।

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥७९॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणमनविधि व सत्ताके विषयमें शंकाकारकी आशङ्कायें—अब यहाँ शंकाकार अपनी शंका रख रहा है। क्या वैभाविकी शक्तिका जो इस तरह परिणमन हुआ है विभावरूप सो दूसरेके निमित्तसे ही हुआ या दूसरेके निमित्तके बिना होता ही नहीं है ? शंका इन दोनों रूपोंमें एक ही है, उसको बड़ी दृढ़ताके साथ रखा जा रहा है। जीवमें जो रागद्वेषादिक परिणमन होते हैं और इस तरहसे जो विभावशक्तिरूप परिणाम जाते हैं तो क्या ये अन्य पदार्थोंके योगसे ही परिणमते हैं ? याने अन्य पदार्थोंके योग बिना विभावरूप परिणमन होता ही नहीं है क्या ? दूसरी शंका यह रखी जा रही कि क्या वहाँ ऐसी भी बात है कि वैभाविकी शक्ति वास्तवमें नहीं है ? अथवा क्या वैभाविकी शक्ति वहाँ वास्तवमें है ? इन शंकाओंमें दो प्रसंग वाली शंकायें हैं। एक तो यह कि वैभाविकी शक्तिका विभाव-परिणमन क्या कर्मके उदयमें ही होता है ? कर्मोंके उदय बिना नहीं होता है ? एक तो यह आशंका है। दूसरी आशंका यह की गई कि क्या वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है या नहीं ? इन शंकाओंका कोई आधार शंकाकारने समझा है। ज्ञान ज्ञेय का निमित्त पाकर ज्ञेयाकार रूप परिणाम जाता है तो ज्ञानकी स्वच्छता तो ज्ञानका स्वरूप था। अब वह नाना ज्ञेयोंके विकल्परूप, ग्रहणरूप जो परिणाम रहा है यह भी विभाव कहला सकता होगा ? ऐसी कुछ बात चित्तमें रखकर पूछ रहा है कि वैभाविकी शक्तिका विभाव-परिणमन क्या निमित्तके योगमें ही होता है अथवा प्रत्येक पदार्थका परिणमन उस ही पदार्थमें होता है, उसका षट्कारकपना उसीके साथ हुआ करता है, ऐसी बात भी रखकर

आशंका शंकाकारके चित्तमें उठी हो कि जब प्रत्येक पदार्थका परिणमन स्वयंकी षट्कारिकीय व्यवस्थामें है तो वैभाविकी शक्तिका यह विभावपरिणमन क्या परपदार्थके कारणसे हो गया है ? कुछ भी चित्तमें हो, शंकाकारकी यहाँ यह आशंका है कि विभावशक्तिका परिणमन क्या निमित्तके योगसे होता है ? निमित्त योग बिना नहीं भी होता है क्या ? दूसरी आशंका रखी गई है कि वैभाविकी शक्ति है अथवा नहीं ? इसमें भी शंकाकारने कोई आधार समझा ही होगा। प्रत्येक पदार्थमें परिणमन होते ही रहते हैं। तो परिणमन इसमें भी चला। इसमें फिर अन्य पदार्थोंसे अलग शक्ति माननेकी आवश्यकता क्या हुई ? अथवा वैभाविकी शक्ति यदि है तो सदा विभाव नहीं हुआ करता। नाम जब वैभाविकी शक्ति रखा है तो उसका कार्य भी तो यही होना चाहिए कि विभाव बना रहे, और इस व्युत्पत्तिसे वैभाविकी शक्तिका स्वभाव विभाव हो बैठेगा, आदिक बातोंकी उलझनसे यह आशंका बनती है कि है भी वैभाविकी शक्ति जीवमें या नहीं ? अब इन शंकाओंका समाधान किया जा रहा है।

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥८०॥

वैभाविकी शक्तिके अस्तित्वकी आशङ्काका समाधान—उक्त दोनों शंकाओंका उत्तर देनेके लिए यहां यह आवश्यक समझा गया है कि दूसरी शंकाका उत्तर पहिले दिया जाय। वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है या नहीं, इसका उत्तर पहिले हो जानेसे फिर यह उत्तर आसान हो सकेगा कि अन्य पदार्थोंके निमित्तसे वैभाविकी शक्तिका परिणमन विभावरूप हो जाता है। तब यहाँ उत्तर दिया जा रहा है कि वैभाविकी शक्ति वास्तवमें है और वह नित्य है, शक्ति होनेसे। जितनी भी शक्तियाँ होती हैं वे सब नित्य हुआ करती हैं। आत्माकी जैसे ज्ञान दर्शन आदिक अनेक शुद्ध शक्तियाँ हैं और वे नित्य हैं इसी प्रकार जीवमें जो वैभाविकी शक्ति है वह शक्ति भी शुद्ध शक्ति है और नित्य है। शुद्ध शक्तिका अर्थ यह है कि शक्तिका जो स्वरूप है वह स्वयं शक्तिमानके बिगाड़के लिए नहीं हुआ करता, अन्यथा स्वरूप ही न बन सकेगा। तो वैभाविकी शक्ति भी अन्य शक्तियोंकी तरह उपजीवी गुण है और शुद्ध शक्ति है, इसी कारणसे वह शक्ति नित्य है। यदि वैभाविकी शक्तिको नित्य न माना जाय तब तो आत्माका ही अभाव हो जायगा, क्योंकि किसी भी शक्तिके अभाव होनेपर शक्तिमानका अभाव हो जायगा। इसका कारण यह है कि शक्तियोंका ही पिण्ड तो पदार्थ है, अथवा उस पदार्थ में जो पदार्थके अनुरूप शक्तियाँ समझी गई हैं तो पदार्थकी अनुरूपता तब ही तो कहलायगी कि पदार्थ जब नित्य है तो ये समस्त शक्तियाँ भी नित्य हों। यदि उनमेंसे किसी भी शक्ति का अभाव किसी समय मान लिया जायगा तो वहाँ सत् पदार्थका ही विनाश हो जायगा, और इस तरह मान लो एक शक्ति गायब हुई, किसी समय दूसरी भी गायब हो जायगी तो

प्रथम तो बात यह है कि एक शक्तिका अभाव उस ही शक्तिमान पदार्थ ही नष्ट हो जायगा। और फिर शक्तियोंका अभाव यों होता जाय तो शक्तियोंके नाशसे शक्तिमान का अभाव है, का अभाव होना अवश्यंभावी है।

किन्तु तस्यास्तथा भावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥८१॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणमनविधिकी आशङ्काका समाधान—जीवमें जो अशुद्धता और बंध होता है उसका कारण क्या है? इस सम्बन्धमें चर्चा चल रही है। शंकाकारकी यह शंका थी कि क्या वैभाविकी शक्तिका परिणमन दूसरेके निमित्तसे ही होता है अथवा वैभाविकी शक्ति आत्मामें है या नहीं है? उसके उत्तरमें उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि जीवमें वैभाविकी नामक शक्ति है और वह नित्य है, किन्तु वह शक्ति स्वयं अन्य शुद्ध शक्तियों की तरह विकार भाव नहीं करती। तब होता क्या है—इस बातको इस श्लोकमें बताया जा रहा है। उस वैभाविकी शक्तिमें जो एक अशुद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है वह वैभाविकी शक्तिके शुद्धस्वभावसे नहीं किन्तु दूसरेके निमित्तसे होती है। जब उसका निमित्त नहीं रहता, तब उस शक्ति की शुद्ध अवस्था हो जाती है। इसका सारांश यह है कि जीवमें वैभाविकी शक्ति है और वह नित्य है और उसके परिणमन दो प्रकारके होते हैं—विभावपरिणमन और स्वभावपरिणमन। जब उपाधिका संयोग है, योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का योग है तब उस प्रकार जीवमें विभावरूप परिणमन होता है, और जब उपाधि नहीं रहती है तो परउपाधिके अभावमें शक्तियां स्वयं स्वभावरूपसे परिणत होती ही हैं। यह वैभाविकी शक्ति भी स्वभावरूपमें परिणत हो रही है। अर्थात् जीवकी फिर शुद्ध अवस्था होती है तो यों वैभाविकी शक्ति बंधका कारण नहीं हुई और न वैभाविकी शक्तिका उपयोग बंधका कारण हुआ, किन्तु परउपाधिके सम्बन्धमें ये विकार हुआ करते हैं, सो परनिमित्तके कारण वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणमन बना, पर निमित्त न रहेगा तो इसका स्वभावपरिणमन होगा, इसी बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

नासिद्धोसौ हि सिद्धान्तः सिद्ध संदृष्टितो यथा।
वन्हियोगाज्जलं चोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥८२॥

वैभाविकी शक्तिकी विभावपरिणतिकी अन्ययोगहेतुकताकी सोदाहरणसिद्धि—अन्य निमित्तसे वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणमन होता है—यह बात उक्त श्लोकमें कही गई है और यह भी दिखाया गया है कि निमित्तके अभावमें शक्तिका स्वभावपरिणमन हो जाता है, तो यह एक सिद्धान्त बना कि उपाधिके सम्बंधसे वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणमन होता है अर्थात् रागद्वेषादिक रूप परिणमन होता है और उपाधिके क्षयसे उपाधिके अभावमें वैभाविकी

शक्ति आत्मस्वभाव अवस्थारूप परिणमने लगती है। इस सिद्धान्तकी सिद्धि दृष्टान्त द्वारा की जा रही है। अग्निका निमित्त पाकर जल गर्म हो जाता है और अग्निके निमित्त बिना जल अपनी शीत अवस्थामें रहता है। यहाँ यह बात भी समझ लीजिए कि यद्यपि जल द्रव्य नहीं और ठंडा होना उसका स्वभाव नहीं तथापि जितने अंशके लिए दृष्टान्त दिया गया है उतनी ही बात दृष्टिमें रखकर यहाँ उत्तर देना है। जलका स्वभाव ठंडा माना गया है लोकरूढ़िमें व दृष्टान्तमें। तो जल स्वभावसे किसरूप रहना चाहिए ? ठंडा स्वभाव रहना चाहिए क्या यह भी कहा जा सकता कि जल स्वभावसे गर्म भी रहना चाहिये ? यह नहीं कहा जाता। तो अब इसका अर्थ यह हुआ कि जलमें स्वभावसे क्या सामर्थ्य है ? उत्तर मिलेगा कि जलमें स्वभावतः ठंडेपनका सामर्थ्य है। क्या यह कहा जायगा कि जलमें स्वभावतः गर्म होनेका सामर्थ्य है ? तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि स्वभावदृष्टिसे निरखा जाय तो जलमें गर्म होने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे यह कहा जा सकेगा कि जलमें गर्म होनेका सामर्थ्य है तब तो अग्निका संयोग पाकर जल गर्म हो गया। जहाँ गर्म होनेका सामर्थ्य न हो वह कितने ही निमित्त पा ले, पर उस रूप न बन सकेगा। यह बात व्यवहारदृष्टिसे कही जा सकती है। पर उसका अर्थ इतना ही है कि जलमें स्वभाव तो ठंडा होनेका है और स्वभावतः जलमें गर्म होनेका सामर्थ्य नहीं है। लेकिन जलमें ऐसी योग्यता होती है कि उपाधि अग्निके सम्बन्धसे जल गर्म अवस्थामें आ जाता है। तब इस स्थितिमें सामर्थ्य और योग्यता इन दोनों में अर्थभेद हो गया। सामर्थ्य तो स्वभावकी ओर संकेत करेगी और योग्यता स्वभाव विभाव दोनोंकी ओर संकेत करेगी, और तब यों कहा जायगा कि विभावरूपसे बँध जानेका सामर्थ्य पर्यायगत सामर्थ्य है, द्रव्यगत सामर्थ्य नहीं है।

पर्यायगत योग्यता व द्रव्यगत सामर्थ्यका सोदाहरण विश्लेषण—अगर पूछा जाय कि बताओ एक परमाणुमें एक मन बोझ लाद सकनेकी शक्ति है कि नहीं ? तो उत्तर यही होगा कि नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ कि एक परमाणुमें एक मन बोझ लादे रहनेका सामर्थ्य नहीं है। अच्छा ऐसे अनन्त परमाणु जब चौकी, टैक्स, बेंच आदिक रूपमें आ गए तो अब बतलाओ कि इनमें एक मन बोझको सम्हाले रहनेका सामर्थ्य है या नहीं ? उत्तर होगा कि सामर्थ्य तो है। तो एक परमाणुमें नहीं, दूसरे परमाणुमें नहीं। यों चलते जाइये उन अनन्त परमाणुओंमें, यह उत्तर आयगा कि बोझ लादनेका सामर्थ्य नहीं, तो फिर यह सामर्थ्य कहाँ से आ गया ? तब यहां सामर्थ्य और योग्यता ये दो विभाग करके उत्तर दिया जायगा। जब ये सब परमाणु एक चौकी रूपके स्कंधमें आ गए तो इस पर्यायके पानेपर योग्यता हुई कि मन भर बोझ लाद ले। तब व्यवहारदृष्टिसे यह भी कहा जायगा कि अगर मन भर बोझ लादने की सामर्थ्य एक परमाणुमें नहीं है, यों सभी परमाणुओंमें नहीं है तो फिर कभी भी बोझ

नहीं लाद सकता, पर यह उत्तर एक पर्यायगत सामर्थ्यकी दृष्टिसे है । तो इसी प्रकार यहाँ भी बात समझिये कि वैभाविकी शक्ति अथवा अन्य भी कोई शक्ति विकार बनानेका सामर्थ्य नहीं रखता है । फिर उसमें क्या सामर्थ्य है ? उसमें सामर्थ्य है शुद्ध स्वभावरूपसे परिणमनेका, लेकिन अशुद्ध अवस्थामें योग्यता ऐसी हुई जीवमें कि उन शक्तियोंका विभावपरिणमन होता है । तो यही बात यहाँ कही जा रही है कि उपाधिका संयोग पाकर वैभाविकी शक्तिका विभावपरिणमन होता है । न तो वैभाविकी शक्ति बंधका कारण है, न उपयोग बंधका कारण है, पर उपाधिके संयोगमें ऐसी योग्यता हो गयी कि बंधका कारण बन जाता है ।

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत् ।
एकः स्वभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ।।८३।।
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम् ।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ।।८४।।
सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणा पुद्गलात्मनाम् ।
अस्तु स्वभावकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ।।८५।।
अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ।।८६।।
दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगाद्विना चक्रं त्रित्रं वा व्यवतिष्ठते ।।८७।।

स्वभाविकी शक्ति व वैभाविकी शक्ति इन दोनोंको मान लेनेका शंकाकारका कथन—यहाँ शंकाकार कहता है कि उक्त विवेचनसे तो यह सिद्धान्त बना कि शक्ति तो वैभाविकी नामक एक है और उसके परिणमन दो प्रकारके हैं—विभावपरिणमन और स्वभावपरिणमन । एक तो है विभाव रागद्वेषरूपकी दशा, दूसरी है अनंत ज्ञान दर्शन आदिक स्वाभाविक अवस्था, ऐसा मान लिया गया है । तो जब यहाँ उसकी दो योग्यतायें मान लीं, शक्ति मान ली, परिणमन मान लिए गए कि विभावपरिणमन होता और स्वभावपरिणमन होता तब यहाँ दो शक्तियाँ ही क्यों नहीं मान ली जातीं कि जीवमें वैभाविकी शक्ति है और स्वाभाविकी शक्ति है ? स्वाभाविकी शक्ति तो अपने स्वभावसे बनती है, अपने स्वभावरूपसे परिणमती है, वैभाविकी शक्ति विभावोंसे बनी, ऐसी दो शक्तियाँ मान लेना चाहिए—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति और उनका काम भी अपने जुदे-जुदे हो गए । स्वाभाविकी शक्ति तो स्वभावपरिणमन कर देगी, वैभाविकी शक्ति विभावपरिणमन कर देगी, और ऐसा यहाँ चल भी रहा है । देखिये—पौद्गलिक कर्म हों अथवा न हों, स्वाभाविकी शक्ति तो सदा ही शुद्ध जीवोंमें प्रयोजित शाश्वत है । जब विभावपरिणमन हो रहे हों तब भी जीवमें स्वाभाविकी शक्ति है,

और जब विभावपरिणमन न हो तब भी जीवमें स्वभाविकी शक्ति है। जब विभावपरिणमन हो रहे हो तब भी जीवमें स्वाभाविकी शक्ति है, क्योंकि शक्तियाँ सब नित्य मानी गयी हैं। तो स्वाभाविकी शक्ति सदा काल रहती है, विभावपरिणमन हो तब भी है, विभावपरिणमन न हो तब भी है और कुछ ऐसा भी जान लिया जा सकता है कि स्वाभाविकी शक्ति तो शुद्ध अवस्थामें पूर्णरूपसे काम कर रही है। जहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द आदिक शुद्ध दशाये प्रकट हो गयी हैं वहाँ तो स्वाभाविकी शक्तिका पूर्ण सामर्थ्य विकसित हो गया है, पर उससे पहिले जितने अंशोंमें स्वभावपरिणमन हो रहा है, शुद्ध भाव बन रहे हैं उतने अंशोंमें स्वाभाविकी शक्ति यहाँ काम कर रही है अथवा जहाँ मान लो विभाव विशेष परिणाम रहा है, स्वभावका आवरण हो गया है तो मान लीजिए कि वहाँ विभावशक्तिका परिणमन चल रहा है, पर शक्तियाँ तो नित्य हैं, सदा काल रहती हैं। कभी कोई शक्ति अपना अनुकूल साधन पाये तो काम कर लेती है, अनुकूल साधन न पाये तो शान्त रहती है। तो शक्तियाँ तो दो मान लेनी चाहिएँ—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति। शंकाकार अपनी ये सब आशंकायें रख रहा है।

वैभाविकी शक्तिके पारिणामिकी व अपारिणामिकी होनेका शंकाकार द्वारा कथन—अब आगे वैभाविकी शक्तिकी बात देखो—वैभाविकी शक्ति भी जीवमें सदा काल नित्य है, रहती है। जब वहाँ कर्म उपाधिका संयोग होता है तो वैभाविकी शक्ति अपना परिणमन करने लगती है। वैभाविकी शक्तिका परिणमन है रागद्वेषादिकरूप परिणमन और जब उपाधिकर्मका उदय नहीं रहता है तब वह परिणमन नहीं कर रही है। इसमें आश्चर्य न करना चाहिए कि उपाधिका सन्निधान न हो तो शक्ति परिणमन न करे। ऐसा कैसे हो जाता है? देखो अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि जब निमित्तका सम्बंध होता है तब वह पदार्थ काम करने लगता है और जब निमित्तका सम्बन्ध नहीं रहता है तो वह पदार्थ काम नहीं करता है। जैसे घड़ा बनाने वाला कुम्हार चक्रको दन्डसे चलाता है जिस चक्र पर मृत्पिण्ड रखा जाता है, उस मृत्पिण्डको पसारा जाता है तो चक्र घूमते हुए की अवस्थामें उस पिण्डके पसरनेकी बात बनती है। तो चक्रको घुमाता है वह दंडेके सम्बन्धसे तो दंडके सम्बन्धसे चक्र घूम रहा है और घूम रहा है वह अपनेमें, अपने द्वारा, पर दंडका सम्बन्ध जब हुआ, दंडसे जब उसे घुमाया गया तब ही तो वह घूमा और जब दंडका सम्बन्व नहीं रहता तो दंडके सम्बन्धके बिना वही चक्र इस तरहसे शान्त हो जाता है जैसे कि भींतमें चक्रका चित्र बना दिया जाय तो भींतमें चक्रचित्र जैसे ज्योंका त्यों हैं ऐसे ही देख लो, जब कोई प्रेरणा नहीं है, दंडका सम्बन्ध नहीं है उस समय चक्र चित्र की तरह ज्योंका त्यों पड़ा हुआ है। शंकाकारकी इन आशंकाओंमें मुख्य भाव यह है कि शक्तियाँ दो मानी जानी चाहियें—स्वाभाविकी व वैभाविकी।

इसी मुख्य आशंकाके विकल्पको और सुनिये ।

शङ्काकारकी उक्त आशङ्काओंका आशय—शंकाकारका आशय है कि शक्तियां जीव में दो हैं—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति । जैसा कि साधारणतया लोग इस पर जल्दी विश्वास कर लेंगे कि शङ्काकार ठीक ही तो कह रहा है—देखो जीवमें रागद्वेषरूप परिणमनेकी भी तो ताकत है । वह हुआ वैभाविकी शक्तिका काम और जीवमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक शुद्ध दशाओंसे भी तो परिणमनेका सामर्थ्य है । वह हुआ स्वाभाविकी शक्ति का काम । तो ऐसा ही शंकाकारका यह आशय है कि जीवमें शक्तियां दो मानी जानी चाहिएँ और तभी दोनोंके काम अपने-अपने समयपर ठीक होते रहेंगे । वैभाविकी शक्तिकी वजहसे विभावपरिणमन हो जायेंगे, स्वाभाविकी शक्तिके कारण स्वभावपरिणमन हो जायेंगे पर मान लेनी चाहियें दो शक्तियाँ और वे दोनों शक्तियाँ जीवमें शाश्वत हैं, सदाकाल हैं । ऐसा नहीं है कि जब जीवमें रागद्वेषादिक विभावपरिणमन हो रहे हैं तब तो वैभाविकी शक्ति ही हो, स्वाभाविकी न हो और जब जीवमें केवल ज्ञानादिक शुद्ध परिणमन हो रहे हों तब जीवमें स्वाभाविकी शक्ति ही हो, वैभाविकी न हो सो ऐसा नहीं है । दोनों ही शक्तियाँ जीवमें सदाकाल रहती हैं । पर यह होता रहता है कि वैभाविकी शक्तिको जब उपाधिका संयोग मिला तो वह विभावरूप परिणम गया । नहीं मिलता है उपाधिका संयोग तो वह विभावरूप न परिणमेगा । शान्ति रहेगी, आराम करेगा, अनादिकालसे इतना तो परिश्रम किया वैभाविकी शक्तिने सो बेचारी थक भी तो बहुत गयी होगी । अब शुद्ध अवस्था जब आयी तो वैभाविकी शक्ति आराम कर ले । तो जब उपाधिका सम्बन्ध है तब उसका विभावपरिणमन चल रहा है । उपाधिका सम्बन्ध जब नहीं है तो वैभाविकी शक्ति नहीं परिणमन कर रही, इसके लिए एक लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है । और देखा भी जाता है, यहां भी देख लीजिए—किसी चीजको उठाकर फेंका जाय या पकड़कर हिलाया जाय तो हाथके सम्बन्धसे वह चीज हिल रही है । तो हाथका सम्बन्ध होनेसे उसमें हिलने रूप परिणमन चल रहा है । हाथका सम्बन्ध न रहे, उस चीजको एक जगह रख दीजिए और उस हिलते हुए हाथका सम्बन्ध न रहने दिया जाय तो वह चीज जहाँकी तहाँ रखी हुई है, उसमें हिलनेका परिणमन नहीं हो रहा है, तो यों ही जब उपाधिका सम्बन्ध न रहा तो विभाव शक्ति परिणमन नहीं कर रही, उस समय वह बेकार पड़ी हुई है । इस तरह शक्तियाँ दो मानी जानी चाहिएँ—स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकीशक्ति, ऐसा शंकाकारका यहाँ आशय है ।

नैवं चतोस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥८८॥

वैभाविकी शक्तिकी परिणमनशीलताका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें यह बताया जा रहा है कि कोई भी शक्ति परिणामरहित नहीं हो सकती है। तो वैभाविकी शक्ति कर्मोदयके अभावमें चक्रचित्रकी तरह कूटस्थ रह जाय, परिणामरहित रह जाय, यह बात संगत नहीं रह सकती। जितना भी शक्तिसमूह है, आत्मामें जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सभी निरन्तर परिणमनशील है। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो निरन्तर अपनी पर्यायें न बनाती रहे। फिर वैभाविकी शक्ति ही कैसे परिणमनरहित हो जायगी? शंकाकारका यह आशय था कि जीवमें शक्तियाँ तो दो मान ली जायें, स्वाभाविकी शक्ति और वैभाविकी शक्ति। स्वभावपरिणमन स्वाभाविकी शक्तिसे होता है और विभावपरिणमन वैभाविकी शक्ति से होता है। अब केवल प्रश्न यह रह जायगा कि सिद्ध अवस्थामें तो विभाव नहीं बन रहा है, तो शंकाकारका यह आशय है कि नहीं बन रहा है सो ठीक है, उस समय वैभाविकी शक्ति बेकार पड़ी हुई है, वह परिणमन नहीं कर रही है। इसके उत्तरमें यह बताया जा रहा है कि प्रत्येक शक्तियाँ निरन्तर परिणमन करती ही रहती हैं। वैभाविकी शक्ति भी अन्य शक्तियोंकी तरह नित्य और शुद्ध शक्ति है। वह भी निरन्तर परिणमनशील है। शुद्ध अवस्था में वह परिणमन न करे, शंकाकारकी ऐसी शंका करना व्यर्थ है।

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्ट्यभावतः ॥८६॥

शक्तिको अपरिणामिकी माननेमें प्रमाणका अभाव—द्रव्यमें जितनी भी शक्तियाँ होती हैं वे निरन्तर परिणमन करती ही रहती हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई शक्ति परिणमन करती रहे और कोई शक्ति परिणमन न करे। क्योंकि इस बातको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है कि कोई शक्ति कुछ परिणमन करे और कोई शक्ति परिणमन न करे, और न इसके लिए कोई दृष्टान्त भी मिल सकेगा। जो यह बताया है शंकाकारने कि दंडका जब सम्बन्ध न रहा तो चका स्थिर हो जाता है। फिर वह बेकार पड़ा रहता है। यह बात भी असिद्ध है। चक्र हिलने चलनेकी क्रिया नहीं कर रहा तो मत करे, किन्तु उसमें जो रूप, रस, गंध स्पर्श है या उसमें जो भी शक्तियाँ हैं वे सब शक्तियाँ अपना परिणमन कर रही हैं, वह चक्र परिणमनशून्य नहीं पड़ा हुआ है। तो इसी तरह कर्मका सम्बंध नहीं है तो उस स्थितिमें वैभाविकी शक्ति पड़ी रहे, परिणमन न करे सो बात नही है। उस समय वह शक्ति आत्मस्वभावरूपसे परिणमती रहती है। तो कोई शक्ति परिणमन करने वाली हो, कोई शक्ति परिणमन करने वाली न हो, ऐसा नहीं होता। चक्र अगर न हिला तो उसमें प्रदेश क्रिया नहीं हुई। हलन-चलन न रहा तो न रहा, पर अन्य शक्तियोंका परिणमन तो चल रहा और वहाँ वह क्रियामयी शक्ति एक उस स्थिर पदार्थके स्थिर स्वभावमें परिणम

रही है। तो ऐसा न हो सकेगा कि कोई शक्ति परिणमन करे और कोई शक्ति परिणमन न करे। जितनी भी शक्तियाँ हैं सभी निरन्तर परिणमन करती रहती हैं।

तस्माद्वैभाविकी शक्ति स्वयं स्वाभाविकी भवेत्।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥६०॥

निरुपाधिदशामें वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणमन होनेका निर्णय—उक्त कथन से जब यह सिद्ध हो चुका कि सभी शक्तियोंका निरन्तर परिणमन होता रहता है तब वैभाविकी शक्ति भी तो एक शुद्ध शक्ति है, वह भी जब समस्त कर्मोंका अभाव होता है तो अपने स्वभावसे प्रवृत्त हुई वह स्वाभाविकी क्रियामय हो जाती है। वैभाविकी शक्ति प्रतिक्षणमें परिणमनशील है और वैभाविकी शक्ति ही अवस्थाके भेदसे विभावमें है तो स्वभावमें भी कभी आता है। जब कर्मोंका सम्बन्ध है, उपाधिका उदय है तब वैभाविकी शक्तिका विभाव रूप परिणमन होता है और जब समस्त कर्मोंका अभाव होता है तब यह आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध भावोंसे परिणमता हुआ होता है। उस समय स्वाभाविकी प्रवृत्ति इसकी होती है याने वैभाविकी शक्तिका नाम तो है वैभाविकी, पर अर्थ यह न जानना कि उसका स्वभाव विभाव करना है। उपाधिके सम्बन्धसे उसका विभावपरिणमन होता है, पर शब्द को देखकर इस तरहकी बात न समझना चाहिए कि वैभाविकी शक्तिका स्वभाव तो विकार करना है। शक्तियाँ जितनी होती हैं वे सब सहज और शुद्ध होती हैं। हाँ कुछ पर्यायगत योग्यतायें ऐसी होती हैं कि उन पर्यायोंके रहते हुए तो योग्यता है और उन पर्यायोंके न रहते हुए योग्यता नहीं है, फिर भी कोई द्रव्यमें उन सर्वशक्तियोंकी कल्पना करे तो की जा सकती है। इस तरह केवल एक वैभाविकी शक्ति है, जिस शक्तिके अवस्थाभेदसे दो प्रकारके परिणमन होते हैं। एक स्वाभाविक परिणमन और दूसरा वैभाविक परिणमन। उन परिणमनों को सिद्ध करनेके लिए दो शक्तियाँ स्वाभाविकी और वैभाविकी अलग-अलग न मानी जानी चाहिएँ।

ततः सिद्धं सतोवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥६१॥

एक शक्तिकी दो अवस्थाओंकी सिद्धि—उक्त समस्त विवेचनोंका सारांश यह है कि इस जीव सहित पदार्थमें दो प्रकारकी शक्तियाँ जैसे प्रतीतिमें रहती हैं, पर वे शक्तियाँ क्या हैं? अवस्थाके भेदसे वह दो प्रकारका भेद बना हुआ है। अर्थात् जीवमें जो यह द्वैत चल रहा है, जीव कभी रागद्वेषरूप विभावपरिणमनमें है और कभी रागद्वेषरहित स्वभावपरिणमन में है, इस प्रकार जीवमें जो स्वसमय, परसमयका द्वैत चल रहा है वह द्वैत अवस्थाभेदसे है। स्वाभाविक और वैभाविक, इन दो शक्तियोंकी अपेक्षासे यह द्वैत नहीं है, याने इस द्विविधाको

देख करके दो शक्तियाँ मानी जायें ऐसी बात नहीं है। वस्तुमें एक समय एक ही परिणमन होता है, ऐसा हर जगह देख लीजिए। ज्ञानमें एक समय एक परिणमन है। दर्शन आनन्द आदिक सभी गुणोंमें एक समयमें अपना-अपना एक-एक परिणमन है। तो वैभाविकी शक्तिमें भी एक समयमें एक परिणमन होगा। अब वहाँ जो दो अवस्थायें हो रही हैं वे क्रमसे हो रही हैं, एक साथ नहीं हैं कि जीवमें स्वाभाविक परिणमन भी हो और वैभाविक परिणमन भी हो। इस तरहसे दो परिणमन नहीं हैं। जो कुछ भी यह परिणमन है वह वैभाविकी शक्तिका एक परिणमन है। इसी कल्पनामें यह बात लायी जा सकती है कि जीवके मानो ६० अंश राग न रहा, ४० अंश राग है तो वहाँ ६० अंश तो स्वाभाविकपरिणमन होगा और ४० अंशमें विभावपरिणमन है तो लो दो परिणमन तो हो गए, यह कल्पनासे देखा गया है। वस्तुतः दो परिणमन नहीं हैं। वैभाविकी शक्तिका वह एक परिणमन ऐसा है कि जिसे हम उस परिणमनको मंद विभावतामें यह देख रहे हैं कि इतने अंशमें स्वाभाविकपरिणमन है और इतनेमें विभावपरिणमन है। यह कल्पनासे समझा है, पर परिणतियाँ वहां दो हो गयी हों ऐसी बात नहीं है। जब समस्त कर्मोंके अभावमें वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणमन चलता है तो कर्मोंकी शिथिलतामें, मंद उदयमें या कुछ क्षयोपशममें ऐसी शक्ति आ जाय तो कहीं वह स्थिति दो परिणतियां न कहलायेंगी। जीवमें परिणति एक है और वह है विभावशक्तिका परिणमन तो स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ये दोनों अवस्थाभेदसे रहा करते हैं। गुणकी दृष्टिसे स्वाभाविकी और वैभाविकी एक साथ न माने जायेंगे। क्योंकि यदि उन्हें एक साथ मान लिया जाता है तो वे गुण कहे जायेंगे, पर्यायें नहीं कही जा सकतीं। पर्याय तो एक समयमें एक होती है। तब यह समझना चाहिए कि अवस्थाके भेदसे वहां दो अवस्थायें भेद, द्वैत पाया गया है—स्वाभाविक परिणमन और वैभाविक परिणमन, सो वे क्रमसे हुए हैं, एक साथ नहीं हुए हैं। तथ्य यह है जीवमें वैभाविकी शक्ति है और उसे यों समझ लीजिए कि जीव और पुद्गलके परिणमनेकी शक्ति तो है पर ऐसी विशेषताको लिए हुए परिणमनशील है कि अशुद्ध अवस्थामें उपाधिका सन्निधान पाये तो वह विभावरूप परिणम सकता है। बस उस ही भावशक्तिकी यह विशेषता विभावशक्ति शब्दसे बतला दिया गया है। जीवमें शक्ति तो वह एक है वैभाविकी शक्ति, पर कर्म उपाधिके सन्निधान और अभावमें उसके दो प्रकारके परिणमन हो जाते हैं।

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वैतस्य नयादपि ।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥९२॥

एक शक्तिकी दो अवस्थावोंके यौगपद्यका अभाव तथा क्रमशः दर्शन—यहाँ तक यह बात सिद्ध कर दी गई है कि वैभाविकी शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें होती हैं,

जो कि क्रमसे होती है, यह सिद्धान्त स्थापित किया था । अब यहां यह बात युक्तिपूर्वक विचार कीजिए कि वैभाविकी शक्तियोंमें जो अवस्थाभेदका द्वैत आया है यानें पर्यायकी अपेक्षा से स्वाभाविक और वैभाविक ऐसा द्वैतपना आया है तो वह क्रमसे आया है । यदि उनको एक साथ स्वीकार किया जाय तो इसमें बड़ा दोष आता है । जैसे मानो वैभाविक भाव और स्वाभाविक भाव दोनों एक साथ मान लिया तब यहां कार्य कारण भावका नाश हो जायगा । कार्य कारण भावका अर्थ यह है कि पूर्व पर्याय कारण होती है और उत्तर पर्याय कार्य होती है । जिसे इन शब्दोंमें कहा गया है कि पूर्व पर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्यायका उपादान कारण होता है, और यहां इतना तो समझा ही जा सकता है कि पूर्वपर्याय हुए बिना उत्तरपर्याय नहीं हो सकती । जैसे कि बंध और मोक्षकी बात है । बंधपूर्वक मोक्ष होता है या मोक्षपूर्वक बंध होता है । मोक्षसे पहिले बंध है या बंधसे पहिले मोक्ष है ? यह उत्तर होगा कि मोक्षसे पहिले बंध है । बंध न हो तो मोक्ष किसका बताया जाय ? तो जैसे मोक्षमें बंध कारण है, यहां कारणसे अर्थ पूर्ववर्तिता लेना है । यदि पहिले यह परिणति न होती तो अगले समयमें यह परिणति न हो सकती थी । इस आशयसे यहां कार्य कारण भावकी बात निरखना है । तो जब स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनोंको एक साथ मान लिया तो वहां कार्य कारण भाव न ठहरेगा । बात तो यह तथ्यभूत है कि वैभाविक अवस्थापूर्वक स्वाभाविक अवस्था होती है । जितने भी सिद्ध भगवंत हुए हैं उनकी पहिले बद्ध अवस्था थी । कर्मोंसे सिद्ध हुए । जबसे सिद्ध हुए उससे पहिले तो वे कर्मबन्धमें थे, बद्ध अवस्था थी । तो बंधन था, फिर आत्मसाधनाका उपाय बना और मुक्त हो गए । तो वह मुक्ति बंधपूर्वक हुई । तो ऐसी ही जो स्वाभाविक अवस्था आयी सिद्ध परमेष्ठीकी वह स्वाभाविक अवस्था वैभाविक अवस्थापूर्वक आयी है । पहिले विभाव अवस्था थी । जैसे कि मोक्ष संसारपूर्वक होता है, संसार था अब मोक्ष हो गया । तो जैसे मोक्ष संसारपूर्वक है और इन शब्दोंमें भी कहा जा सकता है कि मोक्षप्राप्तिका कारण संसार है । इसका अर्थ यह न समझना कि संसारके जो भाव हैं, अशुद्धता है, विभाव है, रागद्वेष है वह मोक्षके कारण हैं । यह यहां अर्थ नहीं है, किन्तु उत्तर पर्याय पूर्वपर्यायपूर्वक होती है । इस कारणसे उत्तरपर्यायका कारण पूर्वपर्याय है । तो मोक्ष है उत्तरपर्याय, संसार है पूर्वपर्याय तो संसारपूर्वक मोक्षप्राप्ति मान लो, यों संसार कारण मोक्ष का रहा । इसी तरह वैभाविकी अवस्थाके बिना स्वाभाविक अवस्था नहीं बन सकती । तो वहाँ इस न्यायसे कि पूर्वपर्याय पूर्वक उत्तरपर्याय होती है । यहां स्वाभाविक परिणमनको वैभाविक परिणमनपूर्वक कहा जायगा, और स्वाभाविकपरिणमन वैभाविकपरिणमनका कारण हो गया तो इस तरह कार्य कारणकी व्यवस्था होती थी, लेकिन जब स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनों एक साथ मान लिए गए तो वहां अब कार्य कारण भाव नहीं सिद्ध

हो सकता है । तो स्वाभाविक परिणमन और वैभाविक परिणमन दोनोंको एक साथ मान लेने पर दूसरा भी दोष है । वह दोष यही है कि बंध और मोक्षका भी अभाव हो जायगा । यहां क्रमसे दो अवस्थायें मान रहे थे तब तो बंध मोक्ष की व्यवस्था बन रही थी । पहिले वैभाविक अवस्था है उसके पश्चात् स्वाभाविक अवस्था हुई वैभाविक अवस्थामें बंध कहलाता, स्वाभाविक अवस्थामें मोक्ष कहलाता । वैभाविक अवस्थाको पहिले माननेसे बंधपूर्वक मोक्ष होता है यह बात सिद्ध हो जाती थी, पर अब तो स्वभावपरिणमन और विभावपरिणमन दोनोंको एक साथ मान लिया गया है । तो बंध और मोक्ष दोनों एक साथ बन बैठेंगे स्वभावपरिणमन व विभावपरिणमन । स्वभावपरिणमनमें मोक्ष कहलाया, विभावपरिणमन में बंध कहलाया । तो बंध और मोक्ष दोनों एक साथ हो गए । भला सोचो तो सही क्या दोनों एक साथ हो सकते हैं ? बंध है तो मोक्ष क्या ? मोक्ष है तो बंध क्या ? फल यह होगा कि दोनों ही न रह सकेंगे । बंधकी सत्ता रहते हुए मोक्ष तो नहीं होता । तो लो आत्माका मोक्ष कभी भी नहीं हो सकता है । अतः यह मानना चाहिए कि शक्ति तो एक है—वैभाविक शक्ति, पर उसके परिणमन दो होते हैं और वे क्रमसे होते हैं ।

नैक शक्ते द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादवाधितम् ॥९३॥

वैभाविकी शक्तिकी दोनों अवस्थाओंको युगपत् माननेमें दोषापत्तिका प्रसङ्ग—अब इस प्रसंगका निष्कर्ष बतानेके लिए यह अंतिम गाथा कही जा रही है । यद्यपि एक शक्तिके ही दो भेद हैं याने वह एक वैभाविकी शक्ति दो रूपोंको धारण करती है, परन्तु उस एक शक्तिके ये दो भेद एक साथ नहीं हो सकते । यदि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थाओंको एक साथ मान लिया जाता तो उसका अर्थ यही तो स्पष्ट हुआ कि वैभाविक अवस्था भी सदा बनी रहेगी और जब वैभाविकी अवस्था सदा हो गयी तब मोक्षका पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि विभावपरिणमन तो सदा ही रहेगा और मान लो किसी कल्पनामें किसी प्रयास द्वारा कुछ थोड़ासा मोक्ष बना लिया तो अब उस मोक्षका मूल्य क्या है ? वैभाविक परिणति तो सदा रहती है और मोक्ष भी वह क्या है ? एक थोड़ा कम राग हुआ और वैकुण्ठ जैसे नामसे मुक्ति मान लिया, लेकिन वह वैकुण्ठ एक नवग्रेवेयक जैसी स्थिति रही, जहाँ शुक्ल लेश्या है, कुछ शान्त स्थितिमें रहना है, लेकिन वहाँसे भी तो जीवको मरण करना होता है, नया भव धारण करना होता है । यदि वैकुण्ठ स्थिति भी सदा रही आये तो मोक्ष कुछ चीज न रहेगा और मोक्षके लिये प्रयास करना व्यर्थ हो जायगा । इस कारण यही सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि जीवमें एक वैभाविकी शक्ति नामका गुण है और उसकी उपाधिके सद्भावमें तथा उपाधिके अभावमें दो प्रकारके परिणमन होते हैं । [illegible]

तो विभावपरिणमन होता है, और उपाधिके अभावमें स्वभावपरिणमन होता है। ये दोनों परिणमन एक कालमें नहीं हो सकते।

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम्।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥६४॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥६५॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जडात्मम्।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥६६॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥६७॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत्।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥६८॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्पतः।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किं वा वतेति चेत् ॥६९॥

शंकाकारकी एक आशङ्काकी भूमिकामें वस्तुस्वरूपका विन्यास—शंकाकार अभी आगे की जाने वाली शंकाकी भूमिकारूपमें सिद्धान्त रख रहा है—जो भी सत् है वह अनादिसे सिद्ध है और सभीका सभी अहेतुक है। जब अनादि सिद्ध है यह बात विदित हो जायगी तो यह सहज ज्ञात हो जायगा कि वह अहेतुक है। जो कोई किसी हेतुसे उत्पन्न होता है वह अनादि नहीं हो सकता। पर्याय ही ऐसी है जो किसी कारण-कलापसे उत्पन्न होती है। तो पर्यायें अहेतुक नहीं हैं और इसी कारण वे अनादिसिद्ध भी नहीं हैं, पर जो सत् है वह सबका सब अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है, साथ ही यह भी जानें कि जैसे वस्तु अनादि सिद्ध है उसी प्रकार उनका नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है। नाम स्वतःसिद्ध यों है कि जबसे पदार्थ हैं तभीसे उनका ज्ञान करने वाले लोग भी चले आये हैं और जब पदार्थ हैं तो उनके सहायक शब्द भी हैं। भले ही ऐसा हो रहा हो कि किसी भाषामें कोई नाम है, कभी कोई नाम रखा हो, कभी कुछ, लेकिन जब वे वाच्य तत्त्व हैं तो उनका वाचक भी शब्द तभीसे चला आया। साथ ही नाम भी उनका अहेतुक है। किस कारणसे रखा है? रूढ़ि है ये अनादिसे पदार्थ है। अनादिसे उनका कथन चला आ रहा है, अनादिसे उनका नाम भी चला आ रहा है। तो जैसे वस्तु अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है इसी प्रकार नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है—यह बात होना आवश्यक है। यदि इसमें फर्क डाल दिया जायगा। किसी वस्तुको अनादि सिद्ध न माना जाय, अहेतुक न माना जाय, उनके नामको भी अहेतुक और स्वतःसिद्ध न

माना जाय तो सर्वसंकर दोष आ जाता है। सर्वसंकर दोषका अर्थ यह है कि सब आपसमें एकमेक हो गए, तब किसीका स्वरूप ही न रहेगा। जैसे वस्तुको अनादि सिद्ध नहीं माना जाता, वह किसी कारणसे है, किसी समय है, तो किसी समय कुछ बना दिया, किसी समय कुछ और जो बना वह दूसरे समयमें और कुछ बन गया। ऐसी अनेक विडम्बनायें बन जायेंगी। सत्को अनादि सिद्ध न माननेमें और अहेतुक न माननेमें सर्वसंकर दोष आता है। फल यह हुआ कि कुछ भी न रहेगा तो सर्वशून्यदोष आ जायगा। इस कारण यह मानना पड़ेगा कि अनादिसे सिद्ध और अहेतुक हैं समस्त पदार्थ और इसी तरह उनका नाम भी स्वतः सिद्ध है और अहेतुक है।

शंकाकी भूमिकामें वस्तुको अनादिसिद्ध व अहेतुक न माननेपर साङ्कर्य व शून्यतादि दोषको दिखाकर निर्णयका समर्थन—शंकाकार अपनी शंकाकी भूमिका बना रहा है। शंकाकार क्या कहेगा? यह बात अंतिम श्लोकमें बतायी जायगी, पर यहाँ यह सिद्ध कर रहा है शंकाकार अपनी भूमिकामें कि देखिये—पदार्थ अनादि सत् है और अहेतुक है। इसी प्रकार पदार्थोंका नाम भी स्वतःसिद्ध है और अहेतुक है। जब ऐसा कोई न मानेगा तो वहाँ संकर दोष होगा, सर्वशून्य दोष होगा और उसका फल होगा कि सर्वका अभाव हो जायगा। जो कि विनाशका कारण ही बनेगा और पदार्थका सत्त्व ही फिर न रहेगा, अतः यह मानना होगा कि वस्तु अनादि सिद्ध है और अहेतुक है। इस तरहसे जब यह बात सिद्ध हो गयी कि वस्तु अनादिसे सिद्ध है और अहेतुक है तो यह मानना होगा कि जो कुछ भी चेतन अचेतन जितने पदार्थ हैं वे सब अनादिसे सिद्ध हैं और अहेतुक हैं, अपने-अपने स्वरूपसे सबका सत्त्व है, और उनमें ऐसा ही स्वभाव है कि उनका परिणमन किसी दूसरेसे नहीं हो सकता। स्वतः ही उनका परिणमन होता है। यहाँ तक यह सिद्ध किया गया है शंकाकार द्वारा अपनी शंका जमानेके लिए कि वस्तु अनादि सिद्ध है, अहेतुक है, चाहे वह चेतन पदार्थ हो, चाहे जड़ पदार्थ हो, और इसी कारण सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे ही अस्तित्व रखते हैं, जिसका फल यह हुआ कि सभी पदार्थ अपने आपसे ही अपना परिणमन करते हैं। अब इस सब कथनका निचोड़ यह हुआ कि सभी पदार्थ स्वतःसिद्ध हैं और अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थका अंशमात्र भी ग्रहण नहीं करता और किसीके अंशको बिगाड़ भी नहीं सकता। यों समझिये कि कोई पदार्थ किसीके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव या किसी भी अंशको खा नहीं सकता, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जो पदार्थोंमें सीमा बनी हुई है उस सीमाका उल्लंघन नहीं हो सकता है। सभी पदार्थ अपने द्रव्यसे हैं, अपने क्षेत्रसे हैं, कालसे हैं और भावसे हैं। उनकी सीमा बिगाड़ी नहीं जा सकती है। यदि कोई पदार्थ किसीके द्रव्यसे हो जाय, किसीके क्षेत्र, काल, भावसे परिणम जाय तो इसके मायने हैं कि उस

पदार्थने दूसरे पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई अंश खा लिया है। अब उसमें फिर क्या रहेगा ? तो ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पदार्थ किसीके अंश मात्रको विगाड़ सके।

व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेपर जीवमें विभाव करनेकी कारणता मूर्तिक पुद्गल में ही क्यों है अन्यसे क्यों नहीं, यों वजहकी जिज्ञासाका शंकाकार द्वारा प्रश्न—जब कोई पदार्थ किसी अन्यका कुछ हड़प नहीं सकता तो अब शंका जो रखनी है वह कही जा रही है कि तब कर्ममें और जीवमें व्याप्यव्यापक भाव न रहा, क्योंकि कर्म अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, तो परस्पर व्याप्यव्यापक भाव तो न रहा। जीव स्वतंत्र सत् है, कर्म स्वतंत्र सत् है, एकका दूसरेमें कोई व्याप्यव्यापक सम्वंध नहीं है। जब कोई सम्वंध न रहा, दोनों ही स्वतंत्र सत् रहे तो यह वात तो वतलाओ कि मूर्तिमान पुद्गल कर्म विभावका कारण कैसे हो गया ? इसकी वजह तो वतलाओ कि कर्म जीवके राग-द्वेषका कारण कैसे वन गया ? जब जीव स्वतंत्र सत् है, कर्म स्वतंत्र सत् है, कर्मका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जीवमें नहीं है, जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्ममें नहीं है तब दोनोंकी सत्ता स्वयंसिद्ध है, भिन्न-भिन्न है। फिर क्या वजह है कि मूर्तिमान कर्म पुद्गल जीवके विभाव का कारण वने, और वहीं रहने वाले और पदार्थ जीवके विभावके कारण न वनें। शंकाकार का यह आशय है कि जब प्रत्येक वस्तु अपने आपमें परिपूर्ण है, स्वतःसिद्ध है तो एक वस्तुका अन्य समय वस्तुओंके साथ कुछ सम्वंध नहीं, अत्यन्ताभाव है। कभी भी तीन कालमें कोई पदार्थ किसी दूसरे द्रव्यरूप न वन सकेगा। तो जव एकका अन्य पदार्थोंसे सर्वथा ही अभाव है तो इस जीवके लिए जैसे कर्म हैं तैसे ही धर्मादिक द्रव्य हैं, और भी पुद्गल द्रव्य हैं, आत्मामें रहने वाले विस्रसोपचय रूप कार्माण वर्गणायें हैं। इस जीवके लिए तो अपने स्वके सिवाय बाकी सभी एक समान रूपसे पर हैं। तो जव जीवका किसी अन्यमें सद्भाव नहीं है, सम्बंध नहीं है तो वह वजह क्या है कि जीवके रागद्वेषका कारण कर्म वने, और और पदार्थ न वनें ?

सन्निकर्ष सम्बन्धके कारण जीवविभावमें कर्मकी हेतुताका समाधान देनेपर सम्बंधित विस्रसोपचयमें बन्धाकारणताके कारणकी शंकाकारकी जिज्ञासा—यदि कोई यहाँ यह समाधान देना चाहे, शंकाकार ही कह रहा है कि भाई जीवके साथ कर्मोंका सन्निकर्ष है, सम्वंध है, इस कारणसे ये कर्म जीवके वैभाविक भावके कारण वन जाते हैं। तो इसके उत्तरमें सुनो कि फिर उस ही जीवमें रहने वाली जो अन्य विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायें हैं उनका भी तो सन्निकर्ष है जीवके साथ। जीवका जब मरण होता है—एक भव छोड़कर अगले भवमें जाता है तो जैसे जीवके साथ वद्धकर्म साथ जाते हैं, कार्माणशरीर साथ जाता है उसी प्रकार विस्रसोपचय भी साथ जाते हैं। इतना तक तो घनिष्ट सम्बन्ध है विस्रसोप-

चयका जीवके साथ, फिर क्या वजह है कि कर्म ही जीवके विभावभावके कारण बनें ? और विस्रसोपचयरूप बसी हुई कार्माणवर्गणायें जीवके विभावका कारण न बने ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जब जीवसे सभी पदार्थ जुदे हैं तो उनमें कर्म ही कारण क्यों बन गया और कुछ कारण न बने, अथवा कोई भी कारण न बने ? क्या मामला है ? अब इस शंका के उत्तरमें कहते हैं—

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥१००॥
बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥१०१॥

उक्त शंकाके समाधानमें जीवकी स्वसम्बन्धी वर्गणाओंसे बद्धता हो सकनेका वर्णन— उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठायी है उसमें अनेक बातें सत्य हैं, फिर भी कर्म ही जीवके बन्धका कारण बना है यह भी प्रसिद्ध बात है। शंकाकार ने कहा कि समस्त वस्तुवें अनादिसे सिद्ध हैं, ठीक है और सारे सत् अनादि सिद्ध हैं और सभी सत् अहेतुक भी हैं और सभी सत् अपने आपके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं, किसी अन्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। भूमिकामें शंकाकारने जो जो कुछ कहा वह सब सत्य है, उसमें विवाद नहीं है, मगर यहाँ यह बात देखिये कि सभी जीव और पुद्गल बद्ध और अबद्ध तो नहीं होते। कोई चेतन बद्ध है और कोई मूर्तमान पुद्गल बद्ध है, और भी देखिये कि जागतमें केवल कर्मपरमाणु ही चीज नहीं है अनेक प्रकारके पुद्गल हैं। २३ जातिकी वर्गणायें बतायी गई हैं। पुद्गलकी वर्गणाओंमें प्रकार २३ होते हैं। इन कर्मपुद्गलोंमें से कुछ ही वर्गणायें जीवसे सम्बन्धित होती हैं। जो जीवसे सम्बधित होती हैं उनसे ही जीवका बन्धन बन सकता है और जिन जो जीवोंसे सम्बधित नहीं होते हैं उनसे जीवका बन्धन नहीं बनता। तो ऐसी उन २३ प्रकारकी वर्गणाओंमें से ५ प्रकारकी वर्गणायें हैं जो जीवसे बंध सकती हैं—आहारक वर्गणायें तैजस वर्गणायें, कार्माण वर्गणायें, भाषावर्गणायें और मनोवर्गणायें। आहारक वर्गणाका अर्थ है शरीरसे। जो नोकर्मके अणु शरीर हैं उनको ही आहार वर्गणा कहते हैं। तो ५ प्रकारकी वर्गणाओंसे जीवका बन्धन हो पाता है, सबसे नहीं। यह सब बात एक प्राकृतिक है। जो प्राकृतिक बात है उसमें भी कोई शंका करने लगे कि ५ प्रकारकी कर्म-कार्माणाओंसे ही जीव क्यों बँधता है, अन्य वर्गणाओंसे क्यों नहीं बँध गया ? स्वभाव ही क्यों ऐसा है ? यदि यों प्रत्येक बातमें तर्क उठाया जाय तो जो समाधान दिया जाय उसीमें तर्क उठा देना चाहिए। जो समाधान दे, ऐसा ही क्यों हुआ है ? फिर तो कोई व्यवस्था नहीं है। यह बात एक प्राकृतिक है कि जीवका बन्धन इन

५ प्रकारकी वर्गणाओंसे हो सकता है, अन्यसे नहीं हो सकता है।

विशिष्ट जीवका विशिष्ट कर्मवर्गणासे बन्ध होनेका वर्णन—अब इनमें भी यह बात देखी जा रही है कि कोई जीव इन वर्गणाओंसे बँधते हैं, कोई नहीं बँधते हैं। ऐसा भी तो है। सिद्ध भगवान किसीके बन्धनमें नहीं हैं, वे केवल अपने आपमें पूर्ण नग्न हैं। आत्मा उनका पूर्ण नग्न है। नग्नताका अभाव अर्थात् एक चीजपर दूसरी चीजका जमाव होना, पैदा होना, आवरण होना, यह बात वहाँ रंच भी नहीं है। पूर्ण आत्मा नग्न है, अपने सत्य स्वरूपमें व्यक्त है। उसके साथ किसी भी अणुका बन्धन अब नहीं रहा है। तो वहाँ तो बन्धन नहीं है, वह तो अबद्ध है, और यहाँ संसार अवस्थामें हम आप सब जीवोंको देख लीजिए बद्ध बन रहे हैं, तो बद्धता और अबद्धतामें तत्त्वतः भेद है, और जो जीव बद्ध है उसीके लिए ही कर्मबन्ध विभावके कारण बन सकते है। यहां इतनी बात विशेष समझनी चाहिये कि जीवके बंधका कारण कर्म है, विभावका कारण कर्म है, लेकिन ये कर्मबद्ध जीवके ही विभाव का कारण बन सकेंगे। अबद्ध जीवके विभावका कारण नहीं बन सकते। तो यहां दोनों प्रकारसे बात देखिये ना कि जीव बद्ध है, अशुद्ध है, वह स्वयं अपराधी है। तो जो स्वयं अपराधी है उसके ही बंधका कारण कोई हो सकता है। जो अपराधी नहीं है उसके बंधका कारण कोई दूसरा नहीं हो सकता है। लोकमें भी तो यही निरखा जाता है। कोई चोर है या किसी प्रकारका अपराधी है उसको ही बंधकी आशंका रहती है और उसके ही बन्धन बनता है। तो जीव अशुद्ध है और अनादिसे अशुद्ध चला आ रहा है, इस स्थितिमें जीवके बन्धन होते हैं। जीवके रागद्वेषादिक बन्धन होते है और उनका कारण यह कर्मविपाक होता है।

बद्धता और अबद्धतामें अन्तर तथा विजातीय होनेपर भी जीव और कर्ममें निमित्त-नैमित्तिक भावकी विशेषता—बद्धतामें और अबद्धतामें कोई वास्तविक ही भेद है। यों नहीं है कि जीव तो शुद्ध ही रहता हो, और जो कुछ भी बन्धन है, रागद्वेष है, अज्ञान है, मोहबुद्धि आदि हैं, ये सब किसी अन्य वस्तुके धर्म हुए। जैसे कि एक दार्शनिकने यह माना है कि जीव तो चैतन्यमात्र है, सदा शुद्ध है, उसमें परिणमन भी नहीं है और जितने भी अज्ञान, मोहबुद्धि, कल्पनायें, रागद्वेष शरीर आदिक जो भी हैं वे सब प्रकृतिके विकार हैं, प्रकृतिके काम हैं। सो ऐसा नहीं है कि जीव तो सदा मुक्त ही हो, अबद्ध ही हो, शुद्ध ही हो, और यहां ये ब बन्धन, रागद्वेष आदिक प्रकृतिके चल रहे हों ऐसा नहीं है। जो भी सत् होता है वह नरन्तर परिणमनशील होता है। जीव सत् है, ब्रह्म कहो या आत्मा कहो, यदि सत् है तो ह नियमसे परिणमशील है। उसमें परिणमन होता है। तो अनादिसे जीवमें अशुद्धताका रिणमन चला आया है। यदि जीवको अनादिसे शुद्ध मान लिया जाय तो शुद्ध जीवमें अशुद्धताका, बन्धनका कोई कारण ही नहीं है। तब तो किसी भी प्रकार यह अशुद्ध न हो

सकता था। हम आज अशुद्ध हैं तो हमारी आजकी यह अशुद्धता प्रमाणित करती है कि हम अनादिसे ही अशुद्ध चले आये हैं। तो जो अनादिसे अशुद्ध चला आया है ऐसे ही जीवके विभावके कारण कर्म बँधता है और जो कर्म इसके पूर्व अशुद्ध भावोंके कारण बँधा हुआ है, जिसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभागका भी बन्धन बना हुआ है, जिसमें यह बन्धन पड़ा है कि यह अमुक डिग्रीमें फल देगा, यह अमुक जातिका फल देगा। ऐसे ही कर्म इस जीवके विभावके कारण बनते हैं। तो यह विशेषता बद्ध और अबद्ध जीवकी है। तो जो अशुद्ध जीव है उसके ही विभावका कारण पूर्वबद्ध कर्मोंका उदय बनता है और ऐसी जो बद्धता है, जीव और कर्म इन दोनोंमें बंधन है, सो इन सब बातोंसे यह समझ लीजिए कि यद्यपि ये दोनों विजातीय पदार्थ हैं। जीव तो चेतन है। कर्म जड़ हैं, ऐसे विजातीय पदार्थ होकर भी इन दोनोंमें परस्पर जो बन्धन है तो निमित्तनैमित्तिक भावकी शक्तिसे बंधन है। इसमें ऐसी योग्यता है कि कर्मबन्धनका निमित्त पाये तो जीवमें रागादिक विभाव बंध जायेंगे और जीवमें रागादि विभाव होंगे तो इन कार्माणवर्गणाओंमें कर्मत्व पर्याय बंध जायगी, ऐसा इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव पड़ा हुआ है। इस कारणसे अत्यन्त विजातीय होनेपर भी एक दूसरेका निमित्त पाकर परस्परमें इनका बन्धन हो जाता है। तो यहाँ दो बातें विशेषतया ध्यानमें लाना है कि बद्धता और अबद्धतामें अन्तर है और बद्ध जीव ही कर्मका निमित्त पाकर रागद्वेष करता है और जीवके रागद्वेषका निमित्त पाकर उस उस रूप बंधने योग्य कार्माणवर्गणायें ही कर्मरूपसे बंध जाती हैं। तब शंकाकारका यह आश्चर्य करना व्यर्थ है कि जब जीवका परमें अत्यन्ताभाव है तो किस कारणसे कर्मबन्धन हुआ है ?

बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥१०२॥

बद्ध और अबद्धका विवरण—बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था-विशेषका नाम बद्ध है। बद्धका अर्थ है बँधा हुआ। जहाँ बंधे हुए की बात आती है वहाँ किससे बंधा हुआ ? इसके उत्तरमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा हो ही जाती है। जहाँ द्वितीय पदार्थोंकी अपेक्षा हो उसे उभय बंध कहते हैं और जहाँ अपने आपमें ही किसी द्वैत बुद्धिसे यहाँ ही अपेक्षा बन जाय वहां केवल बंध कहते हैं। तो दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषका नाम है बद्धभाव और जहाँ बंधे नहीं हैं दो पदार्थ स्वतंत्र हैं, निराले हैं उनकी अवस्थाका नाम है अबद्ध। जो स्वयं अपनेमें निरपेक्ष है वह अबद्ध है और जो किसी दूसरेका निमित्त पाकर अपने आपमें कुछ विशेष प्रभाववाला बनता है ऐसा जहाँ दोका बन्धन है उसे कहते हैं बद्ध। बंधन वहीं होता है जहाँ बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री मिल जाती है, तो अपनी अनुकूलता में ही बंध होता है। प्रतिकूल घटना हो अर्थात् बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न

हो तो वहाँ बंध नहीं होता। जैसे रागी पुरुप वहीं भी विषयभूत पदार्थको निरखकर उसमें बंध जाता है, किन्तु वीतरागी साधु ऐसे कितने ही पदार्थ सामने आते हैं किन्तु वह उनमें बंधता नहीं हैं। तो बंधन वहां होता है जहाँ बंधके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्री मिले। और जहाँ बंधके अनुकूल घटना सामग्री न हो, अपने उपादानमें उस तरहकी योग्यता न हो, बाह्यमें कर्म उपाधिका सन्निधान नहीं है वहाँ बन्धन नहीं होता है।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्य तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥१०३॥

भावबन्ध—पहिले ही यह बता दिया गया है कि बंध तीन प्रकारका होता है—भावबंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। जब जैसी दृष्टि लगाकर देखते हैं उस तरहकी बात समझमें आती है। जब केवल इस अवस्थामें भी जीवको ही निहार रहे हैं, जीव स्वयं सत् है, अपने आपकी गुण पर्यायोंका स्वामी है, अपनेमें ही अपना उत्पादव्ययध्रौव्य करता है, इसकी गुणपर्यायका, क्षेत्रका कहीं बाहर सम्बन्ध नहीं है और जैसे यह जीव सत् है तैसे ही अन्य पुद्गल सत् हैं तो ऐसे पुद्गलका भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हटकर अन्यमें सम्बन्ध नहीं जुड़ता। तो इस तरहका वस्तुस्वरूप है। तब कैसे कहा जाय कि जीव किसी अन्य पदार्थसे बँधा है, लेकिन देखा जो जा रहा है कि बँधा है, सुख दुःख भोगता है, रागद्वेष करता है, परके आधीन होता है। तो जहाँ केवल एक पदार्थपर दृष्टि दी जा रही है और उसकी अशुद्धताका भी आलोचन किया जा रहा है तो वहाँ यह निर्णय बनेगा कि यह जीव अपने अपराधसे ही पराधीन हो रहा है, किसी दूसरेके आधीन नहीं है। यह है केवल द्रव्यको निरखकर दृष्टिकी बात। इससे कहीं यह बात न बन जायगी कि वह उभयबंध गलत है। उस दृष्टिमें उसकी चर्चा होगी। अभी यहाँ सिर्फ जीवोंको निरखकर देखा जा रहा है। जीव बँधा है, कहाँ बँधा है? अपने विभावोंसे। अपनेमें राग इष्ट बुद्धि आदिक अपराध होते हैं उन अपराधोंसे यह यहीं रहता हुआ अपनेको कायर पराधीन दीन अनुभव करता रहता है, यही उसका बंधन है।

द्रव्यबंध—जब कर्मकी ओर दृष्टि देते हैं, कर्ममय बंधन है, तब बंधन तो है ही। जो उनमें द्रव्य है वह द्रव्य यदि अपनी एकाकी हालतमें होता तो उसमें भी प्रकृति स्थिति अनुभाग बंधकी विडम्बना न बनती। तो कर्मोंमें जो यह विषम विचित्र हालत हो रही है, कर्मरूप योग्य अब उनमें प्रकृति हो गयी, कोई विशेषता तो आयी। ऐसा नहीं है कि इसमें अविशिष्ट कर्मका निमित्त सन्निधान हो और जीवमें विशिष्ट भाव हो, विभाव भाव हो जाय वहाँ अनुकूल साधन होता है। कर्मोंमें भी विशिष्टता आयी। उनमें उस प्रकारकी प्रकृति पड़ गई कि ऐसा कर्मविपाक हो तो जीव इस तरहसे अपनी प्रवृति बना लेगा। तो उनमें प्रकृति है, स्थितिबंध भी है कि अब ये कर्म इतने समय तक इस आत्माके साथ बँधे रहेंगे। कुछ हुआ

ना बिगाड़। देखो—जब लड्डू आदिक भोजन थालीमें सजे हुए रखे हैं तो कितने सुन्दर प्रतीत होते हैं। उनकी शोभा भी बड़ी बन रही है, किन्तु उन्हें जब चबा लिया जाता है तबसे ही उनकी अवस्था बिगड़ रही है, विकृत हो रही है और पेटमें पहुंचनेके बाद उनमें ऐसा विपरिणमन हो जाता है कि अब लो भोजनका यह अंश मल, मूत्र, पसीना आदि बनेगा, यह खून इतने महीने कायम रहेगा, यह वीर्य इतने वर्ष कायम रहेगा और ये मल, मूत्र, पसीना आदि इतने घंटे कायम रहेंगे। उनमें जो ऐसी स्थिति पड़ गई है, अनुभाग बनता है कि खूनमें इतनी सामर्थ्य है, वीर्यमें इतनी सामर्थ्य है और मल मूत्रादिकमें इतनी सामर्थ्य है यह सब भी बन्धन बन गया। उनमें यदि मल मूत्रकी सामर्थ्य जो कि बहुत ही कम है वह यदि न हो तो भी जीवन न चलेगा। वैद्यक शास्त्रोंके अनुसार तो दो चार सेर मल तो हर व्यक्तिके पेटमें सदा भरा रहता है। यदि मल भरा न रहे तो इसका मरण हो जाय। तो वह मल मूत्रादि भी सामर्थ्यका ही कारण है। तो यह सब उस भोजनकी विडम्बना बन गई। बनी तो सही, इसी प्रकार उन कार्माणवर्गणाओंमें भी ऐसी विडम्बना बन जाती है कि अमुक कर्मपुञ्जकी प्रकृति इतने अंश बँधेगी, यह कर्म इतने समय तक जीवके साथ रहेगा। यह कर्म इतनी शक्ति का विपाक बनायेगा, और यहाँ इतने परमाणुओंका पुञ्ज बना हुआ है, यह स्पर्धक है, इतने निषेकका है। यह विडम्बना कर्मकी बन गई। क्या इसे बन्धन न कहेंगे ? तो जब उन कर्मों पर दृष्टि देकर उनके बंधनकी बात विचारते हैं तो वह सब द्रव्यबंध है।

उभयबन्ध—यों भावबन्ध स्वतन्त्र है, द्रव्यबंध स्वतन्त्र है, फिर भी ऐसा अपने आपमें रहने वाला बंध भी उभयबंधके बिना नहीं हो सकता। जीव और कर्मका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भावरूप बन्धन नहीं है। तो विभाव बंध भी न होगा और कर्म द्रव्यबंध भी न कहलायगा। तो उभयबंध भी है। अब निर्णय किया जा रहा है प्रमाणतः। जीवके विभाव का निमित्त पाकर द्रव्यकर्ममें बन्धन हुआ। द्रव्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विभाव का बन्धन हुआ। इस तरह तीन प्रकारके बंधोंका पहिले निर्देश कर आये हैं। उनमें से अब यहाँ उभयबंधकी बात कह रहे हैं। वे दो बंध तो स्वतंत्र हैं। केवल द्रव्यमें ही निरखे जाने वाले हैं, जो दो द्रव्योंके सम्बंधमें निरखा जाता है ऐसे उभयबंधका अब निरूपण करते हैं।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥१०४॥

उभयबंधका विवरण—द्रव्य एक दूसरेकी अपेक्षा लिए हुए जो जीव और कर्म इन दोनोंका सम्बंध हुआ है उसीको उभयबंध कहते हैं। कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष हुए, यह बात तथ्यभूत है। यद्यपि जीवका रागद्वेषकी ही योग्यताका परिणमन है, वह कर्मका परिणमन न कहलायगा, किन्तु ऐसा परिणमन होना जीवकी किसी शक्तिके ही कारण

नहीं है। उपाधि सन्निधान न हो तो ऐसा परिणमन नहीं होता। दर्पणमें बाहरी पदार्थको प्रतिबिम्बित करनेकी बात पड़ी हुई है, लेकिन बाहरी पदार्थोका प्रतिबिम्ब दर्पणकी स्वच्छता बिना नहीं आया। दर्पणमें उस प्रकारकी स्वच्छता न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता, पर साथ ही यह भी बात है कि उपाधि सन्निधान न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। सो तथ्य सब है लेकिन कोई केवल एक दर्पणको ही निरख करके देखे तो भी तो वह यह बता सकता है कि दर्पणमें जो यह प्रतिबिम्ब हुआ है यह दर्पणका परिणमन है, अन्यका परिणमन नहीं। लेकिन इस बातको मना नहीं किया जा सकता कि दर्पणमें यह प्रतिबिम्ब परिणमन मात्र दर्पणकी शक्तिसे नहीं हुआ है, वहाँ उपाधिका सम्बंध है तब दर्पणमें प्रतिबिम्ब परिणमन हुआ है। यदि शक्तिस्वभावसे ही प्रतिबिम्ब हुआ हो तो वह प्रतिबिम्ब सदा रहना चाहिए। किन्तु नहीं रहता सदा? उसका कोई उत्तर तो दिया जाना चाहिये। यह उत्तर देना कि दर्पणमें उस समयकी ऐसी योग्यता है यह तो केवल एक हठवादका उत्तर है। हो रहा है, दर्पणमें वह बात चल रही है, मानी जा रही है, देखी जा रही है किन्तु निर्णयकी बात निर्णय के ढंगसे होती है। तो कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें बंधन है और जीवके विभावका निमित्त पाकर कर्ममें बन्धन है। जीव तो कर्मसे बँधा हुआ है और कर्म जीवसे बँधे हुए हैं। यही परस्पर सापेक्ष उभयबंध कहलाता है।

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥१०५॥

बन्धके कारणका समीक्षण—इस गाथामें बंधके कारणपर विचार किया गया है। बंध क्या कहलाता है? जीवमें बंधन है—इसका भाव यह है कि जीवके गुण अपने स्वरूपसे चिगकर दूसरे रूपमें आ गए। बन्धका यही अर्थ है। जो उसमें स्वाभाविक था वह न रहकर कोई दूसरे रूप आ गया, यही कहलाता है बन्धन। हंस जब जंगलमें स्वतंत्र रहता है तो उसकी चाल देखिये कितनी सुन्दर होती है? ठुमक-ठुमककर चलता है, कैसी स्वच्छन्दता और साम्राज्यका अनुभव करता हुआ मस्त रहता है। वही हंस जब पिंजड़ेमें आ जाय, उसे समय पर खाना पीना दिया जाय, आराम सब दिये जावें, किन्तु वह मनचाहा विहार न कर सके, ऐसे बन्धनमें रहने वाले हंस की देखिये बन्धनके समयमें क्या गति हो गयी? अब उसकी वह मस्त चाल न रही। वह स्वतंत्र होकर अपने साम्राज्यका अनुभव करता हुआ नहीं परिणम रहा। उसकी चालमें अन्तर आ गया। तो हो क्या गया? अपनी स्वाभाविकतासे चिगकर अब यहाँ दूसरे ढंगमें आ गया। यही तो उसका बन्धन है, अन्यथा बतलाओ हंस अगर पिंजड़े में बन्द है तो भी उसपर बन्धन क्या? बन्धन नाम तो इसीका है कि अपने गुण स्वरूपसे चिगकर अन्य रूपमें आ जाय। इसीको वैभाविक भाव कहते हैं। यही हम आप लोगोंपर

संकट है । हम जैसे हैं, सहज हमारा जो स्वरूप है, सहज सत्त्व है, वह बना रहे, कोई संकट नहीं, पर उस स्वरूपसे चिगकर जब हम अन्यमें उपयोगी बनते हैं यही तो हमारे लिए संकट है अन्यथा यही तो करना है । अपने प्राप्त इस जीवनसे अनेक घटनायें ऐसी आती हैं कि जिससे यह चित्त क्रोधमें आ जाता है, कुछ अहंकारका परिणाम बन जाता है, कुछ अपनी पोजीशनका लोभ बन जाता है । उन अनेक घटनाओंमें भी हमें अपने स्वरूपकी सम्हाल रखना है । अगर किसी जीवने कुछ कह दिया तो उसपर हम क्यों यह आग्रह बना लें कि मुझे तो यों करना चाहिए और इसकी बात नहीं रहने देना है । अरे इसे उपेक्षाभावसे ऐसा तजें कि अगर कोई ऐसा परिणमता है तो परिणमे, हमें तो ऐसी हिम्मत बनाना है । पद-पदपर साहस बनाना है और अपने अन्तः इस निर्णयमें रहना है कि मुझको तो केवल दो ही कार्य हैं । जो व्यक्त शुद्ध परमात्मा हैं उनके स्वरूपका ध्यान बने और मेरेमें जो सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपमें उपयोग बने, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा काम मुझे नहीं करना है । हाँ यदि व्यवहार धर्मके नाते कोई काम किया जा रहा है तो उसमें जब इन दो बातोंका सम्बन्ध हो तब किया जाना चाहिए । तो क्या है बन्धन ? विभाव भावका आना—यही जीवके लिए बन्धन है और यही जीवका भाव कर्मके बन्धमें कारण है, और वही कर्म जो वैभाविक भावके निमित्तसे बँधा है वह जीवके विभाव भावकी निष्पत्तिमें कारण बनता है, तो परस्पर एक दूसरेका कारण बन रहा है, तो कह सकते कि परस्पर एक दूसरेके कार्य हो रहे हैं ।

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥१०६॥

विभाव और कर्मबन्धमें परस्पर कार्यकारण भाव—बंधके कारणोंपर जो उक्त श्लोकोंमें विचार किया गया है उसका सारांश यह है कि देख लीजिए कि जिस कर्मका यह विभाव-कार्य है, यह विभाव उसी कर्मका कारण बन जाता है । यहाँ जाति अपेक्षा बात कही गई है । कहीं ऐसा न समझना कि जिस कर्मोदयसे जो विभाव बना है वही विभाव भाव उस कर्मोदयका कारण बन जाय । देखिये विभाव भाव भी तो नवीन कर्मबन्धका कारण नहीं है साक्षात् रूपसे । तो नवीन कर्म भी तो कर्म ही कहलाते हैं और जब कर्मोंका उदय आता है तो नवीन विभाव होते हैं । सो वे भाव भी तो विभाव ही कहलाते हैं, ऐसा जानकर यह कह लीजिए कि विभाव कर्मोंका कारण है और कर्मका कार्य है । कर्म भी विभावका कारण है और विभाव कार्य है । यहाँ यह कारण कार्य भाव निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे कहा जा रहा है, परिणतिकी दृष्टिसे नहीं । वहाँ ऐसा एक नियोग है कि इस प्रकारकी प्रकृति उदयमें आये तो जीवमें इस प्रकारका विभाव निष्पन्न होता है । विभाव आया जीवके परिणमनसे, जीव पदार्थमें जीवकी योग्यतासे, लेकिन जीवने जो अपनेमें ऐसा प्रभाव बनाया है वह प्रभाव कर्मविपाकका

निमित्त पाकर बना है। जैसे स्थूल दृष्टान्त लीजिए—मैं इस चौकीपर बैठा हूं तो मेरे इस प्रकारके बैठनेमें यह चौकी निमित्त है। लेकिन चौकीने अपनी परिणतिसे मुझे बैठाया हो या मेरे बैठनेकी परिणति इस चौकीने की हो तब तो कहते कि चौकीने मेरे बैठनेकी परिणति कर दी, किन्तु ऐसा तो नहीं है। चौकी तो अब भी जैसी स्थूल पड़ी है अपने आपमें विराजी हुई मात्र है। उसमें उसकी कोई ऐसी बात नहीं आयी मुझमें कि बैठनेकी बात बन जाय। मैं ही खुद सब समझ रहा था कि इस चौकीपर हम बैठ सकते हैं तो हमने ही अपने आपमें अपनी क्रिया करके इस प्रकारकी बैठनेकी परिणतिका परिणाम किया है। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक भावसे देखा जाय तो मेरे बैठनेमें चौकी निमित्त है, पर उस निमित्तका इस मुझ आत्मामें क्या आया ? सो बताइये। इसी प्रकार कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेषादिक विभाव हुए हैं। यह बात अवश्य है कि जीवके विभावपरिणमनरूप प्रभाव कर्मविपाकका निमित्त पाकर हुआ है परन्तु वह प्रभाव कर्मका नहीं है। कर्म तो वहाँ निमित्त मात्र है। प्रभावरूपसे जो बना वह प्रभाव उसीका है। तो इस तरह यद्यपि परिणतिकी दृष्टिसे जीव और कर्ममें कारण कार्य भाव नहीं है, पर निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे निरखा जाय तो विभाव कर्मका कार्य है और विभाव कर्मका कारण भी है। इसी प्रकार वह कर्मबन्ध, वह कर्म अवस्था विभावका कार्य है और विभावका कारण भी है। इस तरह जीव और कर्म परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावमें सापेक्ष होते हुए बँधे चले आ रहे हैं, यह अनादिसे परम्परा चली आ रही है। जिस ही समय जीव भेदविज्ञान करेगा और कर्म, कर्मसम्बंध, विकार—इनसे उपेक्षित होकर विभावमें दृष्टि करेगा, तबसे इसका मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जायगा।

तथाऽऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः।
स्वाकाराकारसंक्रान्तः कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥१०७॥

उदाहरणपूर्वक एक ही पदार्थमें कार्यकारणभावका प्रकाशन—जीवका विभाव कर्मबन्धका कारण है और कर्म जीवके विभावका निमित्त है। इस बातको उक्त श्लोकमें बताया गया था और वहाँ यह भी स्पष्ट कहा गया था कि यह जातिकी अपेक्षा कार्यकारणभावकी बात कही गई है, क्योंकि जो ही विभाव किसी कर्मका कारण है वही विभाव उस कर्मबन्धका कारण नहीं है, और जो ही कर्मविपाक जिस विभावका कारण है वही कर्म उस विभावका कार्य नहीं है। रागद्वेषादिक विभावोंके निमित्तसे नवीन कर्मका बन्ध होता है और कर्मोदयके निमित्तसे नवीन विभाव उत्पन्न होते हैं, फिर भी विभावकर्मका कारण है और कर्मका कार्य है, कर्मविभावका कारण है और विभावका कार्य है यह सामान्यतया सिद्ध हो जाता है। इसी बातको इस श्लोकमें उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया गया है। जैसे दर्पणमें मुख देखनेसे चक्षुका

प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ जाता है। अब उस समय निरख लीजिए अपने प्रतिबिम्बमें कारण वह चक्षु है याने दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है वह किस निमित्तसे आया है? आँखके निमित्तसे आया है, आंखसे वहाँ प्रतिबिम्ब आया है। तब आँख तो कारण हुआ और प्रतिबिम्ब कार्य हुआ। यह निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे कहा जा रहा है। अब देख लीजिए कि वही चक्षु के आकारको धारण कर रहा, वह चक्षुप्रतिबिम्ब अपने देखनेमें कारण भी है याने हमने चक्षुको देखा कैसे? यदि चक्षुमें कोई कीचड़ लगा है या कोई फुंसी है तो उसको हम कैसे देख पाते हैं? दर्पणमें देखते हैं तब समझ पाते हैं, तो दर्पणका वह प्रतिबिम्ब अब चक्षुके देखनेमें कारण बन गया है। जब आँखोंसे दर्पणको देखते हैं तो वहां चक्षुका आकार दर्पणमें आया, इस कारणसे तो वह आकार चक्षुका कार्य कहलाया, क्योंकि चक्षुके निमित्तसे वह प्रतिबिम्ब बना है लेकिन उसी आकारको जब हम अपने चक्षुसे देखते हैं तो वह आकार इस चक्षु के देखनेमें, उस चक्षुका अस्तित्त्व बतानेमें कारण बन रहा है। तो एक ही पदार्थमें कारण कार्य भाव है—यह बात इस दृष्टान्त द्वारा कही गई है। ऐसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए कि वही आत्मविभाव कारण बन रहा है कर्मबन्धका और वही आत्मविभाव कर्मविपाक का कार्य बन रहा है। ऐसे ही कर्मके सम्बन्धमें भी घटित करना चाहिए। कर्मबन्धमें विभाव का कार्य है और कर्म विभावका कारण भी है।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा।
....॥१०८॥

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥१०९॥

अचेतन मूर्त पौद्गल कर्ममें व जीवभावविकारमें प्रत्युपकारकत्वकी भांति परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध—उक्त प्रकरणमें यह बताया है कि जो अचेतन पौद्गलिक मूर्त कर्म हैं वे जीवके विभावका कारण हैं, क्योंकि पूर्वमें जो कर्म बंधे थे उनका जब उदयकाल आता है तो उस उदयकालके निमित्तसे यहाँ जीवमें रागद्वेषादिक विभाव होते हैं। तो यों द्रव्यकर्म जीवके विभावका कारण बना और उस द्रव्यकर्मका कारण वह पूर्वका वैभाविक भाव था और यह जो अब विभाव हुआ है वह नवीन कर्मका बंध कर रहा है। तो इसमें जो परस्पर कार्यकारणपना है वह इस प्रकार है कि मानो एक दूसरेका परस्पर उपकारका बदला चुका रहे हों। जीवमें विभाव होते जा रहे हैं तो विभावका कुल चल रहा है। उस कुलकी रक्षा ये द्रव्यकर्म कर रहे हैं और द्रव्यकर्म बँधते जा रहे हैं। उनकी रक्षा याने द्रव्यकर्म रहे आयें उनकी रक्षा ये विभाव कर रहे हैं। तो मानो इन दोनोंमें बड़ी मित्रता हो गयी कि वे एक दूसरेका भला चाह रहे हैं। विभाव खतम न हो जायें, विकार बने रहें, ऐसा तो विकारों

का अस्तित्व बना रहना यह कर्मने किया और कर्म बराबर बँधते चले जायें, इस तरह कर्म-कुलका बढ़ावा इन विभावोंने किया। तो मानो ये परस्पर एक दूसरेके उपकारका बदला ही दे रहे हों। इसको इस ढंगसे निरख सकते। जैसे समयसारमें आया है कि आत्मा प्रकृतिके अर्थ उत्पन्न होता और विनष्ट होता और प्रकृति भी आत्माके अर्थ उत्पन्न होती और विनष्ट होती। यहाँ अर्थका अर्थ निमित्त लिया जाता है तो उसका अर्थ यों हुआ कि जीव कर्मके लिए विभाव भावोंसे उत्पन्न होता और विलीन होता और कर्म जीवके विभाव भावोंके लिए उत्पन्न होता और विनष्ट होता। एक दूसरेमें निमित्त है पर यहाँ मित्रताके ढंगसे देखो तो प्रकृति जो उत्पन्न और विनष्ट होती है, कर्मका बंध होना, उदय होना, कर्ममें ये सब श्रम होना यह जीवविभावकी भलाईके लिए हो रहा है कि विभाव कहीं नष्ट न हो जायें, उनकी देखरेख और उनकी रक्षा ये कर्म कर रहे हैं। इसी प्रकार जीव विभाव कर्मके लिए उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। और ये कर्म कहीं हट न जायें और नष्ट न हो जायें, इनकी परम्परा बनी रहे, इनका कुल बढ़े इसके लिए ये जीवविभाव अपना उत्पाद विनाश कर रहे हैं। तो यों मानो इन दोनोंमें परस्पर उपकारका बदला चुकानेकी बात बन रही है।

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥११०॥

जीवविभाव व पौद्गल कर्ममें परस्पर कारणताका कारण—जीव विभावमें और द्रव्यकर्ममें परस्पर कारणता क्यों हुई है? इस बातका संकेत इस श्लोकमें किया जा रहा है। जीवविभाव क्या चीज है? जीवमें विकारपरिणमन हो जाना यही तो वैभाविक भाव कहलाता है। शुद्ध अवस्थासे चिगकर जो विकार अवस्था जीवमें आती है वही जीवका वैभाविक भाव है और उस वैभाविक भावके निमित्तसे यह द्रव्यकर्म जो कि अत्यन्त पृथक् हैं, उनका बंध होता है। तो वैभाविक भाव तो पुद्गलकर्मके लिए निमित्त बना और पुद्गलकर्म वैभाविक भावके लिए निमित्त बना। यद्यपि ये दोनों परस्पर विपरीत स्वभाव रख रहे हैं। पुद्गल कार्माणद्रव्य तो जड़ पदार्थ है और जीव चैतन्यस्वरूप है, लेकिन जीवमें जो अशुद्ध भाव हैं उन अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर ये कर्म खिच-खिच कर या अकर्मरूप अवस्थाको तजकर कर्मरूप हो जाया करते है। फिर ये कर्म बंध गए और बंधनेके साथ ही इनमें स्थिति पड़ गई। अब उदयकाल जब आता है तो ये ही जड़ कर्म चैतन्यके भावोंके बिगाड़नेमें कारण बन जाते है। यों इनमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है। तो यों जीवविभाव और पुद्गलकर्म इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव बन रहा है। इस कारणसे जीव परतंत्र बन रहा है, कर्म भी परतंत्र बन रहा है। यद्यपि जीव और कर्ममें जो अवस्था बन रही हैं वह अवस्था उनकी उनमें हो रही है, किन्तु यह परतंत्रता आयी क्यों? इसका कारण बताया

है कि इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। इस ही बातको अब अगले श्लोकमें स्पष्ट करते हैं।

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥१११॥

जीवविभाव व पौद्गलकर्ममें कारणता होनेमें उभयबन्धकी कारणरूपता—जो कुछ जीव और कर्मके बंधके सम्बन्धमें बताया गया है वह सारी विडम्बना प्रत्येककी उनकी उनमें हो रही है। लेकिन ये सब कुछ उभयबंधसे बाहर नहीं हैं, अर्थात् उभयबंध हुए बिना जीव और द्रव्यकर्ममें भाववंध और द्रव्यबंधकी बात नहीं बन सकती। बंध ३ प्रकारका बताया गया है—भाववंध, द्रव्यबंध और उभयबंध। भावबन्धका अर्थ है जीवमें विभावोंका बन्ध होना। तो वहाँ बन्ध किसका है? तो बन्ध समझानेके लिए दो बातोंको समझना ही पड़ेगा। जो भावबन्ध समझना है तो स्वभाव और विभाव इन दोनोंको सामने रखें। स्वभाव में विभावका बन्ध है अर्थात् जीवमें विभाव परिणाम आये हैं। जीव एक ध्रुव चीज है और उसमें ये विभाव आये हैं। यह उसका बन्ध है। इस प्रकार द्रव्यकर्ममें भी बन्ध हो गया है। तो द्रव्यबन्ध जरा यों झट समझमें आता है कि वे अनेक पुद्गल परमाणु हैं। तो अनेक पुद्गल परमाणुओंका मिलकर बन्ध जाना यह एक बन्ध है, लेकिन यह तो सभी स्कंधोंमें होता रहता है। उसकी यहाँ प्रमुखता न लेना, किन्तु उन पुद्गलकर्मोंमें भी जो कर्मरूपता आयी है केवल अकर्मरूपताकी अवस्थासे हटकर कर्मरूपताकी अवस्थाका आना यह उनमें द्रव्यबन्ध है। तो यों भाववन्ध जीवमें है, द्रव्यबन्ध कार्माणवर्गणाओंमें है, फिर भी यह विडम्वना उभयबन्धके बिना नहीं हो सकती।

उभयबन्धके बिना जीवविभाव व कर्ममें कारणता माननेपर दोषापत्तिका प्रसङ्ग—यदि उभयबन्धके बिना ऐसी विडम्बना बन जाय या समझिये कि बिना कर्मरूप अवस्था धारण किए ही यदि ये कर्म पुद्गल जीवके विकारका कारण बन जायें, इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक बन्धन और उभयबन्धनकी बात न निरखकर जीवके भावबन्धको माना जाय तब तो इस जीवमें चिरकालसे विस्रसोपचय स्कंध भी पड़े हुए हैं। वे विस्रसोपचय कार्माणवर्गणा जातिके हैं। तो उन विस्रसोपचयके कारणसे फिर बन्ध क्यों न हो लेगा? जब उभयवन्ध नहीं माना जा रहा और कर्मरूप पुद्गल अवस्था न हो तब भी जीवमें विभाव मान लिया गया। एक अविशिष्ट साधारण कर्म ही बन्धके विभावके कारण हो गए तो जीव में ही तो बहुत कालसे विस्रसोपचय बैठे हुए हैं। वे क्यों नही विभावभावके कारण हो जाते हैं? विस्रसोपचयका अर्थ है—स्वभावसे ढेर लगा रहना। तो जो पुद्गलपरमाणु याने कार्माण स्कंध कर्मरूप तो न बनें, किन्तु आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें हैं और कर्मरूप परिणत होनेके

लिए तत्पर रहते हैं, कर्मताके पात्र हैं ऐसे पुद्गल परमाणुओंका जो स्कंध है उसे विस्रसोपचय कहते हैं। तो विस्रसोपचय बन्धरूप अवस्था नहीं है याने उनकी कर्मसंज्ञा नहीं है, लेकिन जीव जिस समय कषायभाव करता है तो आत्माके उन रागद्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर ये विस्रसोपचय और उसीके साथ और भी कार्माणवर्गणायें ये कर्मरूप हो जाते हैं। तो यों कर्मरूपता आनेपर वहाँ कर्मसंज्ञा हो जाती है और ऐसा कर्मत्व आनेसे पहिले तो उनकी कार्माण संज्ञा थी। वे कार्माण कहलाते थे और अब कर्मरूप होनेपर इसे कर्म कहेंगे। कार्माण शरीर कहेंगे। तो ये विस्रसोपचय तो इतने भरे पड़े हैं इस जीवके क्षेत्रमें कि जितने कर्म बंधे हुए हैं उनसे भी अनन्तगुने हैं। विस्रसोपचय कार्माणवर्गणाकी गणना बद्धकर्मसे अनन्त गुनी है। तो इतने ये विस्रसोपचय भरे हैं और जीवके साथ ही बने रहते हैं कि जीव जहाँ जाय तो ये विस्रसोपचय भी जायें। मरण करके अन्य गतियोंमें जन्म ले तो ये उसके साथ भी जायें, ऐसा एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, फिर भी विस्रसोपचय जीवके विभावका कारण नहीं बनता है। तो अब उभयबन्ध न माना जाय और कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त कर्म माने बिना ही जीवमें विभाव मान लिया जाय तो इस विस्रसोपचयके निमित्तसे भी जीवमें विभाव भाव हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि जो विभाव की विडम्बना है और कार्माणवर्गणायें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बंधमें विडम्बना हैं सो ये उनकी उनमें हो रही हैं, फिर भी उभयबंधसे बाहर ये घटनायें नहीं हैं।

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात्।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्याद्द्वैतात्स्वतोन्यतः ॥११२॥

बद्धताकी अविनाभाविनी अशुद्धता—जीव बद्ध है—यह बात इस प्रसंगमें कैसी जोड़ी जा रही है? तो वहाँ यह भी समझना चाहिए कि आत्माकी जहाँ बद्धता है उसी समय वहाँ अशुद्धता भी है। बद्धता और अशुद्धता इन दोनोंका परस्पर अविनाभाव है, ऐसा नहीं है कि आत्मा अशुद्ध तो नहीं है और बद्ध है, और यह भी नहीं है कि आत्मा बद्ध तो नहीं है और अशुद्ध है। आत्मामें बद्धता और अशुद्धता दोनोंका ही सम्बंध है, और उस अशुद्धताका लक्षण यह बन रहा है कि आत्मा तो स्वयं अद्वैत है, एक है, एक स्वरूप है, किन्तु वह अन्य पदार्थ के निमित्तसे द्वैतरूप हो जाता है। इस श्लोकमें यह बात कही जा रही है कि जिस समय आत्मा कर्मोंसे बद्ध है उसी समय अशुद्ध भी है। यदि अशुद्धता न हो तो बद्धता हो ही नहीं सकती और बद्धता न हो तो अशुद्धता भी नहीं हो सकती। इनमें ऐसा परस्पर अविनाभाव है, अब स्वभावदृष्टिसे देखते हैं तो इनमें परस्पर मेल नहीं बैठता। जीव तो चैतन्यस्वरूप है, पुद्गल कर्म जड़ हैं, इनका आपसमें कोई मेल नहीं बन रहा है और ये अपने आपमें अद्वैत हैं, एक हैं, पृथक् हैं, अपने-अपने स्वरूपको रखने वाले है, फिर भी परपदार्थका निमित्त पाकर जो

अशुद्धता जीवमें बन रही है बस इसीसे यह आत्मा द्वैतरूप बन रहा है, नाना स्वभावरूप बन रहा है। आत्माकी शुद्धता और बद्धताको सिद्ध करनेके लिए अधिक क्या प्रयास करना? अपने आपकी जो स्वयंकी आज स्थिति है इसी स्थितिसे जाना जा सकता है कि आत्मा अशुद्ध है और बद्ध है, और यह बना कबसे? तो यह भी विदित हो जाता कि यह परम्परा अनादि से चली आ रही है, क्योंकि इसमें कुछ एक न मानें तो दूसरी भी बात नहीं बनती। मान लो इसमें कर्मबंध न था तो अशुद्धता कैसे आयी? आत्मा अशुद्ध न था तो कर्मबद्धता कैसे आयी? कोई वजह नहीं है कि इसमें एकके बिना दूसरी बात आ सके। इससे सिद्ध है कि अशुद्धता और बद्धताकी परम्परा अनादिसे चली आयी है।

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम्।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥११३॥

आत्मामें द्विरूपताका प्रकार—अब यहाँ इस अद्वैत आत्मामें निरखिये कि इसमें यह द्वैतभाव आया तो किस तरह आया? क्या बात इसके अन्दर है? आत्मा तो अपने चैतन्य-स्वरूप रूप है, अद्वैत है और उसमें जो यह द्वैत आया है, इसमें जो दुविधा आयी है वह सब औपचारिक है, अथवा यह जो नाना प्रकारका मेल बन रहा है यह सम्बन्धसे बन रहा है, स्वतः शक्तिसे नहीं बन रहा है और इस स्थितिमें जो अशुद्धताकी बात है, द्विरूपताकी बात है तो इसमें एक अंश तो स्वयं आत्माका है और दूसरा अंश उपाधिसे होने वाले पदार्थका है। इसे यों मान लीजिए कि वे जो विकार हुए हैं उन्हें हम केवल आत्मासे नहीं कह सकते। केवल कर्मके नहीं कह सकते। जो रागद्वेषादिक विभाव हैं उन्हें हम यदि आत्माके कहेंगे तो फिर आत्माके सदा रहा करेंगे। जो आत्माका सहजभाव है, आत्माका जो कुछ है वह आत्मा में सदा रहता है। तो हम विभावोंको आत्माका नहीं कह सकते और यों भी नहीं कह सकते कि हम निरख रहे हैं दर्पण और प्रतिबिम्बके क्षेत्रकी बाहरी चीजें दर्पणके सामने आयें, वहाँसे हटें, जल्दी-जल्दी आयें जायें तो वहाँ हम प्रतिबिम्बकी दशा देखते हैं कि वह भी आये हटे मिटे तो प्रतिबिम्बको हम दर्पणका कैसे कहें? इसी तरह जो रागद्वेषादिक औपाधिक भाव हैं, उपाधिके सन्निधान और असन्निधानमें जिनका आना जाना है, कैसे कह दें कि आत्माके हैं ये सब विकार और कर्मको भी कैसे कह दें कि ये रागद्वेषादिक कर्मके विकार हैं, क्योंकि कर्ममें रागद्वेष परिणमन नहीं होता। रागद्वेष प्रकृतिका अर्थ दूसरा है। जो इस तरह प्रीति रूप परिणाम बन रहा है, यह परिणमन कर्मका नहीं है, वह तो जीवका हो रहा है। तो कर्मको भी विकार नहीं कह सकते। तब ऐसा समझना होगा कि कर्मका निमित्त पाकर जीव का विकारपरिणमन हुआ तो इसमें दोनोंका अंश आ गया। एकको निमित्तरूपसे कह लीजिए और एकको उपादानरूपसे कह लीजिए। इस तरह आत्मामें जो यह दुविधा आयी है वह इस

तरह कर्म और आत्माके मेलसे आयी है, उसे किसी एकका नहीं कहा जा सकता है।

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः ॥११४॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥११५॥

पदार्थमें सामान्य विशेष होनेसे अन्य अशुद्धताके अनवकाशकी आरेका—यहाँ शंकाकार कहता है कि जीवमें बद्धता और अशुद्धताकी क्या आवश्यकता है? जब कि पदार्थ सामान्य विशेषरूप होता है। प्रत्येक पदार्थमें ये दो बातें हैं कि वह सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है। तो सामान्य रीतिसे तो वह एक पदार्थ है और विशेष रीतिसे उसमें दुविधा है, अनेक प्रकारता है, तो जब पदार्थमें स्वभाव ही ऐसे दो हैं कि वह सामान्यरूप रहे और विशेषरूप रहे तो सामान्य रूपमें तो आत्मद्रव्य है, एक समान है, सबमें एकपना नजर आता है और विशेष रूपसे उनमें अनेकता होती है। तो जो कुछ भी ज्ञानमें दुविधा आयी है या कुछ विकल्प आ रहे हैं या और कुछ भी ज्ञानकी नाना परिणतियाँ बन रही हैं वे विशेष तत्त्व के कारण बन रही हैं, ऐसी विशेषता होना द्रव्यका स्वभाव है तो जब पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है तो उस ही विशेषतत्त्वके कारण ज्ञानके नाना परिणमन सिद्ध हो जायेंगे, फिर अशुद्धता माननेकी क्या जरूरत है? जीवमें जो ज्ञान नाना तरहकी इष्ट अनिष्ट आदिक बुद्धियाँ चल रही हैं वे पदार्थकी विशेषतायें हैं और उस विशेष धर्मके कारण ये हो रही हैं, अशुद्धता मानना व्यर्थ है। तो यों सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होनेके कारण ज्ञानमें भी सामान्यविशेषात्मकता पड़ी है। तो सामान्यसे तो एक है और विशेष दृष्टिसे नाना तरहका बन रहा है, फिर सोपाधि और निरुपाधिका फर्क डालना व्यर्थ है, वह तो उसका स्वभाव है। विशेषरूपसे परिणमे और देख लीजिए। ऐसा अनुभव भी बतलाता है कि ज्ञान रूप रसको जानता है तो ज्ञान तो सामान्यतया एक है और विशेषतासे देखो तो यह रसज्ञान है, यह रूपज्ञान है। ये नाना तरहके ज्ञान परिणमन बन गए हैं और उससे भी बात यह देख रहे हैं कि रूपज्ञान रसज्ञान आदिक नाना तरहके परिणमन भी बन गए हैं, तिसपर भी ज्ञान रूप, रस आदिक नहीं बन गया। यह भी जाहिर हो रहा है। तो इसी तरह ज्ञान जो कुछ भी जान रहा है तो वह ज्ञानकी विशेषता है और जैसा कुछ जान रहा है उस रूप यह हो नहीं जाता, फिर अशुद्धता और चीज क्या रही? शंकाकारका यहाँ आशय है कि जो कुछ है आत्मामें वह सब ज्ञानका परिणमन है। जिसे लोग दुःख समझते हैं, सुख समझते हैं वह भी क्या है? अज्ञान का परिणमन है। इन दुःखसुखादिकमें भी क्या हो रहा है? बस ज्ञान ही तो किसी रूपका बन रहा है। ज्ञानका नाना रूप परिणाम जाना, यही तो ज्ञानकी विशेषता है। उसमें अशुद्धता

माननेकी बात क्या आयी ? यों अशुद्धता कोई चीज नहीं है। वस्तु है वह सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान है वह भी सामान्यविशेषरूप है। सामान्यतया ज्ञान एक है और विशेषरूप से ज्ञानके नाना परिणमन चल रहे हैं। इस कारण यहां अशुद्धता न कहलायेगी। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

नैवं ज्ञप्तो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥११६॥

अन्वयव्यतिरेक द्वारा अशुद्धताकी सिद्धि करते हुए उक्त आरेकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि सत् पदार्थमें ये दो बातें हैं स्वभावतः कि वह सामान्य रूप है और विशेषरूप है, तो इसका यथार्थभाव समझना चाहिए कि सामान्यरूपसे तो एक है, वह तो शंकाकारने भी मान लिया है, अब विशेषरूपसे किस तरहका विशेषरूप है—यह समझना चाहिए। तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है। इतना माननेके बाद भी उस विशेषमें जो और विशिष्टता आती है पदार्थके स्वभावके कारण जैसा विशेषात्मक होना चाहिए उसका तो निषेध नहीं है किन्तु उससे और बढ़ करके जो विशिष्टता आती है उसका कोई कारण अवश्य होता है, और जब उपाधि होती है तब वह विशिष्टता आती है। किन्तु पदार्थमें स्वभावमात्र सामान्य विशेषता रही तो वहाँ निरुपाधिपना है। ये सब बातें सिद्ध होती हैं, पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य दृष्टिमें तो ज्ञान ऐसा शुद्ध ज्ञान है कि जो सर्व परिणतियोंमें रहता हुआ किसी एक परिणति रूप ही नहीं हो जाता है, वह तो है सामान्यज्ञान। और विशेषज्ञान वह है कि ज्ञान में जो परिणमन है, जानन है, अर्थविकल्प है, ज्ञेयाकार परिणमन है वह जानकारी, वह है ज्ञानका विशेषपरिणमन। अब इतने विशेष परिणमनसे और आगे जो ज्ञानमें विशिष्टता आती है, इष्ट बुद्धि करना, अनिष्ट बुद्धि करना, कभी दुःख अनुभव करना, यह तो ज्ञानके स्वभाव वाली विशेषता नहीं है। यह तो उससे आगेकी विशेषता है। तो ऐसी विशेषता जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक जुड़ा हो वह पदार्थके स्वभावके कारण वाली विशेषता नहीं है, किन्तु उपाधि के सम्बन्ध वाली विशेषता है। ज्ञान पदार्थोंको जानता है और जानता रहता है। प्रतिक्षणमें जानकारी बनती चली जा रही है तो यह तो है ज्ञानकी विशेषता प्राकृतिक, किन्तु वहाँ जो और विशेषता आयी, आकुलताका दुःखका अनुभव हुआ ऐसी विशेषतायें हैं वे ज्ञानकी प्राकृतिक विशेषतायें नहीं हैं, किन्तु उपाधिके सम्बन्धसे होने वाली विशेषतायें है, क्योंकि इनके साथ अन्वयव्यतिरेक पाया जाता है।

ज्ञान ज्ञेयमें अन्वयव्यतिरेक न होकर जीवविभाव व कर्ममें अन्वयव्यतिरेक देखा जाने से अशुद्धता व सोपाधिताकी सिद्धि—कोई यदि कहे कि ज्ञानमें जो विभिन्न पदार्थोंका ज्ञान

हो रहा है उस जानकारीमें विषयभूत पदार्थ कारण हैं याने विषयभूत पदार्थ न हों तो ज्ञान तो न होगा। इसलिए उन पदार्थोंको ज्ञानका कारण कह दिया जायगा, उपाधि मान ली जायगी, सो इस सम्बंधमें बात यह है कि विषयभूत पदार्थोंके साथ ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक घटित नहीं होता। क्या कभी ऐसी स्थिति हुई कि जगतमें विषयभूत पदार्थ न हों? कोई ऐसी स्थिति न हुई होगी। यह तो यहाँके ज्ञानकी स्वयं एक कमजोरी है कि अपना उपयोग लगायें तो ज्ञान कर लें। वहाँ उपयोग न लगायें तो ज्ञान न हो। यह तो विषयभूत पदार्थ के कारणपनेकी बात नहीं हुई। यहाँ ही सबलता निर्बलता उपयोग लगाना न लगाना इस कृत विशेषता है कि हम कुछको जान रहे हैं और कुछको नहीं। विषयभूत पदार्थ हो तब जानें और न हो तब न जानें। ऐसा अन्वयव्यतिरेक यहाँ घटित नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ तो सदा हैं, उनका व्यतिरेक कोई है ही नहीं। कोई यदि कहे कि विषयभूत पदार्थ सामने न हो तो वह ज्ञान नहीं जगता। व्यतिरेक तो बन गया सो भी बात संगत नहीं है। पदार्थका सामने आ जाना इसको विषयभूत नहीं कहते। यह तो हम लोगोंके बद्ध ज्ञानमें अशुद्ध ज्ञानमें ऐसी बात बनी हुई है कि पदार्थ सामने आये तो उसको हम जानते हैं लेकिन विषयभूतपनेकी कला नहीं है यह, क्योंकि केवलज्ञानीके ज्ञानके सामने हो उसीको जाने, वहाँ सामना क्या रहा? वह तो सत् है, कहीं भी है, पीछे है, आगे है, अरहंतके पीछे तरफ है या मुख सामने है, उसकी कोई विशेषता नहीं। पदार्थ हो, सत् हो वह ज्ञानमें आ जाता है। तो विषयभूत पदार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण नहीं हैं किन्तु वे ज्ञानके विषयभूत हैं। तो अब ज्ञानकी विशेषता हुई यह कि नाना प्रकारकी जानकारी चल रही हैं। इतनी विशेषता तो सामान्यविशेषात्मकके कारण है, केवल वहाँ उपाधिकी बात नहीं पड़ी हुई है, लेकिन जो और विशिष्टता आ रही है, अशुद्धता, बन्धन, विरुद्ध मानना, दुःख अनुभव करना यह उपाधिकृत विशेषता है। अतएव अशुद्धता है ही नहीं ज्ञानमें, यह बात कहना असंगत है, और जो अशुद्धता है वह ज्ञानके स्वभावसे है क्योंकि ज्ञान विशेष स्वरूप भी है यह कहना असंगत है।

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत् ॥११७॥

उपाधि और अज्ञानभावमें अन्वयकी सोदाहरण सिद्धि—ज्ञानमें जो विशिष्टता आ रही है रागद्वेषके अनुभव, दुःखके अनुभव, विकल्प विचार तरंगका उठना यह जो ज्ञानमें विशेषता आ रही है, इसमें उपाधि निमित्तभूत है और उस उपाधिके साथ इस ज्ञानके अज्ञानरूप परिणमनमें अन्वयव्यतिरेकका सम्बंध है। अन्वय सम्बंध किसे कहते हैं कि जिसके होनेपर हो उसका नाम अन्वय है। यह अन्वय घटित होता है। परपदार्थका निमित्त होनेपर ज्ञान अज्ञान रूप हो जाता है। यहाँ अज्ञानरूप होनेका ही अर्थ समझिये कि ज्ञानका जो स्वाभाविक जान-

कारी रूप परिणमन है, ज्ञातादृष्टारूप रहनेका परिणमन है, जानकारी मात्र, वह तो है ज्ञान-परिणमन और उससे चिगकर जो विरुद्ध परिणमन हुआ वह अज्ञान परिणमन है। अज्ञान का अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं, किन्तु ज्ञानकी प्राकृतिक, स्वाभाविक परिणति न होकर जो सोपाधि परिणमन है वह सब अज्ञान परिणमन है। ऐसा अज्ञान परिणमन कोई मिथ्यात्व वाला नहीं कहा जा रहा। मिथ्यात्वमें भी अज्ञान परिणमन है और जहाँ ज्ञानकी शुद्ध परिणति नहीं हो रही है, सम्यक्त्व होनेपर भी जो ज्ञानकी सोपाधिक परिणति हो रही हो वह भी यहाँ अज्ञान परिणमनसे हुई है। यहाँ अज्ञान शब्द सामान्य है अर्थात् ज्ञानकी जो जानकारी मात्र परिणति है उसके अलावा जो ज्ञानमें वर्त रहा हो वह अज्ञानपरिणमन यहां कहा गया है और यह सोपाधिपरिणमन है। यहाँ अज्ञान परिणमनका अर्थ भ्रम नहीं, मोह नहीं, मिथ्यात्व नहीं, किन्तु ज्ञानकी जो विशुद्ध परिणति है उसके खिलाफ कुछ भी बात बनें, उसे यहाँ बताया जा रहा है कि वह उपाधिके सम्बन्धसे बना है, उपाधिके होनेपर हुआ है यह यहां अन्वय घटित होता है। जैसे कि अग्निके सम्बन्धसे ठंडा जल गर्म हो जाता है। अब कोई यहां यह कहे कि यह तो पदार्थका स्वभाव है कि वह सामान्यरूप रहे और विशेषरूप रहे। पानी है वह सामान्यरूप भी रहता है, विशेषरूप भी रहता है, तो विशेषरूपमें ठंडा हो गया, गर्म हो गया, विकार कुछ न कहलायेगा सो तो न माना जायगा। अग्निके सम्बन्ध बिना पानीमें सामान्यविशेषपना पाया जा रहा है, उस विशेषकी बात तो उस स्वभावके साथ है, मगर उसमें जो और विशिष्टता आयी। गर्म हो गया, तेज खौल गया, उसे छू भी नहीं सकते। ऐसी जो विशिष्टता आयी क्या वह उपाधिके सम्बन्ध बिना केवल जलके उस सामान्यविशेषात्मक स्वभावसे आ गयी? यद्यपि ऐसी घनी विशिष्टता भी विशेषात्मकताके कारण है लेकिन उपाधि बिल्कुल नहीं है। तो जैसे अग्निके सम्बन्धसे ठंढा जल गर्म हो जाता है इसी प्रकार पर-कर्म उपाधिके सम्बन्धमें ज्ञान अज्ञान हो जाता है। ज्ञानसे अज्ञानरूप हो जानेमें उपाधि कारण न मानी जाय और ज्ञानका सामान्यविशेषात्मकपना यह स्वभाव ही कारण माना जाय, सो बात घटित नही होती।

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥११८॥

उक्त अन्वयका समर्थन—उक्त श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है वह दृष्टान्त असिद्ध नहीं है अर्थात् जिस दृष्टान्तके लिए दृष्टान्त दिया गया है उस दृष्टान्तकी भाँति दृष्टान्तमें भी वही पद्धति घटित होती है। जिस समय ज्ञान अज्ञान रूपमें आता है तो वहां हुआ क्या कि उस सत् पदार्थमें उस ज्ञानमें अवस्थान्तर हो गया। एक नई अवस्था विषम अवस्था आ गयी। कैसी अवस्था आ गयी? ज्ञानका शुद्ध काम, ज्ञानकी शुद्ध विशेषता तो यह थी कि

जैसा पदार्थ है उस ही प्रकार उसकी जानकारी बन जाय। यह है ज्ञानकी शुद्ध विशेषता लेकिन इस अवस्थासे हटकर जो विपरीत रूप ज्ञान करने लगा वह अवस्थान्तर हो गया। तो ऐसी जो अवस्थान्तरता है वह अशुद्ध अवस्था है और किसी पर-उपाधिके सम्बन्धसे हुई अवस्था है। ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है। अब सामान्य तो एक ही किस्मका है, उसमें तो कोई शंका नहीं, न शंकाकारको शंका है, न कुछ यहां कहा जाने लायक अभी प्रसंग है, सामान्य है, एकस्वरूप है। विशेषके सम्बन्धमें यहां आशंका है। शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जो भी अशुद्धता ज्ञानमें मानी जा रही है वह ज्ञानकी विशेषता है और ज्ञानके विशेप स्वभावके कारण है, सो यहां यह बात समझ लेना चाहिए कि विशेषता दो तरहकी है—शुद्ध विशेपता और अशुद्ध विशेपता। ज्ञान जानता ही रहे, उसमें प्रतिक्षण जानन परिणमन चलता रहे यह तो है ज्ञानकी शुद्ध विशेषता और ज्ञान अज्ञान रूप बने, उसमें यथार्थ प्रमाणताकी बात न रहे अथवा उसके साथ इष्ट बुद्धि अनिष्टबुद्धि, रागका अनुभव द्वेषका अनुभव, आकुलता आदिकका सम्बन्ध रहे ऐसा जो ज्ञानका परिणमन है वह है अशुद्ध विशेषता, ऐसी अशुद्ध विशेषता परउपाधिके सम्बन्धसे ही होती है, उपाधिके सम्बन्ध बिना नही होती। तो इस तरह इस अशुद्धताके साथ अन्वय पाया जा रहा है और अब व्यतिरेककी भी बात देखो—

व्यतिरेकोऽस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्यनैवं शुद्धमेव तत् ॥११६॥

जीवविभाव व पौद्गलकर्ममें अशुद्धतासाधक व्यतिरेकका वर्णन—जिस तरह ज्ञान की उस विशिष्टताके साथ कर्म उपाधिका अन्वय घटित हो रहा है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटित होता है। व्यतिरेक उसे कहते हैं जिसके न होने पर जो न हो। तो यहां व्यतिरेक घटित कर लीजिए। उपाधिके अभावमें ज्ञानमें अशुद्धता नहीं आती है। यह व्यतिरेक घट रहा है। जैसे कि अन्वय घटित किया था कि आत्माका ज्ञान पर उपाधिके निमित्तसे मिथ्या अवस्था वाला होता है उसी प्रकार यहां यह व्यतिरेक भी घटित होता है कि उपाधिके बिना यह ज्ञान शुद्ध ही रहता है। तो कर्मउपाधिका निमित्त योग होनेपर ज्ञान अज्ञानरूप होता है और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। तो यों जब उपाधिका और ज्ञानकी अशुद्ध अवस्थाका अन्वयव्यतिरेक घटित हो रहा तो ज्ञानकी इस अशुद्धताको स्वभावतः न कहना चाहिए। किन्तु पर-उपाधिके सम्बन्धमें यह अशुद्धता आयी है। तो अन्वयव्यतिरेक से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि आत्मामें अशुद्धता परनिमित्तसे आती है। यहां ज्ञान ज्ञान जो कुछ कहा जा रहा है, उसका अर्थ इसमें लगा लेना चाहिए। ज्ञान अशुद्ध है—इसका अर्थ है कि जीव अशुद्ध है और ऐसी अशुद्धता जीवमें अवश्य माननी पड़ेगी और

उसे उपाधिके सम्बन्धसे माननी होगी ।

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥१२०॥

शुद्ध अबद्ध ज्ञानका स्वरूप—इस शंकामें शुद्ध ज्ञानका स्वरूप बताया है । जो ज्ञान क्षायिक है, समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष करने वाला है वह ज्ञान शुद्ध है । क्षायिकका अर्थ है जो उसके साथ कर्म उपाधि थी उसका जहाँ विनाश हो गया है वह केवल रह गया है ऐसा वह केवलज्ञान भाव समस्त पदार्थोंका बोध करने वाला हो जाता है । ज्ञानमें स्वभाव जाननका है । यह ज्ञान किसी सन्निधान वाली वस्तुको जाने या अमुक स्थितिमें रहने वाले पदार्थको जाने ऐसा ज्ञानमें स्वभाव अथवा अड़चन नहीं है, किन्तु जो भी सत् हो, कहीं भी हो वह सब ज्ञानका ज्ञेय बने, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है । ज्ञान कभी आत्माके क्षेत्रको छोड़कर बाहर जा जाकर नहीं जानता । यदि ज्ञान आत्मक्षेत्रको छोड़कर बाहर जा जाकर जानता होता तो उसमें ये अड़चनें आ सकती थीं कि वह निकटकी ही बात जाने, सामनेका ही जाने अथवा वर्तमानका ही जाने । ऐसी बाधायें तब आ सकती थीं किन्तु जब ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह स्वभावतः ही जानन करता रहता है और जानन क्या कि जो भी सत् पदार्थ हों उनका प्रतिभास झलक इस ज्ञानमें चलता रहता है, ऐसा ही ज्ञानस्वभाव है, फिर भी बद्ध अवस्था में जहाँ कर्मोंसे आवृत जीव है वहां ज्ञानकी यह विशुद्ध कला विकसित न हो वहां अड़चनें हैं, सन्निधान की ही जाने, नियमित की ही जाने । किन्तु उन अड़चनोंका हेतु कर्मोपाधिका जब क्षय हो गया तो कोई अड़चन नहीं रह सकती । यों क्षायिक ज्ञान समस्त पदार्थोंका जाननहार है और वह सत्य है, क्योंकि अब उसमें सोपाधिता न रही और स्वरूपमात्र ही है । ज्ञानका स्वरूप जानन अपने स्वरूपमात्र रह गया है । यहां ज्ञानस्वभावसे ज्ञानमय आत्माका परिचय करना चाहिए । ज्ञान बद्ध है, ज्ञान अबद्ध है, ज्ञान शुद्ध है, ज्ञान अशुद्ध है, इस कथनमें ज्ञान और जीवमें भेद डाल कर केवल ज्ञानगुणकी कथनी नहीं की गई है किन्तु ज्ञान है सो चारित्र है, ऐसा ज्ञान और जीवमें भेद न डालकर ज्ञानको शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध अबद्ध सब प्रकारसे कहा जा रहा है । तो जो ज्ञान क्षायिक है, शुद्ध है वह अब अपने स्वरूपमात्र है और स्वरूपमात्र रह जाना बस यही अबद्ध होना कहलाता है । किसी भी परका बंध नहीं है, परके निमित्त किसी भी प्रकारका जहां विरुद्ध प्रभाव नहीं है ऐसा यह स्वरूप मात्र ज्ञान अबद्ध है । इस अबद्धताका कारण यह है कि अब निरुपाधि हो गया है त्यों ज्ञान शुद्ध होता है ।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥१२१॥

बद्ध अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—इस श्लोकमें अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। ज्ञानी अर्थात् जीव, ज्ञान और जीवमें भेद करके ज्ञान एक गुण है, जैसे कि अनन्त गुण हैं उनमेंसे एक ज्ञानगुण है, ऐसा भेद डालकर केवल ज्ञानगुणकी कथनीसे बात नहीं चल रही है, किन्तु ज्ञान वह सो जाने। ऐसे उस जीवकी बात कही जा रही है। साथ ही साथ ज्ञानके विशेप स्वरूपपर जब दृष्टि देते हैं तो ज्ञानगुणकी अवस्था भी भेद करके बीचमें आ जाती है। ऐसा ही इन दोनों दृष्टियोंमें रख करके यहाँ ज्ञानकी अशुद्धताका वर्णन किया जा रहा है। ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और यह क्षायोपशमिक ज्ञान बना, इसका कारण है कि विद्यमान कर्मोका क्षय नहीं हुआ है। क्षायोपशमिक ज्ञान उस समय होता है जब किन्हीं प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय हो और उपशम हो तथा किसी प्रकृतिका उदय हो ऐसी स्थिति में क्षयोपशमता होती है। तो ज्ञानावरण कर्म इस जीवके साथ है और उन ज्ञानावरण कर्मोंमें दोनों प्रकारके स्पर्धक पड़े हुए हैं। कुछ निषेक, कुछ स्पर्धक सर्वघाती हैं अर्थात् वे जीवके तद्विषयक गुणका घात करने वाले हो रहे हैं लेकिन साथ ही कुछ देशघाती स्पर्द्धक हैं, जो जीवके गुणका एक देशघात करते हैं तो जिन गुणोंके घातने वाले सर्वघातिस्पर्द्धक हैं उनका तो विकास होता नही और जिनका देशघातत्व है उनका विकास होता है। इस जीवमें क्षायोपशमिक ज्ञान अर्थात् ज्ञानावरण कर्ममें सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय है और उन्हींका ही उपशम है कि वे समयसे पहले उदय न आ जायें। यदि समयसे पहिले सर्वघाती स्पर्धक उदयमें आ जाते हैं तव उदयाभावी क्षय मानकर भी कोई काम नहीं निकलता। जिन सर्वघातिस्पर्द्धकोंकी स्थिति इस समय उदयमें आनेकी है उनका उदयाभाव होना ठीक है, रहो, लेकिन आगामी कालमें जो उदयमें आ सकेंगे वे यदि पहिले ही आकर धमक गए, तो वर्तमान स्थितियोके उदयाभावका क्या फल निकला ? इस कारण सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उन्हीं स्पर्धकोंका सद्अवस्थारूप उपशम अर्थात् वे सत्में ही बने रहें ऐसी उनकी अवस्था रहे, यही उपशम हुआ और देशघात स्पर्धकोंका उदय हो तो, वह क्षयोपशम कहलाता है ऐसी क्षयोपशमकी दशाके लिए कर्मोका सत्त्व तो सिद्ध होता ही है कि कर्म है और उनकी इस इस प्रकारकी अवस्था है। तो क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मसहित हुआ और उन कर्मोका अभी क्षय नही हुआ, इस कारण यह ज्ञान बद्ध है, अशुद्ध है अर्थात् अपने स्वरूपसे च्युत है। यही बद्धता और अशुद्धता है। अपना जो निजस्वरूप है, स्वभाव है, स्वभावकी कला है, वह न हो सके वही तो एक पराधीनता है, बद्धता है। लोकमें भी बन्धन कहते किसे हैं ? लौकिक बन्धन यही है कि जो चाहते हैं उस इच्छाके अनुकूल अर्थात् स्वभावसे हम कुछ कर न पायें, ऐसी परिणति हो उसीका नाम तो बन्धन कहलाता है और इस बन्धनमें वह अपने स्वरूपसे च्युत हो रहा है। तो यों यह ज्ञान अपने स्वरूपसे

च्युत है इसी कारण बद्ध है और अशुद्ध है। यह बद्धता और अशुद्धता ज्ञानमें अथवा जीवमें एक साथ है। ऐसा नहीं है कि बद्ध पहिले हो, अशुद्ध बादमें हो या अशुद्ध पहिले हो बंध बादमें हो और अशुद्धता तथा बद्धता प्रारम्भमें एक साथ भी नहीं बनी हुई है, किन्तु यह परम्परा अनादिकालसे चली आयी हुई है।

न स्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥१२२॥

अशुद्धता न माननेपर बन्ध व बन्धफलकी असिद्धि—अब यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा रख सकता है कि ज्ञानको न शुद्ध मानें, न अशुद्ध मानें तो उसमें क्या बिगाड़ है और एक दृष्टिसे ऐसा लग भी रहा कि जीवमें अनेक गुण हैं। अनन्तगुणात्मक जीवको कहा गया है। उन गुणोंमेंसे एक ज्ञानगुण भी है ऐसा कि जिसका काम केवल जानन है, उसमें यह बात तो हो जाय कि कम जाने, उस पर आवरण आ जाय। अगर कम जाने तो जानना हुआ, अधिक जाने तो जानना हुआ। जाननेमें स्वयंमें शुद्धता और अशुद्धता नहीं है और इस प्रकार यह भी कहा गया है कि ज्ञानमें जो सम्यकपना मिथ्यापना आता है वह ज्ञानकी ओरसे ही नहीं, किन्तु मिथ्यात्वके सम्बन्धसे मिथ्यापन है और मिथ्यात्वका सम्बन्ध न रहे तो सम्यकपन है। तो इससे भी यह सिद्ध हो रहा कि ज्ञान न शुद्ध है, न अशुद्ध, ऐसा आशय रखकर कोई शंकाकार ऐसी बात कह सकता है कि ज्ञान न तो शुद्ध है और न अशुद्ध है। वह तो जैसा है वैसा ही है। इसके समाधानमें समाधान देने से पहिले इस दृष्टिका ख्याल कर लेना चाहिए कि यहाँ ज्ञानका जितना कथन चल रहा है, भेद करके उन अनन्तगुणोंमें से और गुण यों हैं, ज्ञानगुण यह है, ऐसा अन्य गुणोंसे भेद करके ज्ञानकी चर्चा नहीं की जा रही है किन्तु ज्ञान की सामान्य चर्चा चल रही है। ज्ञान और जीव चूँकि इन्हें गुण गुणीके भेदसे भेद करके नहीं देखा जा रहा और केवल एक ज्ञानगुण की ही बात नहीं कही जा रही। सामान्यतया ज्ञान ही तो जीव है, इसलिए ज्ञानकी बात कह रहे हैं। यह ज्ञान यदि न शुद्ध है, न अशुद्ध है इस तरह माना जाय तब आत्मामें कभी बंध हो ही नहीं सकता। और भेददृष्टिसे यह कथन भी किया गया है। जीवके अनन्त गुणोंमें से अन्य गुण यों हैं और ज्ञानगुण जानन-स्वरूप वाला है तो ज्ञानके परिणमनसे बंध नहीं हुआ करता है, किन्तु उसके साथ जो मोह राग परिणमन चल रहा हो उसके कारण बन्ध हुआ करता है। तो इस तरह यहाँ सामान्य कथनमें जहां ज्ञान और जीव एक शब्दसे कहे जा रहे हों ऐसे उस ज्ञानको यदि न शुद्ध है, न अशुद्ध है, इस तरह मान लिया जाय तो वहां कभी बन्ध हो ही नहीं सकता और जब बन्ध न होगा तो उसका फल भी न हो सकेगा, क्योंकि बंधका कारण ही कुछ न रहा। तो बन्ध क्या रहा और जब बन्ध ही न रहा तो बन्धका फल क्या रहा? जब बन्धका कारण अशु-

द्धता मान लिया तब तो बन्धव्यवस्था और फल व्यवस्था बनती है। अशुद्धता तो मानी नहीं जा रही है, तो बन्ध किस बलपर हुआ और बन्धका फल भी किस आधारपर हुआ ? अतः मानना चाहिए कि ज्ञानमें शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही सम्भव हैं।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥१२३॥

बन्धैकान्तमें दोषप्रसङ्ग—उक्त कथनका इस श्लोकमें विवरण किया जा रहा है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय कि जीवमें अशुद्धता नहीं होती तो जब जीवमें अशुद्धता नहीं है और फिर बन्ध माना हो, उक्त गाथामें तो शुद्धता और अशुद्धता दोनों नहीं हैं, इस प्रकारकी जिज्ञासा की है, प्रश्न रखा है, बन्ध नहीं है यह बात नहीं कही है। तो अशुद्धता जीवमें माने नहीं और बन्ध माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि फिर सदा बन्ध होता रहेगा। जैसे पुद्गल परमाणुओंमें जो बन्ध है वह बन्ध उनकी अशुद्धताके बिना ही मान लिया गया है। अर्थात् शुद्ध पुद्गल परमाणु दो हैं और उनमें स्वयं अपने आपके परिणमन के कारण स्निग्ध, रूक्ष गुणकी डिग्रीमें वृद्धि हानि हो रही है जिससे कि परस्परमें दो गुणों की अधिकताकी बात आ जाय तो उनका परस्परमें बन्ध हो जाता है, वे परमाणु बन्धे न थे, वे तो केवल एक-एक थे, फिर भी स्निग्ध रूक्षत्व गुणके कारण परिणमन हुआ है, तो पुद्गलमें सदा बन्ध रह सकता है और कभी वह शुद्ध हो जाय तो भी शुद्ध होकर अशुद्ध हो जायगा। तो जहाँ अशुद्धताके बिना बन्धकी बात है वहां तो विडम्बना है, तो इसी तरह जीवमें अशुद्धताके बिना बन्ध माना जाय तो यह बन्ध सदा रह सकता है और बन्ध ही बन्ध रहेगा। पुद्गलमें तो यों ही विकार हो जाते हैं और वे अशुद्ध हो जाते हैं लेकिन अशुद्ध जीवके बंध हो जाय तो बंध फिर न रहे, इसका तो कोई कारण यहाँ न मिलेगा। अतः यहाँ यह सम्भावना नहीं है कि उस बीच किसी समयके लिए यह अबंध बन जाय। बंध तो सदा ही रहेगा, ऐसा प्रसंग आता है, और फिर जो बंध है सो अबंध अवस्थामें नहीं आ सकता, क्योंकि अबंध दशा आनेका कोई कारण नहीं रहता। तो इस तरहसे अब परखा कि जितने भी जीव हैं, चिद्विशेष हैं उन सबमें यह बात बिना विशेषताके पायी जा रही है। सभी जीव हैं और चैतन्यस्वरूप हैं, अशुद्धता उनमें है नहीं। तो ऐसी स्थितिमें उनका बंध शाश्वत हो जायगा और बंध कभी अबंध दशामें नहीं आ सकता। तो यह जीव फिर कभी मुक्त न हो सकेगा, अबंध दशाका पात्र ही न हो सकेगा। दूसरी बात यह भी देखिये—कि जीवमें यदि अशुद्धता ही मानी जाय, शुद्धता मानी ही न जाय तो भी यही प्रसंग है कि सदा बंध ही रहेगा, अबंध कभी हो नहीं सकता। तब इस स्थितिमें भी सदा बंधका प्रमाण है, अतः शुद्धता भी मानना आवश्यक है। शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही जीवमें सम्भव है। पहिले आत्मामें

अशुद्धता रहती है, फिर भेदविज्ञान हुआ, अपने आपके स्वरूपकी परख हुई। अपने ही स्वरूप में स्वको अंगीकार किया और जो ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वरूप है उस ही को स्वरूपसे श्रद्धान ज्ञान और इस ही वृत्तिरूपसे आचरण रहा तो ऐसे इस अंतः परम तपश्चरणके प्रतापसे कर्मनिर्जरा होती है और यह जीव शुद्ध हो जाता है।

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः।
नाबन्धः सर्वतो श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥१२४॥

बन्धैकान्त व अबन्धैकान्तकी असंगतता—सर्वरूपसे बन्ध हो रहे यह बात नहीं है। सर्व जीवोंके सदा काल बंध ही रहे ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अबंधकी भी प्रसिद्धि है। मुक्त जीव भी होते हैं और इस आधारसे भी निरख लेवें कि जो सोपाधिकभाव हीनाहीन दशामें निरखा जा रहा हो तो उसमें यह अनुमान बन जायगा, यह निश्चय बनेगा कि कहीं सर्वथा ही अशुद्धताका अभाव हो जाता है। जैसे यहाँ जीवोंमें किसीमें राग कम, किसीमें और कम, किसीमें बिल्कुल कम देखा जाता है और साथ ही यह भी बात है कि राग औपाधिक भाव है तो जब रागकी यह न्यूनता ही देखी जा रही है तो यह भी निश्चय है कि कोई जीव ऐसे हैं कि जहाँ रागका सर्वथा अभाव है। इस तरहसे मुक्तिकी भी प्रसिद्धि है। इसी प्रकार कोई यह माने कि सर्वथा सदाकाल जीव अबंध ही है, इसके बंधन नहीं है तो यह मानना भी संगत नहीं है, क्योंकि बंधरूप कार्य तो यहाँ पाया ही जा रहा है, बंधका कार्य भी दिख रहा है। कुछ दार्शनिक जीवोंने केवल एक चैतन्यस्वरूप माना है और उसे अपरिणामी मानते हैं। जीवमें ज्ञानको भी स्वीकार नहीं करते। ज्ञान एक क्रियारूपसे विदित होता है। जानना कुछ बात तो हुई तो ऐसी जाननक्रिया, परिणमन ये जीवमें नहीं माने गए हैं। उनके सिद्धान्तमें तब जीवका स्वरूप क्या रहा? केवल चित्स्वरूप। वह चित्स्वरूप क्या? उसका कुछ विवरण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि चित्सामान्य चित्विशेष किसी तरहसे वर्णन अगर करें तो वहाँ कुछ व्यक्त रूपत्व दृष्टिमें आयगा और उसे व्यक्त माना नहीं, ऐसे उस चित् जीवको सर्वथा अबंध मानते हैं। जीवके कोई बन्धन नहीं है। ऐसा दार्शनिकोंने जीवको अबंध मान तो लिया है परन्तु कुछ व्यवस्था यह बन नहीं पाती। यह संसार दिख रहा है, ये नाना कार्य नजर आते हैं, ये किस तरह नजर आते हैं? उत्तर तो दिया है उन्होंने कि यह सब प्रकृतिका कार्य है लेकिन प्रकृति जड़ उसका जो कार्य होगा वह जड़रूपसे ही होगा; चितरूपमें, चिदाभासरूपसे तो कार्य नहीं हो सकता, ऐसी अनेक बातें हैं। सारांश यह है कि जीवको सर्वथा सदाकाल अबद्ध मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष ही नजर आ रहा है कि यह सब संसार जीवन, मरण, सुख, दुःख ये बंधके कार्य हैं। तो यहाँ जब ये बंधरूप कार्य पाये जा रहे हैं तो जीवको सदाकाल अबंध भी नहीं कहा जा सकता।

अस्तिचित्सार्थं सर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्पयात् ।।१२५।।

अबद्धताका उदाहरण—इस श्लोकमें अबद्ध ज्ञानका लक्षण दिखाया गया है । अबद्ध ज्ञान केवलज्ञान है । वह समस्त अर्थोंका साक्षात् करने वाला है अर्थात् ज्ञानमय आत्मा निरावरण होकर अपनी ज्ञानशक्तिसे ज्ञानपरिणमनमें सारे विंश्वका जानन करता रहता है । विश्व विश्वकी जगह है, ज्ञेयपदार्थ कभी ज्ञानमें नहीं आता, किन्तु ज्ञानका काम ही यह है, स्वभाव ही यह है कि जगतमें जो भी सत् हों वे सब जानकारीमें आयें । तो ऐसा वह केवलज्ञान अविकारी है, विकारोंको नहीं भोग सकता है । ज्ञानका काम तो जानन है और राग मोहादिकके क्षय हो जानेसे यहाँ उसका शुद्ध जानन चल रहा है । वह अबद्ध ज्ञान है । जैसे यहाँ संसारी जीवके ज्ञान, राग, उपराग युक्त होनेसे ये परतंत्र अनुभवमें आते हैं । परतंत्रताका अर्थ है कि अपने उपयोगसे किसी बाह्यपदार्थका सहारा मान लेना और उससे अपना जीवन समझना, हित समझना यह ऐसी धारणा है, इसीका नाम परतंत्रता है, तो यह क्षायिक ज्ञान अविकारी है, अविनश्वर है । इसका कभी भी विनाश न होगा और कभी साक्षात् अबद्ध है, क्योंकि वहाँ अब किसी प्रकारका बंध नहीं रहा है । यहाँ इस तरह भी परखना चाहिये कि इस आत्माको जो केवलज्ञानका अभ्युदय हुआ है सो पहिले तो न था । पहिले तो सावरण अवस्थामें यह जीव छद्मस्थ था । केवलज्ञान इसमें व्यक्त न था । तो जिस कालमें केवलज्ञान व्यक्त हुआ है वहाँ क्या स्थिति बनी कि ज्ञानावरणका पूर्णतया क्षय हुआ है और ज्ञानावरणके क्षयका निमित्त पाकर यह केवलज्ञान प्रकट हुआ है । इस नातेसे केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान होता है, लेकिन क्षयके समय जो ज्ञान हुआ वह क्षायिक ज्ञान है । ऐसी व्युत्पत्तिसे तो ज्ञानमें क्षायिकता पहिले समयमें है । जिस समय वह ज्ञान प्रकट हुआ उस समयका वह एक ज्ञानपरिणमन क्षायिक है, किन्तु अब आगेकी सारी पर्यायोंपर दृष्टि की जाय तो जैसे धर्म अधर्म आदिक द्रव्य कालद्रव्यका निमित्त मात्र पाकर और वह भी निमित्त क्या ? साधारण है । अतएव अबंध है, अपने ही स्वभावसे, अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके कारण अपनेमें षट्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन करते हैं । उसही प्रकार यह आत्मा, जो शुद्ध अवस्थामें है वह भी अपने अगुरुलघुत्व गुणके निमित्तसे अपनेमें षट्गुण हानिवृद्धिरूप परिणमन कर रहा है । उस समय उसमें क्या स्थिति है ? वह स्थिति बतलायी जा रही है । जो कि सिद्ध भी जीव हैं, हम भी जीव हैं । तो एक सदृशता होनेके कारण हम जीवद्रव्य की विशेषता वाली सिद्ध दशा भी ज्ञानमें ला सकते हैं, पर धर्मादिक द्रव्य ये परद्रव्य हैं । इनकी अनुभूतिसे तो सम्बन्ध बनता नहीं है, अतएव इनकी बात सूक्ष्म है, वचनोंके अगोचर है ।

सिद्ध भगवंतोंमें शुद्ध ज्ञानकी विधि—अब उस सिद्ध दशामें जो केवलज्ञान वर्त रहा

है वह बर्त रहा है, उसका अबद्ध व क्षायिक ज्ञान कहा एक यह ख्याल करानेके लिए कि कभी यह जीव अशुद्ध था, बद्ध था और आवरणके क्षयसे इसमें यह ज्ञान केवलज्ञान प्रकट हुआ है। लेकिन समय व्यतीत होने के बाद अब जो सिद्ध भगवंतोंकी परिणति चल रही है वह क्या कर्मके क्षयसे चल रही है ? कर्म तो बहुत पहिले ही न थे। इस समय किस निमित्तक वह स्थिति है ? तो यहाँ ठीक ऐसी ही बात विदित होती है जैसे कि धर्मादिक द्रव्योंमें परिणति होती है उसी प्रकार अब सिद्ध जीवमें भी परिणति हो रही है। तो क्षायिक ज्ञान द्रव्यमें था और उस ही क्षयके कारण हुई निर्मल परिणतिकी परम्परा चल रही है, इसलिए सब समय उसको क्षायिक ज्ञान बताया गया है। वह क्षायिक ज्ञान, केवलज्ञान निर्विकार है। उस ज्ञानमें ये सब पदार्थ किस तरह विदित होते हैं, इसकी भी दिशा सही-सही अल्पज्ञ न समझ सकेंगे। कारण यह है कि अल्पज्ञोंका ज्ञान कुछ अलग-अलग विषय रूपसे हो रहा। जैसे एक पुद्गलद्रव्य कभी रसरूपसे जाना जा रहा, कभी रूप, गंध, स्पर्श आदि रूपसे जाना जा रहा, क्योंकि इन्द्रियका यहाँ इस तरह प्रयोग है और यह विषय स्पष्टतया यहाँ जुदे-जुदे रूपसे अनुभवमें आता है। अब पुद्गलद्रव्य स्वयं मूर्त है, अपने उन सर्वगुणोंमय है फिर भी अखण्ड है। ऐसे ही पुद्गल एक ही साथ जो ज्ञानमें आया है उसकी क्या दिशा है, उसकी क्या पद्धति है, यह बात सूक्ष्म है, अनुभवगम्य है। जब केवलज्ञान हो तब ही उस बातकी स्पष्टता होती है, उसको बतानेसे समझमें आयगा भी कुछ, लेकिन उस ज्ञानमें क्या बात किस तरह झलकती है, यह युक्तिके द्वारा, अनुमानके द्वारा हम उसका कुछ कुछ अभ्यास कर लेते हैं। वह क्षायिक ज्ञान अबद्ध है। उस ज्ञानके साथ इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं है, उस ज्ञान के साथ किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है, क्षोभ नहीं है। ऐसा वह ज्ञान अबद्ध है, क्योंकि वहाँ किसी भी प्रकारका बन्ध नहीं रहा है।

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥१२६॥

सोदाहरण बद्ध ज्ञानका स्वरूप—इस श्लोकमें बद्ध ज्ञानका स्वरूप दिखाया गया है। यह संसारी जीवोंका ज्ञान सारा बद्ध है, क्योंकि संसाररूप कार्य यहाँ देखे जा रहे हैं, उनमें विपरीतता पायी जा रही है और इसी कारण ज्ञानको सोपाधि कहा गया है, अन्यथा अर्थात् ज्ञानके साथ उपाधि न होती, ज्ञानमें बद्धता न होती तो ये सब विचित्रता, विपरीतता बन न सकती थी। जब आत्माके ज्ञानस्वभावका विचार करते हैं, आत्मा ज्ञानमात्र है, इसका जाननस्वभाव है तो उस स्वभावमें, उस अमूर्त ज्ञानभावमें उस एक जाननकी ही बात होनी उचित प्रतीत होती है। ऐसा ही होना चाहिए और यही ही जीवका वास्तविक ढंग है, जानन होता रहा, पर इसके साथ जो यहाँ विकल्प है, तरंग है, विचार है विस-

मता है, ये कहाँसे आ गए ? जीवके स्वभावकी यह बात नहीं है, ऐसा स्वभाव बताते हैं। यदि स्वभाव बन जाय तो कभी भी इन विकल्पोंका, विचारोंका, विकारोंका कभी अभाव ही न हो सकेगा। यह स्वभावमें नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। स्वभावमें मात्र जानना है, पर यह बात विडम्बनाकी और इस विकल्प विचारकी आ कहाँसे गयी है ? स्वभावदृष्टिमें इसका उत्तर नहीं बन पाता है। स्वभावमें स्वभाव ही है, विपरीत बात कहाँसे आ गई है ? तो विपरीतता तो है ही। इस तरहकी विडम्बनामें तो पड़े हुए ही हैं। इसको मना कैसे किया जायगा ? तो जब स्वभावका और आजकी परिस्थितिका स्वरूप निरखते हैं तो विदित होता है कि जीवमें इस तरहकी अशुद्धता अनादि परम्परासे चली आयी है कि जो ऐसी स्वच्छत्व शक्ति रखने वाला आत्मद्रव्य इस अशुद्ध परिणति परम्परासे यह उपाधि सहित है और उस उपाधिका निमित्त पाकर यहाँ यह सब कुछ बर्त रहा है। बर्त रहा है, फिर भी स्वभावका विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है कि यह सब अधर बर्त रहा है, यह सब इसमें चल रहा है और कैसे चल रहा है कि मानो यह सब अधर चल रहा है, स्वभावमें इसका प्रवेश नहीं है, फिर भी यह बात चल रही है। तो इसमें ऐसी योग्यता है, अन्य द्रव्यमें ऐसी योग्यता नहीं है। यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है कि जीवमें पर्यायगत ऐसा स्वभाव आ गया है। जीवद्रव्यमें ऐसा स्वभाव नहीं है स्वभावतः, लेकिन जीव जब अशुद्ध पर्यायमें है तो उस पर्यायका स्वभाव ही इस तरह है कि ऐसा ही योग हुआ कि उपाधिका निमित्त पाकर यह विकाररूप परिणमा। इस बातकी तुलना कुछ कुछ इस तरह की जा सकती है कि जैसे शुद्ध परमाणु द्रव्यमें, केवल परमाणु द्रव्यमें जल भरनेकी अथवा कोई वजन सहने या बोझ उठानेकी, इन सब अशरण बातोंकी वहाँ सामर्थ्य नहीं विदित होती। हाँ एक सूक्ष्मदृष्टिसे कह सकते हैं कि चूंकि वह स्कंधरूप परिणत होगा और उस स्कंधकी हालतमें ये सब बातें उसमें आ जायेंगी, इसकी योग्यता बन जायगी, तो स्पष्ट रूपसे तो यह विदित होता है कि घड़ा रूप होने पर उसमें जल भरे जानेकी योग्यता है अथवा चौकी आदिक मजबूत स्कंधोंके रूपमें होने पर इनमें बोझ सह लेनेकी योग्यता है, तो ऐसे विकार जो इस जीवपर आये हैं चूंकि यह अनादिसे अशुद्ध है तो ऐसे अशुद्ध पर्यायगत जीवमें ऐसी योग्यता है कि वह बद्ध रहे, विकृत रहे, इस तरह परिणत रहे, फिर भी जो कि यह सब पात्रता इस जीवमें ही क्यो आयी है ? अन्य पदार्थमें क्यों नहीं आयी है ? धर्मादिकमें यह विशेषता क्यों नहीं है ? तो मानना होगा कि जीवद्रव्यमें एक वैभाविकी शक्ति है, जिसके विपाकमें, जिसके अशुद्ध विपाकमें अशुद्ध पर्यायमें ऐसी योग्यता है कि जो यह बद्ध है, विकृत है, परतंत्र है, इस तरह यह जीव अथवा यह ज्ञान मात्र ही तो है। ज्ञानको ले लीजिए—संसारी जीवोंका यह ज्ञान बद्ध है, क्योकि उनके कार्यमें विपरीतता पायी जा रही है। यही देख लीजिए—इतने मनुष्य

हैं, सभीके विचार विकल्प भिन्न-भिन्न हैं। तो इतनी विभिन्नता कैसे आयी? पदार्थमें विभिन्नता अन्य पदार्थके सम्बन्ध बिना नहीं हो पाती। यदि अन्य पदार्थके योग बिना बात बनती है तो वह एक समान बनती है। जैसे धर्मादिक द्रव्योंमें प्रति समयका जो परिणमन है वह एक समान है। सिद्ध जीवोंका प्रतिसमयका जो परिणमन है वह एक समान है। और इतना ही नहीं समस्त सिद्धोंका भावपरिणमन एक समान है। तो जहाँ विसमता नजर आती हो वहाँ यह निर्णय कर लेना चाहिए कि किसी अन्य पदार्थका वहाँ सम्बन्ध है जिस निमित्त योगमें। यहाँ इस तरहकी विसम परिणति होती है। तो यों संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उनके कार्यमें विपरीतता पायी जा रही है। यदि बद्धता न होती तो यह विपरीतता बन न सकती थी अन्यथा विपरीतताकी अनुत्पत्ति है। इस अन्यथानुपपत्ति हेतुसे संसारी जीवोंके ज्ञानकी बद्धता सिद्ध होती है।

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥१२७॥

सोपाधि अशुद्ध ज्ञानकी व निरुपाधि शुद्ध ज्ञानकी सिद्धिका निर्णय—उक्त प्रसंगमें जो अनेक श्लोकोंमें यह वार्ता चल रही है उसका फलित अर्थ यह है कि ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक सोपाधि और एक निरुपाधि। ज्ञानस्वरूपतः तो एक ही समान है, पर उसमें जो वाह्य विशेषता है वह विशेषताकी दृष्टिसे ज्ञानको दो प्रकारोंमें समझ लिया गया है—एक उपाधिसहित ज्ञान और एक उपाधिरहित ज्ञान। जो कर्म उपाधि सहित ज्ञान है उसे तो अशुद्ध कहते हैं और जो कर्मउपाधिसे रहित ज्ञान है उसको शुद्ध कहते हैं। द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो कर्मउपाधि कर्मउपाधिमें ही है। उसके रूप रस आदिकका परिणमन, उसकी प्रकृति स्थिति आदिकका परिणमन जो उसमें है वह उसमें है और जीवका परिणमन जीवके भावानुकूल वह सब कुछ जीवमें पाया जा रहा है, जीवका कोई अंश कर्ममें नहीं, कर्मका कोई अंश जीवमें नहीं, पर जब जीव और कर्मका सम्बन्ध है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, निमित्तनैमित्तिक भावरूप बन्धन है उस समयमें दोनों ही अपने गुणोंसे च्युत हो जाते हैं। यह कार्माणवर्गणा बंधनसे पहिले तो कर्मत्वरहित था, शुद्ध था, किसी अनुभाग, स्थिति, प्रदेश, प्रकृतिमें नहीं था। और भी पहिले की बात देखिये—कभी ये स्कंध अवस्थामें न होते तो एक अणुरूप भी न हो सकते थे। उस दशामें इसमें क्या विकार था? वह भी ठीक था और जीवको भी देखा द्रव्यदृष्टिसे तो जीव जो सत् है। जीव जिस प्रकार सहज अपने सद्रूपसे है उसमें क्या है? जीवका वह सहज सत्त्व है, शक्तियाँ हैं। जीवका निजस्वरूप विकारके लिए नहीं हुआ करता है। हो विकार, यह निर्णय अलग है मगर जीवका ही स्वभाव, जीवका ही सहज सत्त्व जीवके विकारके लिए नहीं होता। तो जीवके निज स्वरूपको निरखा जाय तो

वहाँ भी कोई बात विकार या अशुद्धताकी नहीं है। इस तरह केवल द्रव्यको निरखनेमें वहाँ किसी भी प्रकारकी उपाधि नहीं है, पर गुजर क्या रहा है? बात क्या बन रही है? परिण-मन क्या चल रहा है? जब इस ओर दृष्टिपात करते हैं तो आजकी स्थिति यह भली भाँति विदित हो रही है कि सोपाधिक जीव और कर्म—इन दोनोंका निमित्तनैमित्तिक भावरूप बन्धन है और उस बन्धनमें यह जीव अशुद्ध कहा जाता है। तो यों जीव शुद्ध अशुद्ध दो स्थितियोंमें है। इसीको कह लीजिए कि ज्ञान शुद्ध और अशुद्ध इन दो स्थितियोंमें है। जीव ज्ञानस्वरूप है। उसका मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञान लक्षणके द्वारा ही जीव लक्षित होता है। अतः जीव ज्ञानमय है। तो जब जो कुछ भी परिणतियाँ होती है इस ज्ञानके माध्यमसे घटित कर लेना चाहिए। यहाँ यह ज्ञान ही तो अशुद्ध बन रहा है। किसे जानती है इष्ट अनिष्ट बुद्धि और सुख दुःख विकल्पोंके समय ज्ञान ही तो किसी रूप चल रहा है जिसका कि प्रभाव भौगनेमें आ रहा है। तो यों ज्ञान शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारसे है। अर्थात् सोपाधि और निरुपाधि दोनों स्थितियोंसे युक्त है।

ननु कस्को विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः॥१२८॥

बद्धता व अबद्धतामें अन्तरकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बद्धत और अबद्धतामें क्या विशेषता है? शंकाकार यहाँ उस द्रव्यदृष्टिमें एक-एक द्रव्यस्वरूप देख रहा है और उसको देख करके वह जान रहा कि बद्ध कहो तब भी वह केवल एक है, अबद्ध कहो तब भी वह केवल एक है, तो यहाँ बद्धता और अबद्धतामें अन्तर क्या आया? इस प्रश्न को इस तरहसे भी समझ सकेंगे कि जैसे मान लो गाय गिरवाँसे बँधी हुई है तो गिरवाँका एक छोर दूसरे छोरसे बाँध दिया गया है, इसीको तो कहते हैं कि गाय बद्ध दशामें है, और न लगी हो गाँठ तो कहते है कि गाय अबद्ध दशामें है। अब गाय गायको ही गायमें देखा जाय तो उस बद्ध दशामें भी गायमें क्या अन्तर आया? जब गिरवाँमें गाँठ लगी है तब भी तो रस्सी रस्सीसे ही तो बँधी है, कही गायका गला तो नही बँधा? और जब गाय अबद्ध दशा में है तब भी गायका गला ज्योंका त्यों है। तो बद्ध और अबद्ध दोनों ही दशाओंमें गायका गला ज्योंका त्यों है, वह वही एक है, उसमें कुछ फर्क नहीं है। ऐसा ही कुछ आशय रख-कर मानो यहाँ शंकाकार कह रहा है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या अन्तर है? हम तो यहाँ यह देख पा रहे हैं कि बद्धता और अबद्धता इन दोनों ही दशाओंमें कुछ अन्तर विदित नही हो रहा है। इस प्रकार एक शुद्धनयके आशयमें रहता हुआ शंकाकार यहाँ बद्धता और अबद्धताके अन्तरकी जिज्ञासा कर रहा है।

बद्धता और अबद्धतामें कार्यकारणभाव है, इस कारण अन्तर है।

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी।
तस्या सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युति ॥१३०॥

बन्धका स्वरूप—इस श्लोकमें बन्धका लक्षण बताया जा रहा है। परके गुणोंके आकार परिणमन करने वाली क्रियाका नाम बंध है। जैसे यहाँ पुद्गलके गुणोंके आकार मायने उसके अनुरूप जो परिणमन होनेका काम है उस ही का नाम बंध है। जिस समय यह जीव और पुद्गलमें परगुणाकार परिणमन होता है। बंध तो दोनोंमें है, जीवमें भी और पुद्गल में भी। बन्धकी दशामें कोई सोचे कि एक आराममें हो और एक बन्धनमें हो, सो नहीं है। बन्धनके समय दोनों ही बन्धनमें हैं। अगर कोई दो तीन सिपाही दो चार कैदियोंको पकड़े लिए जा रहे हैं तो वहाँ वे कैदी भी बन्धनमें हैं और सिपाही भी। सिपाही बन्धनमें इसलिए हैं कि वे उनको छोड़कर कहीं आ जा नहीं सकते। तो यही उनके लिए एक बन्धन है, और भी देखिये—हुक्म देने वाला और हुक्म मानने वाला इन दोनोंका कितना परस्परमें सम्बंध है? वहाँ कोई यह समझे कि हुक्म मानने वाला तो आकुलतामें है, जब कि हुक्म देने वाला आकुलतामें नहीं है, तो इनका परस्परमें सम्बंध कैसे? सो यह बात नहीं है। आकुलतामें तो दोनों हैं। तो इसी तरह समझ लीजिए कि जब जीव और कर्मका सम्बंध बना तो दोनोंमें कुछ न कुछ विकारका कारण बना। जीव और कर्मका जब बंध बना तो जीव भी पर-गुणाकार परिणमन करता है। और पुद्गल भी परगुणाकार परिणमन करता है। परगुणाकार परिणमनका अर्थ क्या है? अपने-अपने गुणसे च्युत हो जाना, यही परगुणाकार परिणमन है। अर्थात् अपना जो स्वरूप है, स्वभाव है उस स्वभाव रूप बात न बने, उससे विपरीत बने तो वह स्वगुणाकार तो न रहा, स्वगुणाकार परिण-मन न रहा, यही बंध है। स्वगुणाकार परिणमन न रहा इसीका नाम है परगुणाकार परिण-मन हो गया। तो उस गुणाकार परिणामी क्रियाके होनेपर अशुद्धता होती है। वह अशुद्धता यही है कि दोनों अपने स्वरूपसे च्युत हो गए हैं, अपने स्वरूपको छोड़कर विकार अवस्थाको धारण कर लेते हैं। तो यहाँ दोनोंके बंधका कारण बताया गया है, कि अपने-अपने गुणसे अतिरिक्त अपनी जो स्वाभाविकी बात है उससे च्युत हो गया है, बस इसीका नाम बंधन है। अब ऐसी जो अशुद्धता है इस अशुद्धताको क्या यह कहा जायगा कि जो अशुद्ध होता है उसका ही प्रताप है और वह अपने ही कारण ऐसा हो गया है, ऐसा भी न कहा जा सकेगा, और ऐसा भी न कहा जा सकेगा कि उस अशुद्धताका जो निमित्त है तो वह निमित्तका ही सब कुछ है। वह अशुद्धता दोनोंका कार्य माना जायगा, मगर अंशदृष्टिसे। एक उपादानसे अशुद्ध हुआ है और एक निमित्तसे अशुद्ध हुआ है। दोनों दृष्टियाँ हैं। कर्म उपाधि निमित्त न हो तो

आत्माकी अशुद्धि कहाँसे हो ? कर्मोंकी अशुद्धिका अर्थ क्या हुआ ? अब जीवमें जो मोहादिक भाव आये हैं तो वहाँ यह न समझना कि वह मोहभाव केवल कर्मकी अवस्था है, कर्मकी ही चीज है, जीवकी चीज नहीं है, और यह भी न समझना कि मोहभाव जो है वह केवल जीव का ही भाव हो गया है, इसमें कोई दूसरेका सम्बंध नहीं है। तो ऐसी स्थितिमें जब निमित्त दृष्टिसे देखते हैं तो मोह जीवका है और जब उपादान दृष्टिसे देखते हैं तो मोह कर्मका है। तो यों वहाँ दृष्टान्त होगा, और जब शुद्धताकी सम्हाल होती है, जीव अपने स्वरूपको सम्हालता है तो उस सम्हालमें उसे जहाँ उपयोग होगा उसको वह स्वरूप दिखेगा। सम्हालमें तो जीवके शुद्ध स्वभावपर उपयोग है तो एक शुद्ध स्वभाव ही दृष्टिमें आयगा। पर दर्शन मोहके विलीन हो जानेपर राग और द्वेष ९वें और १०वें गुणस्थान तक चलते हैं। तो वहाँ जीवमें इतनी बात चलती रहती है, पर कहीं तो वह अज्ञात अवस्थामें है, जिसे अनुपचरित बोला गया, कहीं ज्ञात अवस्थामें है जिसे उपचरित बोला गया और कहीं अभिप्रायमें है अर्थात् उसके करने का, बाँधनेका, उससे मौज माननेका, ऐसी मेरी सदा दशा रहे, इस प्रकारका आशय नहीं है। कहीं इस तरहकी भी दशा होती है। तो ऐसे रागादिक भाव तीन श्रेणियोंमें आ गए। एक तो मोहसहित दशा। जहाँ आशय भी उनका बिगड़ रहा है, एक मोहरहित, किन्तु बुद्धिगत और एक मोहरहित और अज्ञातरूप दशा। तो इस तरह किसी भी रूपमें हो, जितनी अशुद्धता है वह अशुद्धता ही कहलाती है। तो यहाँ यह बता रहे हैं कि अशुद्धतामें होना यही है कि पदार्थ अपने गुणसे च्युत हो जाता है और इस ही को यों कह लीजिये कि वह परगुणाकार परिणमनकी क्रिया हुई है।

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।
यस्माद्‌बन्धं बिना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥१३१॥

अशुद्धताकी बन्धकार्यता व बन्धकारणता—उक्त उत्तरमें यह बताया गया था कि बद्धता और अशुद्धतामें कार्यकारण भाव है। अब उसीके सम्बन्धको लेकर इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि बंध और अशुद्धता इन दोनोंमें भी परस्पर कार्यकारण भाव है, याने बंध का कारण अशुद्धता है। जो अशुद्ध हो सो बंध है। तो बंधका कारण अशुद्धता हुई। जीव-कर्मका बंध हो रहा है, इसका कारण क्या है कि जीव अशुद्ध है। जीवकी अशुद्धतामें नवीन कर्म बन्धमें कारण हो गया है। तो बन्धका कारण अशुद्धता है और बन्धका कार्य भी है अशुद्धता। अशुद्धता क्यों आयी ? अशुद्धता एक कार्य है, वह कैसे हुआ ? तो उसका उत्तर यह है कि बन्ध था, कर्मका उदय हुआ। उस कर्मविपाकके समय यह अशुद्धता आयी। तो यों अशुद्धता बन्धका कार्य भी है। बंधके बिना अशुद्धता नहीं होती, इस कारण बन्धकी कारणता स्पष्ट ही है। तो जिस प्रकार अशुद्धताका कारण बंध कहा गया है उसी प्रकार यह

भी निरखना चाहिए कि वंधका कारण अशुद्धता है अर्थात् अशुद्धता कारण है और वन्ध कार्य
है। तो अब इसी बातको आगेके श्लोकमें स्पष्ट कर रहे हैं।

कार्यरूपः स वन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात्।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥१३२॥

वन्धकी कार्यरूपता व अशुद्धताकी कारणरूपता—वन्ध कार्य है क्योंकि वन्ध कर्मोका
विपाक होनेसे होता है और अशुद्धता उसका कारण है, वन्ध कार्य है। इस सम्वन्धमें यहाँ दो
बातोंपर प्रकाश डाला गया है कि कर्मोका विपाक होनेसे वन्ध होता है इसलिए वन्ध कार्य
है। इस उत्तरमें तो यह बात आयी कि वन्धका कारण कर्म विपाक है। यह तो एक सजाती-
यतासे उत्तर दिया गया। दूसरी बात यहाँ यह कह रहे हैं कि वन्ध कार्य है, क्योंकि उसके
कारण अशुद्धता है। अशुद्धताके ही कारण नवीन-नवीन कर्मोका आकर्षण होता है और
उसका वन्धन होता है। यहाँ जो पहिली बात कही गई है कि कर्मोका विपाक होनेसे वन्ध
कार्यरूप है। इसमें एक नवीन बात यह ध्वनित होती है जिसका संकेत आस्रवाधिकारमें
पहिली ही गाथामें समयसारमें किया गया है कि कर्मोका जो आस्रव होता है उसका साक्षात्
कारण उदयमें आया हुआ कर्म है। यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि कर्मके आस्रवका कारण
जीवका मिथ्यात्व आदिक भाव हैं, यह बात प्रसिद्ध है और गलत भी नहीं है, पर उसमें
थोड़ा साक्षात् असाक्षात्का फर्क है। नवीन कर्मका जो आस्रव होता है उसका साक्षात् निमित्त
है उदयमें आये हुए कर्म। आस्रव हो रहा है जड़कर्मका और उसका निमित्त हुआ है साक्षात्
उदयमें आये हुए कर्म। तो जड़कर्मके आनेका साक्षात् निमित्त ये उदयागत जड़ कर्म हैं। अब
रागद्वेष मोहभाव आस्रवके कारण हैं, सिद्धान्तमें यह बात जो बड़े स्पष्ट और विस्तृत रूपसे
कही गई है उसका क्या समन्वय है? तो वह भी बात देखिये—जीवमें जो नवीन कर्मका
आस्रव हुआ, उसमें निमित्त तो हैं उदयमें आये हुए कर्म, लेकिन उदयमें आये हुए कर्मोमें
यह निमित्तता आ जाय, ऐसी निमित्तत्व शक्ति आ जाय कि वे नवीन जड़कर्मोके आस्रवके
निमित्त बने ऐसे उदयागत कर्मोंमें निमित्तता रागद्वेषमोहके निमित्तसे आती है, इस कारणसे
नवीन कर्मास्रवके निमित्तका निमित्त है रागद्वेषमोहभाव। और इसमें कोई समयभेद नहीं है
परम्परासे निमित्तपना आया तो है। जीवके रागादिक भावोंमें कर्मके आस्रवके लिए, किन्तु
समयभेद नहीं है। इस कारणसे और साथ ही उसमें बल और प्रबलता रागद्वेष मोहकी ही
सिद्ध होती है, इस कारण यह प्रसिद्ध किया गया है और सीधा ही यों लिख दिया गया है
कि जीवके जो नवीन कर्म आते है उनका कारण रागद्वेष मोह भाव है। बुद्धिको ज्यादह
परिश्रम न दिलाना पड़े श्रोताओंके लिए और बात भी प्रबलताके साथ यह है, इस कारण
यह बात कही गई है कि जीवके नवीन कर्मके आस्रवका कारण रागद्वेषादिक भाव है। इसका

संकेत इस श्लोकमें पहिली पंक्तिमें मिल रहा है कि बन्ध कार्यरूप है। क्यों, कर्मका विपाक होनेसे। दूसरी पंक्तिमें कहा है कि कर्मबन्ध कार्यरूप है और इस हेतु है अशुद्धता, क्योंकि उस अशुद्धताके कारणसे नवीन कर्मोका आकर्षण और बन्धन होता है। इस तरह जैसे अशुद्धताका कारण बन्ध कहा गया है उसी प्रकार बन्धका कारण अशुद्धता भी कहा गया है।

जीवः शुद्धनया देशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥१३३॥

जीवकी शुद्धता व अशुद्धताका निर्देश—इस श्लोकमें जीवकी शुद्धता और अशुद्धताका दिग्दर्शन कराया है। शुद्धनय अर्थात् निश्चयनयकी विवक्षामें जीव वास्तवमें शुद्ध है, और व्यवहारनयकी दृष्टिसे अर्थात् बद्धनय और अबद्धनयकी दृष्टिसे जीव अशुद्ध है, यह बात भी असिद्ध नहीं है। यहाँ शुद्धताका अर्थ रागद्वेषरहित निर्विकार परिणमन नही लेना है। शुद्धता का अर्थ केवल, केवल द्रव्यका नाम है शुद्धता, और द्रव्यके साथ कुछ भी बात लगा दो वह है अशुद्धता, और इस शुद्धता अशुद्धताके प्रसंगमें जीवका बन्धन जैसे अशुद्ध कहा गया है, ऐसे ही जीवकी मुक्ति भी अशुद्ध बतायी गई है। यहाँ अशुद्धका अर्थ सविकारता न लेना, किन्तु केवलरहित शुद्धता है, केवल न होना अशुद्धता है। मुक्त दशामें यद्यपि वह केवल रह रहा है, पर मुक्ति शब्द अनाकुलताका सूचक नही है। छूट गया, कौन छूटा, किससे छूटा, पहिले छूटा न था, बन्धन था, यह तो कितने ही विकल्पोंमें लिये जा रहा है तो ऐसा मुक्तपना कैसे शुद्ध कहा जायगा ? इसको अविकार रूपकी शुद्धता न देखें और इस प्रकरणमें जितना भी कथन चलेगा सर्वत्र यही दृष्टि रखना। शुद्धताके मायने केवलपना रहना और अशुद्धताके मायने केवलपना न रहना, किन्तु उसके साथ कुछ और बात भी चिपकी हो, चाहे पदार्थ, चाहे कल्पना, चाहे कोई परिणति। तो जब केवल एक शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि है तब वहाँ केवल सहज स्वयंमेव जीव है, यह दृष्टिगत होता है, और जब व्यवहारनयकी दृष्टिमें आते हैं तो बद्धनयसे तो बद्धता रूपमें अशुद्ध है और अबद्धनयसे यह मुक्त रूपमें अशुद्ध है। इस तरह शुद्ध भी दृष्टगत होता है और अशुद्धता भी दृष्टगत होती है।

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्दो निर्विकल्पकः।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥१३४॥

निश्चयनयका स्वरूप—शुद्धनय एक है, सम्पूर्ण शुद्धनय एक है, अर्थात् ऐसा शुद्धनय जो किसी भी अपेक्षामें व्यवहारकोटिमें शामिल न हो ऐसा वह सम्पूर्णतया जो शुद्ध है वह नय एक है तथा सामान्यतया शुद्धनय और अशुद्धनय विवक्षावश नाना कोटियोंमें हो सकता है। सामने जब कोई विशेष अशुद्धस्वरूपकी बात हो तो उसके सामने कम अशुद्ध वाली बात भी शुद्धनय कहला सकती है, लेकिन जो शुद्धनय ऐसा है कि कभी भी व्यवहाररूप नही हो

सकता वह शुद्धनय एक है। उसका विषय अखण्ड एक द्रव्य तत्त्व है जो वचनोंके भी अगोचर है, ऐसा वह शुद्धनय निर्द्वन्द्व है अर्थात् द्वैतभावसे रहित है। द्वन्द्व कहते हैं दो को और जो दो से रहित हो उसे कहते हैं निर्द्वन्द्व। जैसे व्यवहारमें कोई पुरुष अकेला हो तो उसे कहते हैं कि यह तो निर्द्वन्द्व है, इसे कोई फिकर नहीं है। तो जो दो से रहित हो उसे निर्द्वन्द्व कहते हैं। यह शुद्धनय निर्द्वन्द्व है। इसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। यह न किसीसे मिला हुआ है और न इसमें किसी प्रकारकी भेदकल्पना है, इसी कारण वह वचनोंसे भी अगोचर है। शुद्ध-नयके विषयमें विस्तृत वर्णन किया गया है कि वह शुद्धनय एक नेति गम्य विषयवाला है। उसको कहने वाला जो भी शुद्धसे शुद्ध वचन होगा वह वचन भी किसी धर्मकी मुख्यतासे कहने वाला होगा, क्योंकि जितने भी शब्द हैं वे धातुवोंसे निष्पन्न हैं, धातुवोंका अपना अपना ही अर्थ है। तो किसी भी शब्दके द्वारा अनन्तधर्मात्मक पदार्थ कहे नहीं जा सकते, इस कारण वह निश्चयनय भेदकल्पनासे अतीत है।

व्यवहारनयका स्वरूप—व्यवहारनय कैसा है ? इसके स्वरूपको भी इस श्लोकमें बताया है और उस शुद्धनयकी तारीफोंसे प्रतिकूल ही बताया गया है। शुद्धनय एक है तो व्यवहारनय अनेक है। क्योंकि व्यवहारनयके विषय अनेक हैं। व्यवहारनय दो के संयोगको बताता है। संयोगसे उत्पन्न हुए प्रभावको बताता है अथवा एक ही वस्तुमें भेदकल्पना करके विश्लेषण कराता है। यों व्यवहारनयके विषय अनेक हैं अतएव व्यवहारनय अनेक हैं। यह व्यवहारनय सद्वन्द्व है। दो से सहित है, भेदसे सहित है। भेदविना व्यवहार नहीं है। व्यव-हारका अर्थ भी यही है। वि, अव, हरण ये तीन शब्द इसमें हैं, व्यवहरण व्यवहारः विधि पूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं। जहाँ भेद है वहाँ द्वन्द्व है, अथवा व्यवहार दो प्रकारसे बनता है तोड़से और जोड़से। दो वस्तुओंको जोड़ दिया, दो का संयोग बता दिया, उसका भी नाम व्यवहार है, और एक अखण्ड वस्तुमें शक्तियोंको तोड़ दिया, प्रतिपादन करनेके लिए नाना शक्तियाँ बतायी जाने लगें तो यों एक अखण्डका तोड़ करना भी व्यवहार है और वह तोड़ अनेक हो सकते हैं और वह जोड़ भी अनेक हो सकते है। यों व्यवहारनय अनेक कह-लाते है और वे सद्वन्द्व हैं, व्यवहारनय सविकल्पक है। निश्चयनय तो निर्विकल्प है, वहाँ किसी प्रकारका भेद या मिश्रण नहीं है, किन्तु व्यवहारनयमें भेद भी है, मिश्रण भी है, इस कारण व्यवहारनय सविकल्प होता है।

व्यवहारनय और निश्चयनयमें अन्तर—व्यवहारनय व निश्चयनय विवरण से यह विदित होगा कि पदार्थका जो यथार्थस्वरूप है, जो केवल निरखनेका ही विषय है ऐसा वह अखण्ड वस्तुस्वरूप व्यवहारनयसे बताया नहीं जा सकता। व्यवहारनयसे बताने की कोशिश तो की जाती है और उस व्यवहारनयसे उस अखण्ड पदार्थकी जानकारी भी

बनती है तथा जानकारीमें जो आये उसे तो ग्रहण कर लिया जाय और व्यवहारनयको हटा दिया जाय तो ऐसी स्थितिमें पदार्थका परिचय हो पाता है। और व्यवहारनय जिन वचनोंसे जो कुछ समझा देता है वह असली रूप नहीं कहा जा सकता। व्यवहारनय तो वस्तुका खण्ड करके प्रतिपादन करता है, इसलिए वस्तुका जो शुद्ध स्वरूप है, सम्पूर्ण अखण्ड रूप है वह व्यवहारनयमे कहा नहीं जाता।

वाच्यः शुद्धनयस्मास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥१३५॥

शुद्धनयसे जीवस्वरूप—इस प्रसंगमें यह बात चल रही है कि जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है। शुद्धके मायने पर्यायशुद्ध नहीं कहा जा रहा और अशुद्धके मायने पर्यायमें विकारी नहीं बताया जा रहा, किन्तु एक वस्तुके भेद न किए जा सकें उसे तो कहते हैं शुद्ध और उसका किसी भी ढंगसे भेद कर दिया तो वह कहलाता है अशुद्ध। ऐसी शुद्धता और अशुद्धता बतानेके लिए शुद्धका विषय करने वाले निश्चयनयका विषय और अशुद्धका निश्चय करने वाले व्यवहारका विषय उक्त श्लोकमें कहा गया है। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि जीवका शुद्धस्वरूप क्या है और उसका अशुद्धरूप क्या है ? नयकी दृष्टिमें शुद्धस्वरूप जाना जा सकता है। तब शुद्धनयकी दृष्टि बनाकर जीवकी बातको निरखिये कि वह जीव एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। अरे इन शब्दों द्वारा भी तो अखण्ड स्वपदार्थ नहीं कहा जा सकता। यदि कह दिया कि चैतन्यस्वरूप है तो चैतन्यका अर्थ क्या है ? चित् धातुसे जो चैतन्यकी निष्पत्ति होती है उसका अर्थ तो समझ है, जानन है, प्रतिभास है, तो क्या जीवमें केवल जानन ही गुण है ? यदि साधारणगुण न हों तो जानन भी नहीं रह सकता। तथा जाननके साथ आनन्द श्रद्धा आदिक गुण भी हैं। तो चैतन्य शब्दसे भी तो आत्मा पूर्णरूपसे नहीं कहा गया, मगर कहे बिना कुछ मार्ग तो नहीं बनता है। किस प्रकारसे उस अखण्ड तत्वका प्रतिपादन किया जाय, परिचय कराया जाय तो व्यवहारनयका आलम्बन आपेक्षिक है। इस व्यवहारनयके बिना तो निश्चयनय भी न जाना जा सकेगा और न कुछ भी समझ बन सकेगी। तो प्रयोग किया जा रहा है व्यवहारनयका, पर निश्चयनयकी दृष्टिसे कैसा है, उस बातको बताया जा रहा है। शुद्धनयके आशयमें यह जीव सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। जीव है तो वह सदा है और उसका स्वरूप सदा है। स्वरूप होता है निरपेक्ष, सहज वस्तुके सत्त्व के ही कारण। जो कुछ है वह वस्तु का स्वरूप है। तो उस स्वरूपको बताया जा रहा कि वह सदा एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस नयसे जीव सदा एक अखण्डद्रव्य है। और यहाँ किसी भी प्रकारकी पर्यायें नहीं परखी जा रही हैं। यहाँ शुद्धताका अर्थ निर्विकारसे न लेना किन्तु एक केवल, शुद्ध, मात्र यही अपने आपके प्राणोंमें, अपने आपके सत्त्वमें जीव क्या है ?

इस तरहकी निगाह यहाँ रखी गई है। तो शुद्धनयके अभिप्रायमें यह जीव शुद्ध मात्र चिदात्मक है।

व्यवहारनयसे जीवस्वरूप—शुद्धनयको छोड़कर अन्य दृष्टिमें आया व्यवहारनयके आशयमें ये जीवादिक ६ पदार्थ कहे गए हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। यहाँ जीवके जो भेद किये गये हैं, पर्याय बताया है, अवस्था बतायी है, इनके सम्ब्रन्धसे या इनके धर्मसे जो जीवके नाना भेद बन गए हैं ये ६ हैं, ये अशुद्धनयके आशयमें हैं। यहाँ अशुद्धताका मतलब विकारसे नहीं, निर्विकारसे नहीं। प्रकरणमें विकार भी अशुद्ध है, और निर्विकार अवस्था भी अशुद्ध है अर्थात् वह केवल नहीं है, किन्तु किसी सम्बन्धसे उस अवस्थाकी बातका वर्णन किया है। तो भेद करनेका ही नाम अशुद्धता है। और भेद न करके अखण्ड द्रव्यको ही निरखनेका नाम शुद्धता है। ये ६ पदार्थ जीवकी अशुद्ध अवस्थायें कही गई हैं। जीव अब इन ६ पदार्थों का सम्बन्ध रखता हुआ जैसे कि अजीव आस्रव बंध आदिक ढंगसे देखेंगे उन सब ढंगोंसे देखनेके लिए एक कल्पना किया गया वह जीव भेद अशुद्ध जीव है और जिन विभावोंके साथ सम्बन्ध जोड़ा जायगा या जो ज्ञानस्वरूप नहीं है ऐसा कुछ भाव अजीव है, सम्बन्ध है वह एक अशुद्ध जीवका भेद है। जीवमें आस्रव हो रहा है, विभाव आ रहे हैं, मोहादिक परिणतियाँ हो रही हैं ऐसा जो स्वभावमें विभावोंका आस्रव व बन्धन बन गया है व आस्रव बंध भी अशुद्ध अवस्था है। देखो रहना तो चाहिए पदार्थको अपने स्वभावरूपसे ही, यही ईमानदारी है, सच्चाई है, पदार्थका स्वभाव है, लेकिन वहाँ आस्रव हो गया विभाव, बंध गया विभाव, यह एक बन्धन है आस्रव है। आ गए विभाव तो यह भी जीवकी अशुद्ध अवस्था है। अब जीवमें सम्वर पर्याय हुई। ऐसा भाव बना जीवका, भेदविज्ञानका, अभेद स्पर्शका, शुद्धोपयोगका, ऐसा जो भाव बना है यह भाव एक जीवके भेदको, अशुद्धताको बताता है। त्रैकालिक अखण्ड एकस्वरूप परिपूर्ण भावमय जो एक जीवतत्त्व है उसका भेद क्या ? जब सम्वर की बात कही जा सकी है तो भेद किया जानेके कारण संवर भी जीवकी अशुद्ध अवस्था है और निर्जरा वह है जहाँ विभाव (विकार) झड़ रहे हैं, सो यद्यपि यह भी जीवके कल्याणकी बात है, लेकिन जीवपदार्थका जो वर्णन किया जा रहा था, अखण्ड निरखा जा रहा था उसके ये भेद किए गए। लो जीव अब ऐसी अशुद्धतामें आया है, इसके विकार झड़ रहे हैं। यह बात निरखी जा रही है। तो यह निर्जरा भी जीवकी अशुद्धता है। अब मोक्षतत्त्व परमपावन तत्त्व जो जीवका एक महान् उद्देश्य है, अनन्त शक्तिमय अवस्था है, है तो उत्तम चीज, किन्तु इस प्रकरणमें जो मोक्ष बताया गया है उससे कितनी ही बातें सिद्ध होती हैं। रहता आया है यह जीव कर्मोंसे बद्ध। अब कर्मोंसे छूट गया। आत्मामें विकार आ रहे थे, अब निर्विकार

अवस्था हुई तो इन सब कथनोंमें अखण्ड जीवतत्त्वका भेद ही तो बताया गया है, सो मोक्ष भी तो जीवकी अशुद्धता कही गई है और पुण्य पाप तो प्रकट अशुद्ध अवस्थामें हैं। तो इस प्रकरणमें एक अखण्ड शुद्ध द्रव्यको दृष्टिमें रखना सो तो उसका शुद्ध बताना है और भेद करना भेद करके जो भी प्रतिपादन है प्रमत्त अप्रमत्त अवस्थायें, कषायसहित कषायरहित, यह सब व्यवहार-कथन है।

एकत्वविभक्त शुद्ध आत्माकी व्यवहाराश्रयण बिना प्रसिद्धिकी अशक्यता—देखिये समयसारमें मूल उद्देश्य क्या बताया गया है और प्रतिज्ञा करके बताया है कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कि मैं उस एकत्वविभक्त जीवतत्त्वको कहूंगा। यहां शुद्धपर्यायकी बात नहीं कही है, या ज्ञान, दर्शन आदिक कुछ बातें कहनेकी मूलमें नहीं हैं। मूलमें बतानेका यही प्रयोजन है कि मैं उस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊंगा। लेकिन दिखायें कैसे, बतायें कैसे ? लेकिन तीर्थ-प्रवृत्तिके लिये प्रतिपादन करना ही होगा। अब जितने प्रतिपादन हैं वे सब अभेदपरक न हो सकेंगे, इस कारण वह सब व्यवहारकथन है। और इस तरहसे अनेक बातें व्यवहारसे कही गई हैं। तत्त्वाभिमुख व्यवहारकथन जो बताये गये हैं जगह-जगह वहाँ लोग प्राय: यह भूल जाते हैं कि यहाँ व्यवहारका प्रयोजन ऐसा व्यवहार है और निश्चयका प्रयोजन ऐसा शुद्ध है कि जहाँ कोई भेद न किया जाय, इस दृष्टिसे तो भूल जाते हैं, किन्तु अशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, व्यवहार, संयोग—इन सब भेदवाले निश्चय और व्यवहार, शुद्ध और व्यवहार इन लक्षणोंको पकड़ लेते हैं तो कितने ही प्रसंग तथ्यसे गिरे हुए बन जाते हैं। यहाँ यह बताया जा रहा है कि एक अखण्ड अविभक्त अपने आपके एकत्वमें प्राप्त परसे विभक्त, भेदसे भी रहित ऐसा जो द्रव्य है उसका निरखना तो शुद्धनयका विषय है और जितना भी उसमें भेद करके प्रतिपादन है, बद्ध है अबद्ध है, मुक्त है, पवित्र है, अपवित्र है, ये सब उसकी अशुद्धतायें है।

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः ।
एकोवाच्य: किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥१३६॥

सम्यक्त्वगोचर शुद्धनयकी ही प्रयोजकता होनेके कारण व्यवहारनयकी अवाच्यताकी सूचिका एक आरेका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि सम्यक्त्वका विषयभूत तो एक शुद्धनय ही है और ऐसा स्पष्टरूपसे भी बताया गया है और यही एक उद्देश्य है कि शुद्धनय जाने। किसलिए जाने ? क्या माथापच्ची करनेके लिए, किसलिए शुद्धनयका परिचय कराया जा रहा है ? इस शुद्धनयका जिसे परिचय होगा और वह उस शुद्धनयमें देखे हुए उस तत्त्व की भक्तिमें आयगा, वह शुद्धका आश्रय करेगा और शुद्धका आश्रय होनेसे उसको सहज अपने आपमें शुद्ध अनुभव जगेगा, जो सम्यक्त्वरूप है। तो सम्यक्त्वका विषय शुद्धनय है तब सार-

भूत तो यही है, तब उसीका कथन करना चाहिए। व्यवहारनयके कथन करनेसे लाभ ही क्या है ? जब व्यवहारनय हेय है, अशुद्ध है, सविकल्प है आदिक सब गालियाँ भी देते जाते हो और व्यवहारनयका कथन भी करते जाते हो तो इस व्यवहारके कहनेसे लाभ क्या है ? कहा केवल एक उस शुद्धनयको ही। व्यवहारनय जब मिथ्या है तब उसके कहनेकी आवश्यकता क्या है ? इस प्रकरणमें यह भी जान लीजिए कि व्यवहारनयमें मिथ्यापनका अर्थ क्या है ? व्यवहारनयके मिथ्यापनका अर्थ यह है कि व्यवहारनयसे वस्तुका अखण्ड पूर्णस्वरूप कथनमें नहीं आता। वचनोंसे अगोचर है, लेकिन वचनोंसे अगोचर होनेपर भी जिसने वस्तु का अखण्डस्वरूप समझा है वह सब वचनोंके माध्यमसे ही समझा है और कोई उपाय किया हो किसीने तो बताओ। प्रथम ही प्रथम देशना द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, वचनों द्वारा ही तो उस वस्तुके शुद्धनयके विषयको या अखण्ड स्वरूपको समझाया गया है। जब व्यवहारनयकी अनुकम्पासे व्यवहारनयके प्रसादसे हम वस्तुके सही तत्त्वको समझ गए हैं तो ऐसा व्यवहारनय मिथ्या क्यों होगा ? मिथ्या तो न कहा जाना चाहिए। लेकिन व्यवहारनयकी जो बात है, वचन है, भाषा है, उसका सीधा अर्थ क्या है ? उसका कथन क्या है ? केवल उसही में कोई अटककर रह जाय तो वह मिथ्या चीज कहलाती है। जैसे कोई वैद्य अपने शिष्योंको पहाड़ पर ले जाकर एक बेंतके इशारेसे बताता जाय कि देखो यह जड़ी अमुक रोगकी दवा है तथा यह जड़ी अमुककी। तो शिष्य लोग उस बेंतको निरखते हैं कि उसका संकेत किस ओर है ? अब उस बेंतको ही अगर कोई शिष्य जड़ी समझ लेवे तो वह मिथ्या है। लेकिन उस बेंतके संकेतकी कृपा जरूर है। तो संकेत मिथ्या नहीं है मगर संकेत ही सब कुछ है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इसी प्रकार व्यवहारनयकी अनुकम्पासे शुद्ध तत्त्वका परिज्ञान होता है, ऐसे व्यवहारनयको मिथ्या घोषित कर देना यह तो कोई संगत बात न होगी। उस व्यवहारनयके वचनोंमें जितने शब्दों द्वारा वाच्य बसा है बस उसीमें ही कोई अटक जाय तो वह मिथ्या बन जाता है। तो शंकाकार कह रहा है कि व्यवहारनय जब मिथ्या है तो उसके कहनेकी मानने की क्या जरूरत है ? सम्यक्त्वका विषयभूत शुद्धनय है, इस कारण उसे ही केवल कहना चाहिये।

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायवलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥१३७॥

उक्त शंकाके समाधानमें न्यायबलसे व्यवहारनयकी उपयोगिताका कथन—उक्त श्लोकमें शंकाकारकी यह शंका थी कि शुद्धनय ही सम्यक्त्वका विषयभूत है। शुद्धनयके आश्रयसे सम्यक्त्वकी निष्पत्ति है। सम्यक्त्वके लिए प्रयोजनभूत शुद्धनय है। तब ऐसी हालत में एक शुद्धनय ही कहा जाना चाहिए। व्यवहारनयके कहनेकी आवश्यकता क्या है ? इसके

उत्तरमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि यद्यपि यह बात ठीक है कि शुद्धनय उत्तम है और व्यवहारनय उत्तम नहीं है। तो शुद्धनयसे वस्तुका वास्तविक पूर्णरूप बोधमें आता है और व्यवहारनयसे वस्तुका खण्डशः परिचय होता है, इस कारणसे शुद्धनय उत्तम है और व्यवहारनय श्रेय नहीं है। यद्यपि यह बात सत्य है परन्तु क्या किया जाय ? न्यायके बलसे व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह प्रतीत होता है। अर्थात् व्यवहारनय न्यायबलसे आपतित है। व्यवहार नयके बिना कोई प्रतिपादन नहीं हो सकता, किसी तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, शुद्धनयके विषयका भी परिचय व्यवहारनय कराता है। शुद्धनय और अशुद्धनय दोनो ही प्रतिपक्षी हैं, तो जब शुद्धकी बात कहते हैं तो अशुद्ध तो अपने आप आ गया अर्थात् जो विरुद्ध चीजें हैं उनमें से एकको कहनेसे दूसरेका आभास परिचय तो अपने आप हो ही जायगा। कोई ठंढा कहे तो उसकी दृष्टिमें गर्म कोई स्वरूप नहीं है क्या ? गर्मस्वरूप उसकी दृष्टिमें हुए बिना ठंढ का उसे पता ही नहीं हो सकता है। यदि गर्मका पता न हो तो ठंढी चीजका स्पर्श करके वह तो बस इतना ही कह पायगा "यह"। तो जो प्रतिपक्षी धर्म हैं उनमेंसे किसी एकको कह दिया जाय तो दूसरेका ग्रहण हो ही जाता है।

शुद्धनय व व्यवहारनय दोनोंकी अपने स्थानमें लाभकारिता—अब रही यह बात कि शुद्धनय व व्यवहारनयमें लाभकारी कौन है और अलाभकारी कौन है ? तो वस्तुका पूर्ण अखण्डरूप ग्रहण कराता है शुद्धनय, इसलिए यह लाभकारी है और व्यवहारनय साक्षात् अखण्डका ग्रहण नहीं कराता पर उसकी कोशिश रहती है अखण्डका ग्रहण करानेकी, पर व्यवहारनयकी शब्दविधि इस ढंगकी है कि वस्तुका खण्डश: परिचय करायेगा तो वस्तुका खण्डश: परिचय कराता है। इतने मात्रसे व्यवहारनयको अयथार्थ कह लो, अलाभकारी कहलो; फिर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ता है। और लाभ की बात यह है कि व्यवहारनयका आश्रय किए बिना लाभवाली बातकी भी समझ नहीं बन सकती। इसलिए व्यवहारनय अयथार्थ है, इसका सही अर्थ समझना चाहिए। केवल इतने ही शब्दको लेकर और हर जगह इस बातपर जम जायें कि व्यवहारनय तो अयथार्थ है, मिथ्या है, झूठ है तो यह बतलाओ कि क्या मुक्त जीव झूठे हैं ? क्योंकि मुक्त जीव तो व्यवहारनयका विषय है। मोक्ष तो व्यवहारनयका विषय है। जीवकी अशुद्धतामें जो ९ पदार्थ कहे गए हैं उनमें ही तो मोक्ष है। वह मोक्ष झूठा है क्या ? क्या सिद्ध भगवान अयथार्थ हैं ? सो तो बात नहीं। यों व्यवहारनयका कोई विषय है इस कारण वह अयथार्थ है, यह बात तो न रही। अयथार्थता का तो बतानेका प्रयोजन यही है कि जब वस्तुके शुद्ध अखण्ड स्वरूपको निरखा जा रहा हो तो उस शुद्ध अखण्ड वस्तुके निरखने के मुकाबलेमें यह व्यवहार अयथार्थ है। अर्थात् शुद्धनय तो हमें बताता है सहज अखण्ड, किन्तु यह बताता है खण्डशः इसलिए शुद्धनय यथार्थ है और

व्यवहार अयथार्थ है, इस शब्दका लोग दुरुपयोग बहुत करते हैं और उस दुरुपयोगसे सन्मार्ग दूर हो जाता है। शुभभाव, व्यवहारधर्म, सम्बर, निर्जरा आदिक बातें बिल्कुल दूर हो जाती हैं और व्यवहार अयथार्थ है इसकी मुद्रा सभी घटनाओंमें ठोक दी जाती है। व्यवहार अयथार्थ है इसका अर्थ यह है कि व्यवहार खण्डशः प्रतिपादन करता है, किन्तु वस्तु खण्डरूप नहीं है, इस तरह व्यवहार अयथार्थ है और अखण्ड दृष्टिमें लाभकारी नहीं है। फिर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ता है।

व्यवहारनयकी लाभकारिता—अब यहाँ व्यवहारके लाभकारी होनेकी भी बात समझियेगा। मोक्ष है, संवर है, निर्जरा है, उपाय है क्या ये लाभकारी नहीं हैं? और हैं व्यवहारनयके विषय तो कैसे कह दिया जाय कि व्यवहारनय लाभकारी नहीं है? व्यवहार लाभकारी नहीं है—इसका अर्थ यह लगाओ कि हमें चाहिए अखण्ड वस्तुकी दृष्टि, जिसके आश्रयसे हम विकल्प, कषाय बन्धनसे मुक्त हों और हममें निर्मल पर्याय ही परिणमती रहे। इसके लिए हमें विकल्प वाला विषय न चाहिए। हमें चाहिए निर्विकल्प अखण्ड दृष्टि। तो निर्विकल्प अखण्ड तत्त्वकी दृष्टिमें तो समर्थ शुद्धनय है। तो उस कामके लिए व्यवहार लाभकारी नहीं है, इतना अर्थ है। अब कोई व्यवहारनय लाभकारी नहीं है—इतना हर जगह अर्थ लपेटता जाय, हर जगह घटाता जाय तो वह सन्मार्गपर न चल सकेगा। तो जिस अनुभवके लिये व्यवहारनय अयथार्थ है, लाभकारी नहीं है उसका तथ्य समझें तिस पर भी न्यायबलसे व्यवहारको मानना ही पड़ेगा और भी सुनो—कोई पुरुष ऐसा आग्रह करे कि हम तो व्यवहारनयको छुवेंगे ही नहीं, यों ही उस अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूपका भान कर लेंगे तो यह न हो पायेगा। अरे पड़ा तो है वह अभी जन्ममरणके चक्रमें, शरीरके बन्धनमें है। अनेक प्रकारके विकल्पोंमें पड़ा है, पर कहता है कि हम बिना व्यवहारका आश्रय लिए ही उस अखण्ड चैतन्यस्वरूपका दर्शन कर लेंगे तो यह कहना उसका ठीक नहीं। यदि ऐसा व्यक्ति कोई हो तो दिखाओ। जो आज अखण्ड तत्त्वकी यथार्थता बताकर व्यवहारको सर्वथा अयथार्थ बता रहे हैं और दूसरोंका व्यवहार पहिलेसे ही छुड़ा देनेका प्रयास कर रहे हैं, उन्होंने स्वयं व्यवहारका आलम्बन लेकर व्यवहारसे काम निकालकर ऐसी अखण्डदृष्टि पायी होगी। तो व्यवहारके बिना तो निश्चयका दिग्दर्शन न हो सकेगा। इस कारण व्यवहारनय भी श्रेयकी तरह न्यायके बलसे प्राप्त होता है।

तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥१३८॥

अशुद्धनयसे जीवकी नवपदार्थरूपता—इस गाथामें शुद्धनय और व्यवहारनयके विषय को अविरोधपूर्वक दिखाया गया है। अनादि संतानसे प्राप्त हुई बंधपर्यायकी अपेक्षासे जब

कहा जाता है तब वही जीव ९ पदार्थोंके रूपसे स्मरण किया गया है। जीव जैसा कि स्वरूपतः शुद्ध केवल अखण्ड कहा गया है। वह अपने आपमें सहज सदा अन्तःप्रकाशमान है। उसका खण्डन नहीं किया जाता क्योंकि बन्धन भी सत् है, वह सब सत् अखण्ड अपने सहज पारिणामिक भावस्वरूप है, किन्तु पर्यायको भी मना नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सत्में निरन्तर पर्याय होती रहती है। अगर तद्भाव न हो, पर्यायें न हों तो वस्तुका अभाव हो जायगा। तो पर्यायको भी मना नहीं किया जा सकता। तो अब यहां यह परखिये कि यहां पर्याय क्या हो रहा है, परिणमन क्या चल रहे? तो स्पष्ट है कि बंधपर्याय है और यह बंधपर्याय कबसे है? अनादि संतानसे। तो अनादि संतानरूपसे प्राप्त बंधपर्यायकी अपेक्षासे जब कहा जाता है तब वही जीव ९ पदार्थोंके रूपसे देखा जाता है। जीव बंधमें है कि नहीं? बंध है। यहां कर्मोंसे बंधा है—यह न निरखिये। बंधा है। जैसे उसी दिन जिसने बच्चा पैदा किया हो ऐसी गाय उस बछड़े से बंधी है। मालिक बछड़ेको गोदमें लेकर आगे आगे चलता जाता है, गाय उसके पीछे पीछे भागती जाती है। देखिये वह बन्धन ऐसा बन्धन है कि जैसा गिरवा से बाँध देनेपर भी नहीं हो सकता। तो वह गाय बंधी है। जिससे बंधी है? लोग तो कहेंगे कि बछड़ेसे बंधी है, पर बात यह है कि उस बछड़ेविषयक जो स्नेह उस गायके लगा है उस स्नेहसे वह बंधी है। तो ऐसे ही यह जीव बंधा है विभावोंसे, राग द्वेषादिक कषायोंसे। बस इसीलिए यह जीव परतंत्रताका अनुभव कर रहा है। अन्यथा बताओ परतंत्रता क्या है? मकान मकानमें है, अनेक लोग वे अपने आपमें हैं। धन वैभव वे अपने पुद्गलस्वरूपमें हैं, सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं। मेरेमें कोई नहीं मिला है। दूसरेमें मैं रंच नहीं जाता। परतंत्रता किस बातकी? जैसे यह कहते लोग कि मैं यह मकान प्रारम्भ करके परतंत्र हो गया, अधूरा रह गया, मैं इसके बड़े आधीन हूं। अरे जब उस पूरे बने हुए मकानको भी छोड़कर जाना पड़ेगा तो इस अधूरे बने हुए मकानको अभीसे क्यों न छोड़ दीजिये? अमुक मनुष्य यों चलता है, मैं बड़ा हैरान हूं। अरे क्या हैरानी है, उसका जो परिणमन हो रहा है वह उसमें हो रहा है, आपका जो परिणमन हो रहा है वह आपमें ही हो रहा है। किसीका परिणमन किसी दूसरेमें नहीं पहुंचता। जब ऐसी बात है तो फिर किसी दूसरे जीवके प्रति आपको हैरानी क्यों? हैरानी तो है खुदके भावबन्धन की।

व्यवहारनयके विषयभूत नव पदार्थोंकी वस्तुगतता—हम आप आज बन्धनकी दशा में हैं। यह बन्धन क्यों हुआ? आस्रवसे। आस्रव बिना बन्धन नहीं होता। आस्रव कहते हैं आनेको। आये बिना बन्धन क्या? आये, ठहरे तभी तो बन्धन होगा। जब आस्रव हुआ तभी तो बन्धन हुआ। आस्रव और बन्धके सम्बंधमें यह बात है कि आनेका नाम आस्रव है और उसका समय एक समय है और बन्धनका नाम बंध है, उसका समय कमसे कम दो समयका

है। एक समयके लिए बंध नहीं बताया जायगा। लेकिन बंधका भी अर्थ यह न होगा कि कर्म पहिले समयमें आये और दूसरे समयमें बँधे। दो तीन हजार वर्ष रहें, असंख्यातों वर्ष रहें, तो भी बन्धन पहिलेसे ही माना जायगा। जिस कालमें आस्रव है उसी कालमें बंध है, पर बंध संज्ञा तब मिलती है जब आ गए हैं, ठहर गए हैं, नहीं तो वह आस्रवमात्र है। जिस समयमें आये उस समयमें क्या सम्बन्ध नहीं है? सम्बंध विना आना किसे कहेंगे? किसीसे कहा जाय कि साहब आप कमरेमें आइये मगर कमरेसे सम्बन्ध न बनाना, तो क्या वह कमरे के अन्दर आ सकेगा? न आ पायगा। तो इसी प्रकार जीवमें जब विभाव आ रहे, विभाव बँध रहे, ये पर्यायें हो रहीं तो इसको कोई कैसे मना करे? ये हो रहे हैं अनादि संतानसे। तो यही जीव ९ पदार्थोंके रूपसे निरख लिया गया। बंध है, आस्रव है, सम्वर भी हुआ, निर्जरा भी होती, मोक्ष भी होता, विभाव भी देखा और विभाव योग्य जीवको भी देखा और उन कर्मोंमें कोई पुण्य है, कोई पाप। हैं ये सब जीवके भेद। भावपुण्य, भावपाप, भावमोक्ष, भावसम्वर, भावनिर्जरा, भावबंध, भावास्रव, विभाव, अजीव और विभाव योग्य जो सम्पूर्ण द्रव्य हैं वह जीव। यही तो निरखा गया। तो यह बात क्या असत्य है? जिससे कह दिया जाय कि व्यवहारनयका विषय अयथार्थ है। कोई पुरुष डंडे मारे और जिसके लगें वह कहे कि झूठ है, मेरे डंडे नहीं लगे, तो चाहे इस तरह बोलता जाय मगर सिरपर तो बीत ही रही है। व्यवहारनय अयथार्थ है और आस्रवबंध आदिक जो पर्यायें चल रही हैं और बरबादी हो रही है तो इनको तो इस तरह कहने वाला न टाल सकेगा।

व्यवहारनयकी अयथार्थता बतानेका लक्ष्य और व्यवहारनयके विषयभूत पदार्थोका विशद दर्शन—व्यवहारनय अयथार्थ है। इसका लक्ष्य यह है कि वस्तु सहज अपने स्वरूपमें अखण्ड एक है। उसकी दृष्टि जो कोई कर रहा हो उसका भाव ऐसा सम्हला हुआ केन्द्रित एकरूप बन रहा है, तब वह अखण्डको समझ रहा है। तो वस्तु स्वयं अपने आपमें अखण्ड है। फिर व्यवहारनयसे उसका परिचय कराना होता है तो वह खण्डशः प्रतिपादन करता है। यों तो किसी पुद्गल अणुका ही विचार कर लीजिए। पुद्गल अणुका कैसा स्वरूप है? जैसा स्वरूप है केवली जानता है और शुद्धनयकी दृष्टि बन सके तो यहाँ भी परिचय किया जा सकता है। कर सकेगा कोई विशिष्ट ज्ञानी। अब उसके परिचयमें यह बात बतायी जाती है कि परमाणुमें रस है तो परमाणुमें से केवल रस धोकर ला दीजिए। कहाँ धरा है रस? परमाणुकी तो बात छोड़ो—स्कंधको दृष्टान्तमें ले लीजिए। आममें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि है, पर आपसे कहें कि जरा आमका केवल रूप हमको निकालकर दे दीजिए, बाकी वहीं रहने दीजिए, तो क्या ऐसा किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। यदि वहाँ ये रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अलग-अलग रखे हों तो कोई उनमें से किसी एकको माँगनेपर देनेका प्रयत्न

करे, वह तो स्वयं वर्णादिकमय है और इसी कारण यह बताया गया है कि अवग्रह, ईहा आदिक जो ज्ञान होते हैं वे पदार्थके होते हैं, गुणके नहीं, पर्यायके नहीं। स्पष्ट कहा है "अर्थस्य" वही पदार्थ वर्णरूपसे हो, रसरूपसे हो, गुणरूपसे विदित हो, यह ज्ञानकी पद्धति है। ज्ञानमें आता है वह पदार्थ। तो इस तरह यह जीव शुद्धनयसे तो अखण्ड है और व्यवहारनयसे ये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि ९ पदार्थों रूप है।

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पद संज्ञकाः।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥१३९॥

नव पदार्थके भेदका कारण—जीवकी शुद्धता और अशुद्धताके प्रकरणमें कहा जा रहा है कि नव पदार्थ पर्यायधर्मा हैं और इन भेदोंका कारण उपाधि है। यहाँ शुद्धताका अर्थ लेना है निर्विकल्प अखण्ड एक केवल आत्मद्रव्य और अशुद्धताका अर्थ लेना है जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन रूपोंमें देखा गया जीव पदार्थ। तो इस तरहसे जो ये ९ पदार्थ हैं ये पर्यायधर्मा हैं। ये ९ पदार्थ जीवकी पर्यायें हैं। और यहाँ उपरक्ति (उपाधि) लगी हुई है जिसके कारण यह ९ पदार्थोंका भेद पड़ा है। परन्तु यह उपाधि पर्याय मात्रता नहीं कहलाती। अर्थात् उपाधि एक विशिष्टता है किन्तु यह पर्यायमात्र नहीं कही जा सकती। यहाँ मूलपर्यायपर दृष्टि दिलाई गई है। पदार्थकी पर्याय अगुरुलघुगुणके निमित्तसे अर्थात् स्वयंके ही कारण जो षड्गुण हानि वृद्धि है वह पर्याय है। पदार्थमें पदार्थके ही स्वभावसे निरखा जाय तो पदार्थमें निरन्तर परिणमन हो क्या रहा है, वह है अर्थपर्याय। उस अर्थपर्यायमें कोई भेद नहीं पड़ा हुआ है। वह भेदरहित है। जैसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्यमें अर्थपर्याय निरन्तर चलती रहती है तो उसमें हम कोई भेद समझ पाते हैं क्या? वहाँ कोई भेद व्यक्त नहीं है। वहाँ विभावगुण व्यञ्जन पर्याय नहीं, स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय व्यक्त हो रही, सो वह होते हुए भी वह व्यञ्जनपर्याय वहाँ तो अर्थपर्यायके अनुकूल है और उसमें अन्तर्लीन है। पर्याय तो वास्तविक अर्थपर्याय है। जो पदार्थके स्वभावसे पदार्थमें निरन्तर रहती है उसे कहेंगे पर्यायमात्रता। तो पर्यायमात्रता उपाधिमें नहीं है, उपाधिके मेलमें नहीं है। उसे तो स्वतंत्रतया निरपेक्ष एक द्रव्यमें ही निरखा जाय तो उसका परिचय होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि जीव अजीव आदिक ९ पदार्थ उपाधिरूप हैं। सम्बन्धपर हुए ख्याल विकल्पके कारण ये उत्पन्न हुए है।

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तया स्वतः।
यतो नव पदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥१४०॥

नव पदार्थोंमें उपरक्तिका कथन और जीव पदार्थमें उपरक्तिका घटन—जीवोंके

उपाधि है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपरक्ति सहित जीव है, यह बात स्वतःसिद्ध है । इस कारणसे यह कहना युक्तिसंगत है कि इस उपाधिका सम्बन्ध इन ९ पदार्थोंमें ही है; जीव की पर्यायोंमें नहीं, जीवके स्वभावपरिणमनमें नहीं, पर्यायमात्रमें नहीं; किन्तु इन ९ पदार्थों में उपरक्ति व्याप्त है । यहाँ भी भेदवाली दृष्टिसे उपरक्तिको निरखिये—यहाँ विकारों वाली उपरक्तिको ध्यानमें न लीजिए अथवा यों समझ लीजिए—उस उपरक्तिकी बात नहीं कही जा रही है जो रागादिक विकारोंरूप है, किन्तु यहाँ उपरक्तिका मतलब है—परसे कोई सम्बन्ध बनाना । परसे निरपेक्ष होना, सो तो अनुपरक्ति है और परकी जहाँ अपेक्षा है सो ही उपरक्ति है । अब जितने भी ये ९ पदार्थ बताये गए हैं इनमें परकी उपरक्ति है, सम्बन्ध है । जैसे कहा जीव तो इन ९ पदार्थोंमें जो जीव बताया है यह केवल उस चिदात्मक शुद्ध जीवकी बात नहीं कही गई, किन्तु यह जीव व्यक्त जीव है । जैसे हम शुद्ध सहज स्वरूपसे चिग करके और किसी व्यक्तिरूपमें हम जीव हैं यहाँ ऐसा भाव लेना है, वह है जीव पदार्थ । तो अब देखिये—इसमें उपरक्ति क्या हुई ? "जीव" ऐसा कहनेमें उपरक्ति यह आयी कि हम कुछ ऐसे व्यक्त मूर्त परिभ्रमण करने वाले संसारमें रहने वाले अथवा एक व्यक्तिरूप छाँटकर हम इसमें जीवकी बात कह रहे हैं । तो ख्यालमें कोई उपराग आया, सम्बन्ध आया, इस कारणसे जीव यह पदार्थ भी एक उपराग सहित कहा गया । ये ९ के ९ ही पदार्थ सोप-राग हैं । यहाँ यह बात कही जा रही है और इस बातको इस दृष्टिसे सुनना है कि मोक्षमें भी सोपरागपना घटित हो जाय । मोक्ष क्या रागसहित है ? नहीं है । मगर मोक्ष भी एक पदार्थ है इन ९ पदार्थोंमें से, और इन सब पदार्थोंको उपाधि सम्बन्धसे बताया गया है । प्रश्न– तो मोक्षमें क्या उपाधिका सम्बन्ध है ? उत्तर– जो ख्यालमें यह आता है कि कर्मसे छूट गए तो चाहे छूटनेके रूपमें भी दूसरेसे सम्बन्धकी बात आयी, ख्यालमें वही उपराग हो गया । तो यहाँ जो शुद्धता और अशुद्धताका वर्णन है सो सविकार पर्याय निर्विकार पर्याय इस नाते से नहीं कहा जा रहा है, किन्तु जहाँ उस निश्चयनयके विषयभूत वचनोंके अगोचर उस शुद्ध केवल अनादि अनन्त शाश्वतभावसे चिगकर जो कुछ कुछ कल्पनामें लाकर उसका रूप देते हैं और यों समझिये कि व्यवहारमें हम थापते हैं बस वही पदार्थ अशुद्ध और सोप-राग बताया गया । तो ऐसी उपरक्तता यहाँ असिद्ध नहीं है ।

पर्यायमात्रमें अव्याप्त सोपरागकी भेदपर्यायरूप नव पदार्थोंमें व्याप्ति—विवक्षित यह उपराग ९ पदार्थोंमें व्यापक है, पर पर्यायमें व्याप्त नहीं है, अर्थपर्यायमें व्याप्त नहीं है । जीवकी जो निरपेक्ष पर्याय है । जिसमें हटनेकी भी अपेक्षा न हो, लगनेकी भी अपेक्षा न हो, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनोंके ध्यानसे रहित जो एक सहज केवल मात्रमें निरखी हुई वृत्ति है उसे कहा है यहां मात्र पर्याय, उस पर्यायमें यह उपाधि व्याप्त नहीं है और ९ पदार्थों

में यह उपाधि व्याप्त है। जहां संवर, निर्जरा, मोक्ष--इन तत्त्वोंको भी सोपराग बताया गया है वहां यह तो ध्यानमें लाना चाहिये कि यह किस नातेकी उपाधिका वर्णन है और जिस नातेका उपराग, संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थोंमें लगाया गया है उसी नातेका उपराग इस प्रकरणमें आस्रव, बंध, जीव, अजीवमें भी समझना। यह बात अवश्य है कि आस्रव बंधमें इस प्रकृत उपरागसे भी बढ़कर और उपराग भी लगा हुआ है अर्थात् एक कर्मउपाधिका भी उपराग लगा है लेकिन जिस नातेसे ९ पदार्थोंको यहां अशुद्ध कहा जा रहा है वही सर्वमें देखना है।

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ।।१४१।।

सोपराक्ते न माननेके हठमें दोषापत्तिका दिग्दर्शन—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि व्यवहारदृष्टिसे जीव सोपरक्त है, उपाधि सहित है, उपाधि वाला है। तो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि ९ पदार्थ सोपाधि हैं। इनमें किसी न किसी ढंगसे परका सम्बन्ध कल्पित है, ऐसी उपाधि होने से ये ९ पदार्थ बने हैं तो यहां यह प्रश्न ध्यानमें लाना कि नव पदार्थ सोपाधि हैं तो उपाधि होनेके कारण इनको नहीं मानना चाहिए। ये बिल्कुल झूठ है, अयथार्थ है। उत्तर—यदि उपाधिके कारण इनमें आदर न किया जाय अर्थात् इन्हें माना न जाय, ये बिल्कुल ही झूठे हैं—यों कह करके उड़ा दिया जाय तो फिर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि ९ पदार्थ ये कैसे सिद्ध होंगे? ये अवस्थायें भी नहीं बन सकतीं। किन्तु यह तो बताओ कि ये बातें क्या हैं नहीं? आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि क्या हैं नहीं? तो जब उपाधि उड़ा दोगे और इनको मानोगे ही नहीं तब फिर ये अवस्थायें या ९ पदार्थ फिर हो ही न सकेंगे और ऐसी स्थितिमें दो विडम्बनायें होंगी, एक तो यह कि सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिए। यदि ९ पदार्थ नहीं हैं तब क्या है? वह कोई एक है! तो ऐसा नजर क्यों नहीं आता? अनुभवमें क्यों नहीं आता? फिर तो सदा ही उस शुद्ध जीवका अनुभव होना चाहिए। यहां शुद्ध जीव से मतलब पर्याय शुद्धका नहीं। शुद्ध कहो, मुक्त कहो, मोक्ष कहो, ये तो ९ पदार्थोंमें आ गए। वे तो सोपाधि हैं, मुक्त हुए हैं कर्मोंसे, या यों कहलो कि असिद्धतासे हट कर सिद्ध हुए। यहाँ तो शुद्ध शब्दसे एक अखण्ड जीवको कहा जा रहा है जो अनादि, अनन्त, अहेतुक त्रिकाल एकस्वरूप, जो केवल अपने स्वभावमात्र है उसको शुद्ध कहा जा रहा है। यदि ये ९ पदार्थ नहीं हैं तो फिर ऐसा शुद्ध जीव सदा ही अनुभवमें रहना चाहिये। दूसरी विडम्बना यह है कि ९ पदार्थ जब नहीं माने तो इसके मायने हैं कि आस्रव, बंध आदिक अशुद्ध पदार्थ नहीं माना। अथवा जब ये अशुद्ध न माने गए तो शुद्ध जीव भी प्रतीतिमें, ज्ञानमें,

अनुभवमें आ नहीं सकता। उस ही शुद्धकी बात यहाँ भी कह रहे हैं। वह अखण्ड एक अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावमात्र है। ऐसे शुद्ध जीवका परिचय कुछ न हो सकेगा, क्योंकि अशुद्ध या ९ पदार्थ ये तो माने नहीं गए हैं। जहाँ प्रतिपक्ष कोई धर्म नहीं होते वहाँ उस विवक्षित या लक्ष्यमें जिसकी इच्छा की जा रही है उसका भी परिचय नहीं हो पाता। गर्मका ज्ञान न हो तो ठंडेका परिचय कहाँसे आये? जब हम अनुभवमें लाते कि गर्म ऐसा होता है तभी तो हम ठंडेकी बात बता देते हैं। मान लों सभी चीजें ठंडी-ठंडी ही होतीं तो गर्मका परिचय न होनेसे "यह ठंडा है" यह ज्ञान कहाँसे होता? जब ये जीवादिक ९ पदार्थ कुछ नहीं हैं तब फिर उस केवल एकका ज्ञान कौन कर सकेगा? इससे उपाधिका मानना आपतित है। और इसी अर्थको यदि शुद्धपर्याय, अशुद्धपर्यायकी दृष्टिसे कोई लाये तो वहाँ भी लगा लेना चाहिये कि जो अशुद्धपर्याय न माने उसको शुद्धका अनुभव कैसे हो? क्योंकि अशुद्धता शुद्धताका कारण है। इसका कारण यह है कि वह अशुद्धता पूर्ववर्ती है, तथा शुद्धता कार्य है क्योंकि वह उत्तरवर्ती है। तो पूर्ववर्ती चीज जब नहीं मानी गई तो यह उत्तरवर्ती चीज कैसे सिद्ध की जा सकेगी?

व्यवहारगत विकल्प हटाकर परखे गये व्यवहारके विषयमें निश्चयनयके विषयकी झलक—और भी इस विषयमें समझिये कि व्यवहारनयका या भेदपद्धतिका प्रतिषेध आग्रहमें न लाना चाहिए, क्योंकि निश्चयनयका जो मर्म है, विषय है उसपर ले जानेका काम व्यवहारनयने किया है। जैसे हम कहते हैं कि यह तृणकी अग्नि है, यह कंडेकी अग्नि है, यह लकड़ी की अग्नि है, यह कोयलेकी अग्नि है आदि, तो यह व्यवहारनयका विषय है। और निश्चयनयसे क्या है? क्या वह तृणकी अग्नि है? जब तक तृण है तब तक अग्नि भी नहीं है। तृण की अग्नि तो कहेंगे क्या? जब तक वह तृण पड़ा है, कब तक वह तृण कहलायेगा? जब तक कि वह अग्निमें पड़ा नहीं है, उसकी अग्नि क्या? लगता है ऐसा कि अग्नि कोई भिन्न वस्तु हुई, तृण कोई भिन्न वस्तु हुई, और जब भेदरूपसे सम्बंध जोड़कर कहा गया है तो यह व्यवहारनयका विषय हुआ। लेकिन तृणकी अग्नि, लकड़ीकी अग्नि आदिक कहकर दृष्टि कहाँ पहुंचाया? उस उष्ण द्रव्यकी ओर। तो इस स्थितिमें व्यवहारनयने बताया तृणकी अग्नि, काठकी अग्नि आदि। ये तृण, काठ आदिक विशेषण यदि हटा दिए जायें तो फिर व्यवहारनयमें जो बताया वह निश्चयनयमें आया। व्यवहारनयने उस अग्निका परिचय कराया और अग्निका परिचय कराया विशेषण लगाकर, काठकी अग्नि आदि कहकर, तो जो परिचयमें आया वह तो सही है, पर उस परिचयमें से विशेषण हटा दिया जाय और जहाँ दृष्टि पहुंचायी गई है वहाँ अपना ज्ञान रखा जाय, लो यह निश्चयनयका विषय बन गया। इस बातको इस तरह समझ लीजिये कि व्यवहारनयका जो विषय है उसमें से यदि सभी विकल्प-समूह दूर

कर दिए जायें तो वही निश्चयनयका विषय हो जाता है। इस कारणसे व्यवहारनय अनादरके योग्य है, न माननेके योग्य है, ऐसा एकान्त न करना।

व्यवहारकी अयथार्थताके प्रतिपादनका मर्म—व्यवहारको सर्वथा मिथ्या न समझना। वह अयथार्थ नहीं है। किस मैदानमें अयथार्थकी बात कही है उसका मर्म समझे बिना सर्वत्र यह ढिंढोरा पीटना कि व्यवहारनय झूठा है, यह तो कोई भली बात नहीं है। ये जो मनुष्य, तिर्यञ्च आदिककी पर्यायें दिख रही हैं, या हम आप सभी लोगोंकी ये जो नाना स्थितियाँ दिख रही हैं, ये क्या असत् हैं? क्या ये कुछ भी नहीं हैं? यदि ये कुछ न हों तो फिर दुःख कैसे हो रहा है? इसलिए इन्हें सर्वथा असत् न कहना, सर्वथा अयथार्थ न कहना, किन्तु जीव पदार्थका मूल शुद्ध रूप क्या है उसपर दृष्टि जब जाती है तो वह एकत्व दृष्टिमें आया, उसके सामने ये भेद सब अयथार्थ लगे हैं, यों यह व्यवहार अयथार्थ है, कहीं सर्वथा अयथार्थ नहीं हो गया। यह सब तो सिद्धान्तमें वर्णित है। कर्म जीवका सम्बंध बताया है। कर्मके विपाकमें जीवकी परिणतियाँ बतायी गई हैं, और बड़ी सूक्ष्मतासे वर्णन है। श्रेणीमें चढ़ रहे श्रमणोंकी किस-किस तरहसे पर्यायमें निर्मलता बढ़ रही है और किस प्रकारसे उन कर्मोंमें उथल-पुथल हो रही है, कौनसी प्रकृति कहाँसे चिगकर किस स्थितिमें मिल गई है, कितने अनुभाग अपने पूर्वयोजित अनुभागसे चिगकर किस छोटे अनुभागमें मिल गए है, किस तरह वहाँ संक्रमण हो रहा है और कहाँ तक किस एक गुणकी धारा बढ़ती रहती है? यह जो सब कुछ सूक्ष्मसे सूक्ष्म प्ररूपण है क्या यह सब मिथ्या है? व्यवहारनय मिथ्या है, अयथार्थ है, इसका भाव केवल इतना है कि पदार्थ स्वयं केवल अपने आपमें अपने स्वरूपमें किस प्रकारका स्वरूप लिए हुए है अथवा यों कहो कि परमपारिणामिक भावमय पदार्थ किस रूप है? उसकी अपेक्षामें अब इसका भेद करना यह भेद अयथार्थ है। अर्थात् जो यथार्थ वस्तु है, पारिणामिक भावमय जो अनादि अनन्त अहेतुक स्वरूप है वह स्वरूप, वही स्वरूप है वस्तुका सहज यथार्थ और उसके खंड करके, अंश करके, शक्तिभेद करके जो कुछ वर्णन हो रहा है उसमें वह स्वरूप नही कहा गया है। इस कारणसे यह व्यवहारनयका विषय अयथार्थ है। इतना ही यहाँ अर्थ समझना है और इस ही प्रसंगको लेकर यह कहा गया है कि जो भूतार्थका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि है और अभूतार्थका आश्रय करनेमें सम्यक्त्व नहीं है। अर्थात् वस्तुके भेदोंका, खण्डोंका, अंशोंका जो आश्रय करता है और उस अखण्ड स्वभावका लक्ष्य नहीं करता है उसको सम्यक्त्व नहीं है, यह कहा गया है।

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः।
उभयं नोभयं किंवा तक्रमेणाक्रमेण किम् ॥१४२॥

उपरक्तिके सद्भावविषयक पांच विकल्पोंमें शंकाकार द्वारा आलोचन—प्रकरण यह

चल रहा है कि जीव शुद्धनयसे शुद्ध, अवाच्य, अखण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प है और व्यवहार नयसे वह अनेक द्वन्द्व सहित, सविकल्प, अनेक भेद वाला है। तो इसमें कारण यह पूछा गया था कि यह अशुद्धता, यह भेद किस कारणसे आया ? तो उत्तर दिया गया था कि उपराग साथमें है, किसी दूसरे विकल्प, दूसरे सम्बंध ख्याल साथ होनेके कारण ये भेद बन जाते हैं, और इसी सम्बंधमें यहाँ शंकाकार ५ प्रकारके विकल्पोंमें शंका रख रहा है कि बतलाओ उपरक्ति कोई इस जीवात्मामें वास्तविक चीज है अथवा नहीं, और अथवा दोनों है ? और है दोनों तो क्रमसे है या एक साथ है अथवा दोनों ही नहीं हैं ? शंकाकारके ये ५ विकल्प इस प्रकार हैं—— १—क्या उपरक्ति है ? २—क्या जीवमें उपरक्ति नहीं है ? ३—क्या जीवमें उपरक्ति और उपरक्तिका अभाव दोनों हैं, और दोनों हैं तो क्या क्रमसे हैं ? ४—यदि जीवात्मा उपरक्त और अनुपरक्त दोनों हैं तो क्या एक साथ हैं ? ५—क्या उपरक्ति और अनुपरक्ति दोनों नहीं हैं ? इस प्रकार पाँच तरहके विकल्पोंमें शंकाकारने मूल शंका रखी है।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्यां सिद्धो नानादरो नयात् ॥१४३॥

उपरागके अस्तित्व व नास्तित्व दोनों विकल्पोंकी शंकाकार द्वारा समालोचना—— उक्त श्लोकमें जो शंकाके ५ विकल्प हैं उनमें से पहिले और दूसरे विकल्पके सम्बन्धमें यहाँ संक्षेपमें शंकाकार अपना आशय रख रहा है। यदि जीवात्मामें उपराग है तो उपरागके होने पर फिर उसका अनादर क्यों किया जाता है ? यदि जीवात्मामें उपाधि लगी हुई है तो उस उपाधिको अग्राह्य क्यों बताया जाता है ? है तो उसका आदर भी होना चाहिए। उसको अयथार्थ क्यों कहा जा रहा है ? प्रकरण यह था कि जीव तो एक ऐसा शुद्ध है और उपाधि सम्बन्धसे वह ख्यालकी उपाधि हुई, कर्मकी उपाधि हुई, कोई विवक्षित कुछ भी उपाधि हुई, उपाधिके सम्बन्धसे ९ पदार्थ बन जाते हैं। और ९ पदार्थ बनाकर यह भी कहा गया कि ये ९ पदार्थ अग्राह्य हैं। ग्राह्य तो एक शुद्ध तत्त्व है। शुद्धनयका विषय है और उसके लिए इतना जोर भी दिया जाता है सिद्धान्तमें कि जो उस भूतार्थका आश्रय करता है सो सम्यक्त्व पाता है। इतनी बात कहनेपर फिर यह जिज्ञासा होती है कि इतना जो व्यवहारका अनादर किया गया है उसे अग्राह्य बताया गया है। एक ओर तो इतनी अनादेयता बतला रहे हैं और कह यह रहे हैं कि जीवात्मामें वास्तवमें उपराग है, तो जब उपराग है तो उसका यहाँ अनादर क्यों हो रहा ? उसीको अच्छी तरह डट कर क्यों नहीं माना जा रहा है और उसे अग्राह्य क्यों कहा जा रहा है ? शंकाकार की दूसरी शंकाके विकल्पमें अब यह कहा जा रहा कि यदि जीवात्मामें वास्तवमें उपराग नहीं है अर्थात् व्यवहारनयका विषयभूत उपराग कोई वस्तु नहीं है तो जब कोई वस्तु ही नहीं है, उपराग ही नहीं है तो उसमें अनादर भी सिद्ध

कैसे होगा ? कोई सत् हो तब तो उसके बारेमें कहा जायगा कि इसे ग्रहण करो, इसको त्याग दो। जब उपराग कोई वस्तु ही नहीं है तो उसके त्यागका ग्रहण न करनेका, अनादर करने का, झूठा बतानेका प्रयास बिल्कुल मूर्खता भरा है। जब वस्तु ही कुछ नहीं है तो झूठ कैसे कहते ? वस्तु ही कुछ नहीं है तो अनादर किसका करते ?

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥१४४॥

उपरागके अस्तित्व सम्बन्धी प्रथम विकल्पकी विसमालोचना—उक्त श्लोकमें प्रथम तथा द्वितीय शंकाके विकल्पके सम्बंधमें संक्षेपमें बात कही गई है। इस श्लोकमें उस ही प्रथम शंका विकल्पके बारेमें कुछ और विशेष कहा जा रहा है। बताये कोई कि जब जीवमें, आत्मा में उपराग वास्तवमें मान लिया गया तो विचार करियेगा। यदि उपराग मान भी लिया जाय तो इतनेपर भी उन ९ पदार्थोंमें ग्राह्यता नहीं आ सकती। कदाचित् कोई उपराग मानकर और ९ पदार्थ सिद्ध करे तो ९ पदार्थोंकी सिद्धि न होगी। क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरे पदार्थके सम्बंधमें नयका अधिकार ही नहीं है। अर्थात् अब व्यवहार कोरी गप्प कहलावेगा, नय भी नहीं। नय तो एक है, बस शुद्धनय। शंकाकारकी यह शंका एक शुद्धनयको ध्यानमें रखकर ही हो रही है, और उसका इतना आग्रह है कि बस नय है तो एक है—शुद्धनय, बाकी तो नय ही नहीं है। यह तो एक मनगढ़ंत कल्पना है। यों जब शुद्धनयका ही अधिकार है वस्तुनिर्णयमें तब उपराग भी मान लें तो भी वास्तवमें ९ पदार्थ तो सिद्ध होते नहीं, क्योंकि वह सब तो एक कल्पणकी जगहकी बात है। वस्तुतः तो नहीं है उसमें। तो यों प्रथम शंका विकल्पमें भी ९ पदार्थोंकी बात आ नहीं सकती। यद्यपि इस स्पष्टीकरणमें एक नई सी बात कही गई है, किन्तु आधार है प्रथम शंका विकल्पका कि यदि उपरागको मान लिया जाय तो भी ९ पदार्थ आदेय नहीं बनते। यह सब शंकाकार कह रहा है।

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यं शून्यस्य दर्शनात् ॥१४५॥

उपरागके नास्तित्वविषयक द्वितीय विकल्पकी विसमालोचना—द्वितीय शंका विकल्प के सम्बंधमें १४३वें श्लोकमें कुछ संक्षेपमें वर्णन किया गया था, किन्तु अब इस श्लोकमें उसी द्वितीय शंका-विकल्पके सम्बंधमें कुछ स्पष्टीकरण कर रहे हैं। दूसरा शंका-विकल्प यह था कि जीवात्मामें वास्तवमें उपरक्ति नहीं है। यदि कोई ऐसा समाधान देने लगे कि जीवात्मामें वास्तवमें उपरक्ति नहीं है तो यदि जीवात्मामें उपराग नहीं माना जाता तब तो ये ९ पदार्थ किसी भी प्रकार बन ही नहीं सकते। कोई विकल्प न्याय सम्बंध भेदबुद्धि से कुछ भी उपराग नहीं है। तो ९ पदार्थ कैसे बन गए ? अथवा कर्म उपाधि नहीं है तो ये

६ पदार्थ कैसे बन गए ? तो उपराग न माननेपर ये जीवके ६ पद नहीं वन सकते, क्योंकि जब कारण ही नही है तो कार्य कहांसे हो जायगा ? ६ पदार्थ स्वरूपका भेद होनेका, प्रकार बढ़नेका, शुद्ध अशुद्ध अवस्था होनेका कारण तो कुछ होगा । तो जब उपराग नहीं माना जाता तो कार्यकारणभाव अब न रहा । हेतुरहित दशामें कार्य सूना रह जायगा, क्योंकि हेतुशून्य हो तो कार्यशून्य भी हो, ऐसा अविनाभाव है । तब उपराग न माननेपर यह आपत्ति आती है कि ६ पदार्थ सिद्ध ही नहीं होते ।

उभयं चेकमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥१४६॥

उपरागके उभयत्वके क्रम विकल्पकी शंकाकार द्वारा समालोचना—अब शंकाकारका तीसरा शंकाविकल्प उसका आश्रय लेकर शंकाकार कह रहा है कि यदि जीवात्मामें उपराग और अनुपराग वास्तविक मान लिया जाता है तो क्या वह क्रमसे है या अक्रमसे ? यदि क्रम से है तो इस विकल्पके सम्बंधमें शंकाकार कह रहा है कि उपराग और अनुपराग यदि ये दोनों क्रमसे माने जाते हैं तो भी न्यायवलसे एक शुद्ध मात्र ही ग्राह्य होगा । और दूसरा जो कि शुद्धसे भिन्न है वह अशुद्ध हेय हो जायगा । तो ऐसी स्थितिमें भी ६ पदार्थ ग्राह्य नहीं हो सकते, मानने योग्य नहीं हो सकते । माना कि दोनों हैं, शुद्ध भी हैं, अशुद्ध भी हैं, उपराग और अनुपराग दोनों हैं, और क्रमसे हैं तो यह तो बतलाओ कि लोकमें शुद्धको ग्राह्य मानोगे कि अशुद्धको ? लोकरूढ़ि तो ऐसी है कि शुद्धको वे कह बैठेंगे कि ग्राह्य है तो यहाँ एक जीव ऐसा अखण्ड तत्त्व शुद्ध है और वही जीवादिक ६ पदार्थोंरूप है, इन दो वर्णनोंमें यदि शुद्ध और अशुद्धकी घोषणा कर दी जाती है तब ग्राह्य तो शुद्ध ही होना चाहिए, अशुद्ध ६ पदार्थ कैसे ग्राह्य हो सकते हैं ?

यौगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥१४७॥

उपरागके अक्रम उभयत्वकी शंकाकार द्वारा समालोचना—अब इस श्लोकमें शंकाकारका चौथा शंकाविकल्प बताया गया है । शंकाकार कह रहा है कि यदि उपराग, अनुपराग दोनोंको तुम मान लेते हो और उसे मानते हो एक साथ तो उपराग और अनुपराग दोनों एक साथ मान लेनेपर तो दोनोंसे ही अभीष्ट सिद्ध न होगा, क्योंकि दोनों भी मान लिया और एक साथ मान लिया फिर भी ग्राह्य तो शुद्ध ही होगा, अशुद्ध कैसे ग्राह्य हो जायगा ? क्रमसे माना था तो वहाँपर भी ग्राह्य सिद्ध रहा और अशुद्ध ग्राह्य न रहा, मानने योग्य न रहा, तो एक साथ मान लीजिए शुद्धता और अशुद्धता, इन दोनोंको, तो एक साथ माननेपर भी यह असली बात कैसे मिटा दी जायगी कि ग्राह्य तो शुद्ध होता है, अशुद्ध तो अग्राह्य है, अयथार्थ

है, न मानने योग्य है। तो यहाँपर भी तो ६ पदार्थ न बन सके। एक वही शुद्ध एक अखण्ड तत्त्व निरुपराग वही एक सत्य रहा, तथ्य रहा, ग्राह्य रहा, तो ६ पदार्थ फिर भी न बन सके, इस तरह शंकाकारकी चौथी शंकाके विकल्पमें भी आपत्ति रखी जा रही है।

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद् द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥१४८॥

उपरागविषयक अनुभयत्वके पञ्चम विकल्पकी शंकाकार द्वारा समालोचना—अब शङ्काकार ५ वीं शङ्काके विकल्पके सम्बन्धमें कह रहा है कि उपराग और अनुपराग—इन दोनोंको ही नहीं मानते तो न उपराग है, न अनुपराग है, ऐसी अत्यन्त शुद्धता जैसी बात पकड़ते हैं तो इस स्थितिमें चलो—पहिले तो अनुभय माननेका आधार सुनो। शङ्काकारके इस विकल्पका ही समर्थन किया जा रहा है कि न उपराग है, न अनुपराग है। यह बात यों बनी कि एक पदार्थमें उसके एक स्थानमें दो क्रिया नहीं रह सकतीं, दो कर्म नहीं रह सकते, एक पदार्थमें एक साथ एक जगह दो कर्म कभी सम्भव नहीं हैं और इसी कारण जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नही बनती। तो यों यदि अशुद्धता और शुद्धता दोनों को ही मना कर दिया जाय ऐसा यदि कोई माने तो इस स्थितिमें फिर द्वैत और अद्वैतकी कथा ही कैसे की जा सकती है? जब न शुद्धता है न अशुद्धता है तो यह भी नहीं कह सकते कि तत्त्व अद्वैतमात्र है और न यह कह सक सकते कि तत्त्व ६ पदार्थरूप है। दोनों जगह बोल बन्द हो जायगा। यदि उपराग और अनुपराग दोनोंको नहीं माना जा रहा तो इस तरह अनुभय है (न उपराग है और न अनुपराग है)। इस मान्यतामें तो यह दोषापत्ति आ रही है कि उस समय द्वैत अद्वैतकी कथा ही नहीं की जा सकती।

ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥१४९॥

उक्त विकल्पसमालोचनाओंसे शंकाकारका केवल शुद्धनयकी ही सत्ताका निर्णय—शंकाकार अपनी इस ५वीं शंकाके विकल्पमें सिद्धान्तमें दोषापत्ति दे करके अब फलितरूपमें अपना निर्णय रख रहा है। शंकाकारका निर्णय यह है कि जब उक्त शंका विकल्पमें कोई गति न रह सके अर्थात् उन शंकाओंका जब ठीक समाधान नहीं दिया जा सक रहा तो ऐसी स्थितिमें फिर घूम फिरकर जब कुछ चारा ही न चले तब यही मान लेना पड़ेगा कि शुद्ध ही एक पदार्थ है और वही सम्यक्त्वका विषयभूत है, जो सम्यग्दर्शनका विषयभूत शुद्ध पदार्थ है वही एक तत्त्व है और उसी पदार्थका कहने वाला कोई नय हो सकता है और वह नय है शुद्धनय, निश्चयनय, व्यवहारनय नहीं है। वह सर्वथा अयथार्थ है, कल्पनाकी चीज है। ६ पदार्थोंकी मान्यताका सिद्धान्त यह नितान्त गलत है। शंकाकारकी यह शंका केवल शुद्धनयके

आग्रहमें हो रही है और इसे यदि किसी अन्य दार्शनिकोंके साथ मेल करना हो तो इसका मेल वेदान्त अथवा सांख्यसिद्धान्तसे कर लीजिए—इन सिद्धान्तोंमें आत्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्य बताया गया है। ऐसा शुद्ध चैतन्य कि जिसमें ज्ञान भी नहीं है, जानना भी नहीं है। ज्ञानको तो यहाँ ऊधम बताया गया है और उसे प्रकृतिका विकार कहा गया है, अथवा ब्रह्माद्वैतवादमें उसे माया कहा गया है। यह सब जो जानन हो रहा, समझ बन रही, इतनी जीवोंकी गतियाँ हो रहीं या यहाँ जो कुछ भी दिख रहे हैं चेतन अचेतनके ढंगसे पदार्थ ये सब माया हैं। तत्त्व तो एक ब्रह्मस्वरूप है और तत्त्व तो एक चैतन्यमात्र है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार सोच लीजिए—तो दृष्टि एक ऐसे शुद्ध तत्त्वपर गई कि जिस शुद्धताका अत्यन्त आग्रह कर लिया गया कि बस यही एक तत्त्व है। यहाँ पर्यायको उड़ा दिया गया और भेदको उड़ा दिया गया है। व्यवहारनय भेद और पर्याय दोनों ही पद्धतियोंसे वर्णन करता है। तो जीवकी जब पर्यायें उड़ा दी गई उन दार्शनिकोंके सिद्धान्तमें तो वहां भी आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा आदिक कुछ सिद्ध नहीं होते। तो ऐसा ही यहाँ शंकाकार भी कह रहा है कि चीज तो एक हुआ करती है, नय भी एक ही है, वह शुद्धनय है और तत्त्व भी वही एक है जो शुद्धनयका विषयभूत है और वही सम्यक्त्वका विषयभूत है, अथवा वह सम्यक्त्व ही है, अथवा वह एक शुद्धमें स्थित है। कुछ भी कहो, है केवल एक ही, तब फिर ९ पदार्थ कहाँ रहे? व्यवहारनय सर्वथा मिथ्या है। ९ पदार्थोंरूप जो जीवकी अशुद्धता बतायी गई है कि जीव अशुद्ध है और वह इन ९ पदार्थोंमें समझा गया है तो ऐसी अशुद्धता कोई वस्तु नहीं है। तो व्यवहारनय मिथ्या है, अशुद्धता मिथ्या है और ९ पदार्थोंकी बात कहना मिथ्या है, ऐसी शंकाकारने शुद्धनयके आग्रहमें अपनी बात रखी।

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥१५०॥

शंकाकारकी प्राकरणिक शंका—प्रकरण यह चल रहा था कि जीव तो एक केवल अपने स्वरूपमात्र है, जिसकी सत्ता सहज अपने आप जिस रूप है, जिस स्वभावमय है, मात्र वही जीव है। उस जीवके व्यवहारनयसे आश्रयसे भेद किये गये—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप। ये जो ९ भेद हुए हैं। इन भेदोंका कारण क्या है? ऐसा पूछा जानेपर यह उत्तर दिया गया था कि उपाधि कारण है, उपराग कारण है। उपाधि और उपरागके अनेक अर्थ हो सकते हैं, जिनमेंसे मुख्य बात यह लेनी है कि उस अखण्ड निर्विकल्पात्मक जीवमें जो कुछ कल्पना की, पर्याय दिखी, अवस्था निरखी, उसमें जो कुछ भेद किया तो यही भेद मुख्यतया उपराग है, और साथ ही कर्मका भी उपराग है। कहीं कर्मके वियोगका ख्याल है, कहीं कर्मके संयोगका ख्याल है। कर्म, भेद, पर्यायदृष्टि कुछ भी बनी हो यह

उपराग कहलाता है। तो इस ही उपरागके सम्बन्धमें शंकाकारने ५ विकल्प उठाये थे कि वास्तवमें जीवमें उपराग है अथवा नहीं अथवा दोनों है तो क्रमसे हैं अथवा दोनों हैं तो एक साथ हैं अथवा दोनों ही नहीं हैं ? इस तरह ५ विकल्पोंमें शंकाकारने प्रश्न किया और प्रत्येक विकल्पका शंकाकारने समाधान देकर यह सिद्ध किया कि वास्तवमें एक शुद्धनय ही है और वही कहना चाहिए, बाकी कुछ न कहना चाहिए।

उक्त शंकाके समाधानमें जीवकी शुद्धता व अशुद्धता दोनोंका समर्थन—उक्त शंकाके उत्तरमें यहाँ कहा जा रहा है कि शंकाकारका उक्त आशय संगत नहीं है, क्योंकि जीवमें शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही सिद्ध हैं अन्यथा अर्थात् इन दोनोंमें से एक न माना जाय तो दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस कारणसे दोनोंका ही मानना आवश्यक है। अशुद्धता माने बिना और इस भेदके रूपमें जीवको परखे बिना जीवमें रहने वाली उस शुद्धता, केवलता को न जान सकेंगे। इसलिए अशुद्धताका मानना भी जरूरी है और शुद्धताका मानना तो नितान्त जरूरी है, क्योंकि उस ही एक अखण्ड शुद्ध चिदात्मक जीवका ही आश्रय करके धर्म होगा, विकास होगा, संसार मिटेगा, कल्याण होगा, इस कारण शुद्धताका मानना भी आवश्यक है। तो शंकाकारके यह विकल्प कि शुद्धता है या नहीं है या दोनों ही नहीं हैं—इसका उत्तर यह है कि दोनोंका मानना आवश्यक है। रही विरोधकी बात। जैसे कि शंकाकारने दोनोंके माने जानेपर विरोधकी बात दिखायी थी, सो विरोध होनेपर भी अविरोध है। यद्यपि शब्दोंसे ऐसा लगता है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों एक जगह कैसे रह सकेंगी ? लेकिन नहीं, दोनों एक जगह हैं। यहाँ शुद्धताके मायने विकार पर्याय नहीं लेना है कि भाई अशुद्ध जीव हैं, अज्ञानी मोही जीव हैं, वहाँ बताओ कि कैसे अशुद्ध पर्यायें भी रह रहीं और शुद्ध भी, सो बात नहीं कही जा रही है, किन्तु भेद न करना इसका नाम है शुद्धता, और भेद करना इसका नाम है अशुद्धता। तो जीवके ये पदार्थरूप भेद किए गए हैं, किसी भी उपाधि सम्बंध से मान लिया जावे, पर इन ६ भेदोंके होते हुए भी इनमें शुद्धता है। दूसरी बात यह भी है कि विकाररूप अशुद्धता मान लें तो विकाररूप अशुद्धताके होनेपर भी जीवका एकत्व तो कहीं नहीं गया। जीवका जो निज स्वरूप है वह स्वरूप तो नष्ट न होगा, इसलिए अशुद्धताके होने पर भी शुद्धता है। यहाँ अशुद्धताको तो विकार पर्यायरूपमें निरख लीजिए, पर शुद्धताको शुद्ध पर्यायरूपमें यहाँ मत समझिये—शुद्धता मायने उसका एकत्व उसका निज स्वरूप। अपने आपकी सत्ताके ही कारण उसमें होने वाला यह एकत्व वह है शुद्धता। ऐसी शुद्धता तो अशुद्धता होनेपर भी रहती है। तीसरी बात यह समझ लीजिए कि पदार्थ परस्पर अपेक्षाको लिए हुए हुआ करता है। शुद्धता और अशुद्धता किस दृष्टिसे कही गई है ? यह जरूर दृष्टि होती है, उस अपेक्षाके कारण यहाँ विरोध नहीं आता, किन्तु अपेक्षा तो विरोधको समाप्त कर

देती है।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥१५१॥

शुद्धता और अशुद्धताकी अनन्यथासिद्धि होनेसे प्रमाणसिद्धता—उक्त श्लोकमें यह समाधान बताया गया है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही आवश्यक हैं, सो इनको अनन्यथासिद्ध बताया गया है अर्थात् एक न माने तो दूसरा सिद्ध नहीं होता, इस कारण दोनोंका मानना ही आवश्यक है। यह बात जो कही गई है वह असिद्ध नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है, क्योंकि दोनों हो एक वस्तु तो हैं। जब शुद्ध जीव कहा तब भी जीव सत् ही तो पकड़ा गया और जब अशुद्ध जीव कहा, जीव अजीव, आस्रव आदिकके रूपमें कहा गया तो वहाँ पर जीवकी ही तो बात कही गई। तो दोनों ही जगह एक वस्तु है इस कारणसे शुद्धता और अशुद्धता दोनोंका मानना आवश्यक है। वह बात सिद्ध होती है और स्पष्ट विदित होता है कि जिसका विशेष होनेपर भी वहाँ एक मात्र सामान्य है। सामान्य और विशेष इन दोनो से हटकर। इनमें से किसीसे हटकर किसी भी एकान्तमें उसकी स्थिति, गति नहीं हो सकती है। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जैसे मनुष्य सामान्य, मनुष्य विशेष यहाँ सारे मनुष्योंमें रहने वाले मनुष्यसामान्यपर दृष्टि न कीजिए, एक ही मनुष्यकी बात कही जा रही है। मनुष्य सामान्य, मनुष्य विशेष। बालक मनुष्य वही, जवान मनुष्य वही और बूढ़ा मनुष्य वही। एक ही मनुष्यमें जो अनेक पर्यायें हैं यह तो हुआ मनुष्यविशेष और इन सब अवस्थाओंमें रहने वाला जो मनुष्य सामान्य है वह हो गया मनुष्य सामान्य। अथवा एक मनुष्यकी बात कह रहे हैं। यह उदार है, क्षमाशील है, निष्पक्ष है आदिक अनेक बातें उसकी बता रहे हैं, यह तो है उसकी विशेषता और इन विशेषोंपर दृष्टि न दें और केवल एक ही झलक लें—यह मनुष्य, तो यह हो गया मनुष्य सामान्य तो हर जगह सामान्य और विशेष घटित होगा। तो जब जीव सत् है तो वह भी सामान्यविशेषात्मक है। तो जीव सामान्य तो हुआ वह निश्चयनयका विषयभूत भूतार्थ स्वरूप, प्रतिषेधगम्य वह अखण्ड सत् और विशेष हुए ये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप।

जीवादिक नव पदार्थोंका स्वरूप—इन ९ पदार्थोंको इस तरह निहारना कि अखण्ड चिदात्मक जीवको तोड़कर जो बुद्धिमें आया वह थाम दिया और ऐसी बुद्धि करके थापा कि जिस जीवके सम्बन्धमें ये आस्रव बंध आदिक पर्यायें कहीं जायेंगी, ऐसा ख्यालमें लाया हुआ वह जीव पदार्थ जीव है और उस ही जीवमें ज्ञान धर्मसे अतिरिक्त जो भाव निरखे जा रहे है उन भावोंकी दृष्टिसे जो इसे देखा है तो वह हो गया अजीव अर्थात् उस ही जीवको अजीव कह रहे, कहीं पुद्गलकी बात नहीं कह रहे हैं। नहीं तो जीवकी ये ९ अवस्थायें कैसे

बनेंगी ? तो जीवमें जो रागद्वेष, क्रोध, मान आदिक भाव पाये गए अथवा आचार्योंने तो यहां तक कहा कि प्रमेयत्व आदिक धर्मकी दृष्टिसे तो वह अचेतन है और ज्ञानदृष्टिसे वह चेतन है। तो उसही एक जीव पदार्थमें दृष्टि लगाकर जो ज्ञानातिरिक्त धर्म हैं उन धर्मोंकी प्रधानता करके जब निरखा तो वह कहलाया अजीव। अब जीवमें जो अजीवका, विभावका, रागादिक का जो आना हो रहा तो आना क्या जीवसे पृथक् चीज है ? क्या राग दूसरी जगहसे आ रहा है ? यहाँ आनेका अर्थ कोई कदम रखकर चलनेकी बात है। वह तो जीव है और जीवमें आस्रवभाव की निष्पत्ति हो रही है, बस उसके श्रोतका नाम आस्रव है। आस्रवका सही अर्थ आगमन नहीं है। आस्रवका अर्थ है चूना, स्रुत होना। स्रवण होना आत्माके सर्व प्रदेशोंसे भिरना इसका नाम है आस्रव। जैसे पहाड़से पानी भिरा, चुआ और ऐसा भी चूना मत देखें कि जहाँ एक मोटी धार निकल रही हो, किन्तु जहाँसे बूंद-बूंद भी चूता है। तो जैसे ऐसा चूना कितने स्थानोंसे हो रहा है ? बहुत क्षेत्रोंसे यों ही आत्माके सर्वप्रदेशोंमें से जो भी आस्रवभाव निकला यह हुआ स्रवण, चूना। स्रवणको हम पहिलेसे नहीं परख सकते कि कहाँसे आया ? गमनको तो हम अलगसे जान लेंगे कि यह आया, यहाँसे आया। और आनेमें तो क्षेत्र भेद भी है। कहाँसे आये, कहाँ आये ? उधरसे आये इधर आये, लेकिन स्रवणमें यहाँ क्षेत्र भेद नहीं है। चुवा, यहाँसे चुवा, 'यहींसे निकला। तो इसी कारण यहाँ आगमन अर्थ नहीं कहा। आस्रवका अर्थ आगमन स्थूल रूपमें कह देते हैं, किन्तु अर्थ है आत्माके सर्वप्रदेशों से भिरना, इसका नाम है आस्रव। तो भी आस्रव क्या अलग वस्तु है ? वह जीव पदार्थ ही तो है। संवर आस्रवका रुकना सो संवर। आत्मामें जो रागादिक भाव भिरते थे उनका भिरना बन्द हो गया। अब भिर नहीं सकते। यहाँ उनका उपशम नहीं हुआ (दबाया नहीं गया) किन्तु ऐसा ही कुछ हो गया कि जिससे भिरनेका नाम न रहे, सूख गया। भीतर भी गीला न रहा। जिनका संवर हुआ है उनका गीलापन भीतर भी नहीं है। पूरी तरहसे उसका निरोध है। भले ही कुछ बद्ध प्रकृतियाँ सत्तामें स्थित हैं, किन्तु नवीन नहीं आते। तो ऐसा जो संवर है वह क्या अन्य वस्तु है ? वह भी जीव ही तो है। बंध—जो भिरना हो रहा था, जो जीवमें विभाव आये वे विभाव आये तब कहलाये जब कि एक समयमें ही आना और जाना हो गया। वे वहाँ ठहरे नहीं। वह तो कहलाया स्रवण। लेकिन दूसरे समय भी अगर ठहर गए तो वह हो गया बन्ध। दूसरे समय ठहर जाने पर भी बन्ध कहलायगा पहिले ही समयसे, क्योंकि पहिले समयमें क्या स्पर्श न था ? तो ऐसा जो जीवमें विभावोंका बंधन है वह बन्धन भी जीव वस्तु ही तो है, अन्य कोई नहीं। निर्जरा—जो जीवमें यह विभाव बंधन होता है, यह संस्कार चल रहा है। संस्कार ही खतम हो जाय उसको कहते हैं निर्जरा। जो विकार हैं वे झड़ें इसका नाम है निर्जरा। तो ऐसे जो विकार झड़ते हैं उस झड़नेकी

स्थितिमें जो जीवका परिणमन है वह क्या जीव वस्तु नहीं है ? मोक्ष—जीवका विकारोंसे बिल्कुल हट जाना पूर्ण निर्विकार हो जाना ऐसी जो विकारोंसे रहित अवस्था बतायी गई है वह क्या जीव नहीं है ? शुभ अशुभ भाव ही पुण्य पाप है, ये भी जीव ही तो हैं। तो जीवके विशेषमें ही ये ९ पदार्थ होते हैं।

जीवविशेषोंमें भी एक सामान्य मात्र शुद्ध जीवत्वकी प्रतीति—जीवमें उक्त प्रकारकी शुद्धता और अशुद्धता दोनों माननेमें कोई विरोध नहीं है। फिर भी अशुद्धता होनेपर भी सर्व जगह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप सर्व अवस्थाओंमें वह एक सामान्य विराज रहा है, और विवेकी पुरुष उसकी प्रतीति भी कर लेता है। ज्ञानदृष्टिकी बात है, ज्ञानयोगकी ऐसी अवाध गति है कि जिसका लक्ष्य बना लें, यह ज्ञान बीचकी सब चीजोंको छोड़कर, उनसे न अटककर अपने लक्ष्य वाले तत्त्वपर उसका प्रयोग हो जाता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र मनुष्यकी चमड़ी, रोम, बाल, मांस, खून आदिक किसीको भी ग्रहण न करके हड्डीका फोटो ग्रहण कर लेता है। अब हड्डी तो बहुत भीतर है, इस मनुष्य शरीरके बीचमें है, और उस हड्डीपर इतने पर्दे पड़े हुए हैं लेकिन इस एक्सराने किसीका भी चित्र नहीं लिया। सबकी अटक छोड़कर किसीमें भी नहीं अटका और हड्डीका फोटो ले लिया। ऐसे ही समझिये कि यह ज्ञानदृष्टि इतनी अबाधित और लक्ष्यको वेधने वाली है कि बीचमें अनेक पदार्थ पड़े रहते हैं तो किसी पदार्थमें नहीं अटकती और ठीक उसी लक्ष्यको जान लेती है। जैसे यहीं बैठे हुए आप अपने कमरेमें अलमारीके भीतर पेटीके अन्दर और कपड़ेकी छोटी पोटलीके अन्दर किसी डिबियामें कोई स्वर्णकी कीमती चीज रखे हुए हैं, मानो कीमती अंगूठी रखे हुए हैं तो आप यहाँ बैठे बैठे ही उसे स्पष्ट रूपसे देख लेते हैं, जान लेते हैं। उसका सही ज्ञान कर लेते हैं। देखिये—यहांसे उस अंगूठी तक कितनी ही चीजें आड़े पड़ रही हैं—दीवाल, किवाड़, सन्दूक आदिक, पर यह ज्ञान उनमें कहीं नहीं अटकता। सीधे उस अंगूठीका ज्ञान कर लेता है। इसी तरह जीवकी इस समय स्थितियाँ विशेष हैं, मनुष्य है, कर्म है, विभाव हैं, विकल्प विचार हैं, ये सभी लदे हुए हैं, इस स्थितिमें फिर भी यह ज्ञान यदि अपने आपके आत्मामें सहज अनादि निधन स्वरूपको जानना चाहे तो इन सबको अटकमें वह न अटक कर, इनको ज्ञेयाकार रूपसे भी ग्रहण न करके, होते हुए भी इनको ज्ञेयाकार भी न बनाकर सीधा अखण्ड चिदात्मक स्वरूपको जान लेता है। ज्ञानमें ऐसी अबाधित शक्ति है। ऐसा यहाँ कहा जा रहा है कि जीवके विशेष ये ९ पदार्थ तो हैं, तिसपर भी एकमात्र सामान्य प्रतीतिमें आ जाता है। मूल वस्तु, सहज वस्तु अपनी ही सत्तासे अनुस्यूत है। पदार्थ वह स्वयं कैसा है ? यह बात जिनकी निगाहमें आयी है अपने आत्माके सम्बन्धमें यह तत्त्व जिनकी दृष्टिमें आया है और दृष्टिमें आनेके कारण जिनका

किसी सत्यके प्रति आग्रह हो गया है। मैं तो यही हूं, अन्य नहीं हूँ। इस तरहका जिनको ज्ञान बना है समझिये उन्होंने भूतार्थका आश्रय किया और इस भूतार्थका आश्रय करनेसे उनके सम्यक्त्वकी निष्पत्ति हो जाती है।

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥१५२॥

नव तत्त्वोंकी जीवरूपता व पुद्गलरूपता—ऊपर कहे गए समाधानका कुछ स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यहाँ बताया जा रहा है कि वस्तुरूपसे यदि विचार किया जाय तो ये ९ पदार्थ केवल जीव और पुद्गलरूप पड़ते हैं। इन्हीं ९ पदार्थोंको जीवरूप भी निरखा जा सकता है और पुद्गल द्रव्यकी भी अवस्थारूपसे निरखा जा सकता है। यद्यपि केवल जीवमें ये ९ अवस्थायें नहीं हो सकतीं और केवल पुद्गलमें भी ये ९ अवस्थायें नहीं हो सकतीं। परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है तब ९ अवस्थायें हैं, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् होता है। इस कारण पृथक्-पृथक् इन दो द्रव्योंमें इन ९ अवस्थाओंको देखा जा सकता है। ये ९ जीवकी अवस्थायें हैं, और पुद्गलकी अवस्थायें हैं, ऐसा यहां निर्णय बताया गया है और इस ही में यह समाधान भी अन्तर्निहित है कि कर्ता और कर्म वस्तुतः अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनन्य होते हैं। शङ्काकारने एक यह विकल्प भी रखा था कि एक पदमें दो क्रियायें और दो कर्म नहीं हो सकते, सो बात सही है। एक वस्तुमें दो दो क्रियायें नहीं हैं, किन्तु उस वस्तुकी क्रिया उसमें है, अन्य वस्तुकी क्रिया उसमें है और तभी प्रत्येक वस्तु अपने आपका कर्म है। तो यहां जीव और पुद्गलमें कर्तृत्व और कर्मत्व देखा जा रहा है। पुद्गलकी ९ अवस्थाओंमें पुद्गल व्याप रहा, जीवकी ९ अवस्थाओंमें जीव व्याप रहा। इस तरह कर्ता कर्मकी अभिन्नता सिद्ध होती है, प्रत्येक पदार्थमें अपना-अपना कर्तृत्व व कर्मत्व है। अतः वह विकल्प भी संगत नहीं है।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक्।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥१५३॥

जीव और पुद्गलकी प्रत्येककी ९ अवस्थायें होने का कारण—जीव और पुद्गलके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें ये अवस्थायें नहीं हैं। इन दो द्रव्योंको छोड़कर ९ पदार्थ कोई अन्य द्रव्य नहीं कहलाते हैं और साथ ही यह भी समझना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ न तो विशुद्ध जीवके होता है और न विशुद्ध पुद्गलके होता है। अर्थात् इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं होता। तो जीवमें ये ९ अवस्थायें नहीं आ सकतीं और पुद्गलमें भी ९ अवस्थायें नहीं आ सकतीं। यहाँ एक बात पर विचार करना है कि जीवकी ९ अवस्थायें तो विदित हो गयीं कि एक उस शुद्ध जीवमें से एक व्यक्तिरूपसे जीवको तोड़कर कल्पनामें लाना

सो तो जीव है और जो वहाँ रागद्वेषादिक विभाव हैं उन्हें तन्मयरूपसे निरखा अथवा उन विभावोंको देखा तो वह अजीव है और फिर इन दो स्थितियोंके संयोग वियोग सम्बन्ध असम्बन्धकी दृष्टियाँ लगाकर ये आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष भी बन जाते हैं और उन्हीं की विशेषता पुण्य और पाप है। यों जीवके ९ पदार्थ हैं, यह तो बन गया, किन्तु पुद्गलमें ये ९ विशेष कैसे घटित होंगे ?

पुद्गलकी ९ अवस्थायें—पुद्गलमें अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये २८ बातें तो आसानीसे घटित हो सकती है। केवल विचारणीय बात जीवकी रही। जीव भी पुद्गलकी अवस्था है—इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ इस समझमें कुछ अपना स्वरूप रख सकता है अथवा उसके सम्बन्धसे एक ऐसी कल्पना है कि अजीव जो पुद्गल है वह तो है विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणा वह अजीव पुद्गल है इस प्रकरणमें, क्योंकि वहाँ कर्ममें कार्माण स्कंधों में इन तत्वोंको घटित करना चाहिए। अन्य जो बहिर्भूत पुद्गल हैं उनमें ये बातें घटित न होंगी। तो जो कार्माण स्कंध है, विस्रसोपचय रूप है, कर्मपनेको प्राप्त नहीं है वह तो हुआ अजीव और उन कार्माण वर्गणाओंका कर्मत्वरूप परिणमन जाय अर्थात् वह कर्मरूप परिणत हो जाय, उनमें कोई स्थिति अनुभाग आ जाय, जिसे लं रूढ़िमें कहते हैं जान आ गई। लोग कहते ही हैं कि इस चौकीका जीवन खतम हो गय इस मकानका जीवन समाप्त हो गया, न रहा, तो उसमें जो प्रभाव है, एक नई स्थिति और जिसे अधिक क्या कहें कि जो जीवके रागादिक भावोंमें कारण बन जाते हैं और जिन रागद्वेषादिक नाम भी रख दिए गए हैं, प्रकृतियोंके नाम वे ही तो हैं करीब करीब जैसे वि जीवके विभावोंके नाम होते हैं। तो यों जब इस तरह नाम भी रख दिया गया तो यह कल्पनामें आता है कि अब यह विस्रसोपचय रूप पुद्गल कर्ममें यह जीवन पड़ा है जिससे कि उनकी कर्मसंज्ञा हुई है यही पुद्गलका जीवन है। अब इस तरहकी बात लगाकर देखते जावो, अजीवमें जीवका आना आस्रव है, अजीवमें जीवका बंधना वंध है, अजीवमें जीवका रुक जाना कर्मत्वका रुक जाना सो संवर है। अजीवमें से उस स्थिति अनुभागका झड़ना सो निर्जरा है और अजीवका जीवन मिट जाना अकर्मरूप रह जाना सो मोक्ष है।

शुद्धता व अशुद्धताका अर्थ—यहाँ शुद्धता और अशुद्धताका अर्थ मुख्यतया विचारें, इनका विकार और निर्विकारसे अर्थ नही लेना है, किन्तु पदार्थको अपने एकत्वमें निरखना सो तो उसकी शुद्धताको निरखना है। पदार्थ है और वह अपने सत्त्वके कारण परकी अपेक्षा न रखकर अपने आपके उत्पादव्ययध्रौव्यमयी सत्तासे अनुस्यूत होकर भी अपनेमें जो एक शाश्वत रूप रख रहा है वह शाश्वत स्वभाव है शुद्धपना और उसको कल्पनामें भी जब लाइये, जिसके सम्बंधमें इतनी भी बात उठाना 'यह है वह'। तो उसकी लो अशुद्धता कर दी गई,

भेद कर दिया गया। तो इस तरह भेदकी पद्धति चाहे खण्ड प्रतिभासरूपमें की जाय अथवा पर-उपाधि बनाकर की जाय या विकारभाव करके बतायी जाय, वे सब अशुद्धतामें कहलाती हैं। कैवल्य न रह जानेका नाम है अशुद्धता। जहाँ केवलका भान नहीं है, किन्तु उसमें कुछ अन्य भावका भी भाव है उसे कहते हैं अशुद्धता। तो यों जो जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदिक ९ पदार्थ हैं, ये जीवके विशेष हैं, जीवकी अशुद्धता है। मोक्ष भी उस जीवकी अशुद्धता है। अशुद्धताका अर्थ विकार न लेना, किन्तु वह जो विभक्त और एकत्वगत जीवतत्त्व है, जिस जीवतत्त्वको निर्विकल्प कहा गया है उस ही जीवके सम्बंध में इस प्रकारका जो परिचय किया है कि अब यह जीव निर्विकार हो गया, विकार न रहा, तो क्या यह भूतार्थतासे बताया गया ?

भूतार्थके आश्रयणमें सम्यक्त्वाविर्भूति—अध्यात्म ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि भूतार्थ का आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। उसका अर्थ क्या है ? भूतार्थका अर्थ है शाश्वत एकत्वस्वरूप, उसका आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। मोक्ष तो पर्याय है। वह कोई शुद्ध शाश्वत द्रव्य नहीं है। पर्याय होनेसे वह भी अभूतार्थ है। अभूतार्थका अर्थ झूठ नहीं, बुरा नहीं, अशुद्ध नहीं, किन्तु अभूतार्थका अर्थ है कि जो शाश्वत शुद्ध एकत्व नहीं है वह है अभूतार्थ और जो शाश्वत शुद्ध एक है वह है भूतार्थ। तब ऐसा विश्लेषण करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवलका, भूतार्थका आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यक्त्वकी निष्पत्तिमें आश्रय किसका लिया जाना है, यह बात इस वाक्यमें बतायी गई है। मोक्ष है वह असत्य नहीं और इसी तरह आस्रव, बन्ध आदि सब हैं यह भी झूठ नहीं। किन्तु ये भूतार्थ नहीं, अभूतार्थ हैं। अभूतार्थका अर्थ है कि जो शुद्ध एकत्व है वह नहीं है। वह शुद्ध तत्त्व तो है भूतार्थ और उसके भेद करके, उसकी विशेषतायें जितनी बतायी जाती हैं इन नामोंमें, वे झूठ नहीं हैं, वे विशेष पदार्थ सत्य हैं, पर यह विशेष वह एकत्व नहीं है कि जो वस्तुके साथ अनादि अनन्त है। जो वस्तुके साथ अनादि अनन्त है उसीको कहते हैं भूत। ऐसे अर्थको कहते हैं भूतार्थ। भू धातुका अर्थ होना नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है सत्ता। भू सत्तायां, भू का अर्थ होना है यह रूढ़िमें आया है, और ठीक आया है क्योंकि भू का अर्थ बना सत्ता और सत्ताका अर्थ बना 'होना'। तो भूतार्थका अर्थ है वस्तुमें सहज शुद्ध अनादि अनंत शाश्वत स्वयं निरपेक्ष होकर जो है उसको भूतार्थ कहते हैं। अब ऐसा जो न हो वह है सब अभूतार्थ। तो इस तरह ये ९ विशेष सब अभूतार्थ हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप—ये ९ पदार्थ अभूतार्थ हैं और वह शुद्ध जो जीवत्व है, शाश्वत स्वभाव है वह है भूतार्थ। अभूतार्थका अर्थ "झूठ" नहीं है किन्तु जो सहज स्वभाव नहीं है उसको कहते हैं अभूतार्थ और जो सहज स्वभाव है उसको कहते हैं भूतार्थ। तभी यह बताया है कि व्यवहार

अभूतार्थ है, निश्चय भूतार्थ है।

भूतार्थका आश्रय करने वालेकी दृष्टि—भूतार्थ व अभूतार्थके अर्थको बताने वाली समयसार गाथाका जयसेनाचार्यने यह भी अर्थ किया है कि व्यवहार अभूतार्थ है और भूतार्थ है। व्यवहार झूठ नहीं हुआ करता। जो उपचरित कल्पनायें हैं उनकी बात तो अलग है, जैसे धन मेरा है, मकान मेरा है, देह मेरा है आदिक ये सब उपचरित कल्पनायें भ्रम हैं। इस व्यवहारकी तो चर्चा नहीं करना है, किन्तु यहाँ तो इस व्यवहारको भी अभूतार्थ कहा जा रहा है कि जो जीवके खास विशेष हैं—सम्वर, निर्जरा, मोक्ष आदिक ये जीवके कल्याणरूप हैं, किन्तु ये उस एक जीवत्वके विशेष हैं, भेद हैं, अवस्थायें हैं, पर्यायें हैं, और पर्यायपर दृष्टि रखनेसे, उसका आलम्बन करनेसे पर्यायका ही एक चिन्तन उपयोग रखनेसे वहाँ बुद्धिका श्रम ही करना पड़ेगा, भटकना होगा, क्योंकि उसका विषय ही स्वयं अस्थिर है। तो उपयोगमें उस चीजको लाना चाहिए जो चीज स्वयं स्थिर हो। अभी तो यहाँ दो प्रकारकी मार चल रही है, उपयोग भी अस्थिर है और उपयोगमें जिसका हम विषय करते वह भी अस्थिर है। लो अस्थिरने अस्थिरको जाना तब तो यहाँ असाताका रहना प्राकृतिक होगा। कमसे कम पहिले इतना तो करें कि इस अस्थिर उपयोगमें स्थिरको तो विषय बनावें। इसके बाद साक्षात् सम रूपसे उपयोगको स्थिर बना सकते। ऐसे कुछ मुक्तिकी वैज्ञानिक पद्धतिसे भी यह सिद्ध होता है कि हमें उपयोगमें किस विषयको लेना चाहिए जिससे हम शान्तिके मार्गमें बढ़-कर कभी शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। उस मार्गका प्रारम्भ सम्यग्दर्शन कहा, और उसके लिए बताया है भूतार्थका आश्रय करना। तो इस तरह ये जीवादिक ९ पदार्थ जीवके विशेष है और जीवके विशेष होनेके कारण अभूतार्थ है। इसको यदि भूतार्थ पद्धतिसे निरखा जायगा तो ये भूतार्थसे जाने गए ९ पदार्थ सम्यक्त्वके कारण होते है। जिसको समयसारमें कहा गया कि भूतार्थसे जाने गए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये सम्यक्त्व होते हैं। उसकी प्रक्रिया भी बतायी गई है और उस प्रक्रियाका विवरण बताकर अन्तमें निचोड़ भी बताया गया और स्पष्ट घोषणा की कि ९ तत्त्वोमें गत होनेपर भी वह एकत्वको छोड़ता नहीं है। इस बातको अब निरख लीजिए कि यह जीव इन ९ पदार्थोमें गत है। उसकी ये अवस्थायें बन रही है। पर इन अवस्थाओके बनते रहनेपर भी क्या वह एकत्व-स्वरूप, वह मूलस्वरूप छूट गया है? वह तो यहाँ भी विराजमान हो रहा है। तो अवस्था वर्तमानमें अशुद्ध है, इतनेपर भी ज्ञानमें एक ऐसी कला है कि इस अशुद्धताके बीचमें भी इस अशुद्धतामें से ज्ञानको गुजारकर अशुद्धतामें न अटकाकर उस शुद्ध एकत्वस्वरूपको यह ज्ञान जान सकता है, ऐसी इसकी यदि अप्रतिहत गति न होती तो मुक्तिका मार्ग असम्भव था। किस विधिसे मुक्तिका मार्ग पाया जाता? तो यहां इस प्रसंगमें यह बात रखी गई है कि जो

जीवादिक ९ तत्त्व हैं वे जीव ही तो हैं, जीवसे भिन्न नहीं हैं ।

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥१५४॥

सम्बद्ध जीव पुद्गलमें ही निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक प्रत्येककी नव विशेषतायें— इन जीवादिक ९ तत्त्वोंमें जीवके विशेषरूपको भी निरख लिया गया और इसको अजीवके विशेषरूपसे भी निरख लिया, इतने पर भी ऐसा आग्रह न करना कि जीवमें तो ये ९ अवस्थायें पर्यायें जीवमें जीवके कारण स्वतंत्रतया होती हैं और न यह आग्रह करना कि अजीव में ये ९ अवस्थायें उस अजीवके ही कारण निरपेक्ष होकर होती रहती हैं । जैसे बताया गया है कि पदार्थमें जो भवन शक्ति है, कर्मशक्ति है, इन शक्तियोंके कारण पदार्थमें पदार्थका भवन, पर्याय परिणमन पदार्थमें पदार्थके षट्कारक रूपसे होता रहता है । इस तरह ये ९ पदार्थ निरपेक्ष होकर जीवमें चलें, ऐसा नहीं है । यहां तो इतना निरखने की एक कला है कि हम जीवमें ही देख रहे हैं, इन ९ पदार्थोंको जीवमें ही देख रहे हैं, लेकिन निरपेक्षतया केवलमें ये निष्पन्न नहीं होते हैं, इनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है और उस भावके कारण ये ९ पदार्थ निष्पन्न होते हैं । जैसे एक दर्पण सामने है और पीछेके बहुतसे पेड़ और लोग उस दर्पणमें प्रतिबिम्बित होते हैं तो हम चाहें तो केवल दर्पणको ही निरख सकते हैं । दर्पणमें ही दर्पणकी सारी बातें बता सकेंगे कि यह दर्पण है, वह ऐसा मैला हो गया है, इसमें छाया आ गई है और पीछे दृष्टि करके देख लिया कि ये लोग खड़े हैं, पेड़ भी खड़े हैं । तो इनको अलग-अलग करके भी निरख सकते हैं । मगर इसके मायने यह नहीं है कि दर्पणमें जो कुछ बात है जो अभी ही प्रतिबिम्बित हुई है, वह सब कुछ पर उपाधि बिना केवल दर्पणमें हो गई हो । इसी प्रकार जीवमें केवल जीवके ही कारण जीवकी ही शक्तिसे निरपेक्ष होकर पर-उपाधि सन्निधान बिना यह बात बन गई हो, ऐसा नहीं है । होता है वह निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक फिर भी प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपस्वरूप होता है, इसलिए उसकी सारी पर्यायें उसमें निरखी जा सकती हैं । इस तरह ये ९ पदार्थ जीवरूप और पुद्गलरूप यहां कहे गए हैं ।

कोई यह चाहे कि ९ पदार्थोंमें से किसी भी पदार्थरूप न रहे और जीव रहे तो यह न हो सकेगा। कैसे होगा? यदि अष्टकर्मोंसे रहित शुद्ध निर्विकार अपने स्वरूपके सहज परम विकासमें भी आया तो मोक्ष पदार्थ कहाँसे हटा दोगे? वह तो मानना ही होगा। तो इन विशेषोंको हटाया नहीं जा सकता। फिर भी इन विशेषोंके बीच रहकर भी वह जीव एक ही विराजमान है। अब यहाँ मोक्षमें जीव एक है—यह बात झट समझमें आ गई, क्योंकि वह मोक्षपदार्थ स्वभावके अनुरूप है। जीवका जो सहजस्वरूप है उसके अनुकूल विकास है अतः उस पदार्थमें वह एक जीव विराजमान है। यह जल्दी विदित हो जाता है, किन्तु इस ही पद्धतिसे आस्रव बंध आदिक पदार्थोंके बीचमें भी वह जीव एक विराजमान है। यहां थोड़ा समझना कठिन पड़ता है क्योंकि ये अवस्थायें जीवके स्वभावके विपरीत चल रही हैं, लेकिन विपरीत अवस्था हो या अनुरूप अवस्था हो तो मूलमें एक ही है ना और वह है अपने सत्त्व के कारण अपने सहज प्राणमय चिदात्मक तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि यद्यपि जीव ९ पदार्थरूप होकर ठहरा है किसी भी पदार्थ रूप रहता हुआ फिर भी वहाँ विशिष्ट दशा का ध्यान छोड़ दीजिए और उस एक जीवको प्रतीतिमें ले सकते हैं। जहाँ ये आँखें खोलकर निरखिये तो शरीरसे अलग कोई जीव प्रतिभासमें नहीं आ पाता और इन्द्रियको संयत कर दीजिए, शरीरका ख्याल छोड़ दीजिए, अपनी अन्तःदृष्टि करके निरखिये तो आपको वही जीव जीव ही नजर आयगा, शरीर न नजर आयगा। उसका तो ख्याल भी न रहेगा। तो दृष्टि जिस ओर दी जायगी वही विषय दृष्टिमें रहता है। तो जीव यद्यपि ९ पदार्थोंरूप हो रहा है, पर उन पदार्थोंपर, उन विशेषोंपर दृष्टि न दें, उनको छोड़ दें उपयोगमें, दशा न छूटेगी कभी, न कोई विशेष रहेगा। विशेष बिना कहाँ विराजेगा, लेकिन उस विशेषको दृष्टि में न लें तो ९ पदार्थोंमें गत होकर भी वहाँ तो एक शुद्ध जीव तत्त्व ही विराजमान है।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥१५६॥

नवतत्त्वगत होनेपर भी दृष्टिबलसे जीवके एकत्वकी उपलब्धि और अभूतार्थ सोपरागताके कारण जीवके एकत्वका अदर्शन—उक्त श्लोकमें यह बात कही गई है कि जीव ९ पदार्थोंरूप है याने अशुद्ध है। यहाँ अशुद्धका अर्थ है उस एकत्वरूपसे हटकर विशेषरूपमें परख करना। तो ऐसी अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है, यह बात ऊपर श्लोकमें कही गई है, उसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। यह कथन असिद्ध नहीं है, किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है, उसके सिद्ध करनेकी विधि पायी जा रही है। युक्तिसे अनुभवसे और अपने आपकी अन्तर्दृष्टिसे वह एक जीवत्व विदित हो जाता है। इसीको समयसारमें प्रधानतया कहा गया है और जो ऐसे समयसारस्वरूपको जान लेता है उसका संसारसंकट दूर हो जाता है। अपने

आपको पुरुष जिस किसी भी स्थितिमें पहुंचाता है, वहाँ ही कुछ न कुछ कमी अथवा हीनताका वह अनुभव करता है। यह है मनुष्यकी आदत। करोड़पति भी हो गया तो वहाँपर भी अपनेको हम हीन हैं, हमारे पास तो कुछ नहीं है, हमारी स्थिति अभी ठीक नहीं है आदि रूप यह अपनेको निरखता है। इसी उधेड़-बुनमें रहता हुआ यह अपनेको शान्त, सुखी, सम्पन्न अनुभव नहीं कर पाता। यद्यपि ऐसा भी अनुभव करना तो न चाहिए कि मैं ठीक हो गया हूं मगर वह दूसरी दृष्टि रखकर न करना चाहिए। मेरेमें अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ, अभी मेरा शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं हुआ इस कारण वर्तमान स्थितिमें असंतोष करें लेकिन यह दृष्टि उसे कहाँ मिली ? वह तो बाहरी समागम और पर्यायोंसे ही यह निर्णय किए हुए है कि अभी हम ठीक नहीं बन पा रहे हैं। तो ठीक बनने चले व्यवहारमें, बताओ वे कहाँसे ठीक बनेंगे ? आज रिटायर हैं, पेन्शन मिलती हैं, गुजारेके लायक तीन-चारसौ रुपया माहवार घर बैठे मिलते हैं। और चाहिए क्या ? परंतु अपनेको दीन हीन अनुभव किया जा रहा है। चित्तमें यह बात बनी रहती है कि मुझे तो अभी यह काम करनेको पड़ा है, यह करना है आदि। पर हे आत्मन् ! कितने दुर्लभ मानवजीवनको तूने पाया है ? निगोदसे निकला, स्थावरसे निकला, त्रस पर्यायोंसे निकला, श्रेष्ठ मानव-जीवन पाया। यहाँ भी उत्तम जाति, कुल, देश आदिक मिल गए। मन भी श्रेष्ठ मिल गया, बोल अब तुझे और क्या चाहिये ? अरे इन दिखने वाले मायामयी पर-पदार्थोंमें रागबुद्धि करके तू व्यर्थ ही उनके पीछे हैरान हो रहा है और अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोंको व्यर्थ ही गंवाये जा रहा है। उन परपदार्थोंके सुधार बिगाड़की उधेड़बुनमें रहता हुआ, अनेक प्रकारकी हानि वृद्धिकी घटनाओंका दुःख सहता हुआ अपने जीवनको बरबाद किए जा रहा है। अरे इन परपदार्थोंके पीछे दौड़ लगानेसे तो तेरा भविष्य ही बिगड़ रहा है। अंतमें पछतावा ही हाथ लगेगा, सर्वत्र तू अनादरका ही पात्र बना रहेगा। आज हम आपको ऐसा सुयोग मिल गया है, इन बाहरी झंझटोंसे अलग रहनेका मौका भी मिल गया है, पर-पदार्थोंके फंसावसे भी दूर हो गए हैं, श्रेष्ठ मन भी मिल गया है, तत्त्वचिन्तनके लिए चित्त चाहता है, उस तत्त्वकी खबर भी पड़ी है, तत्त्वके उपदेश भी सही प्राप्त हो रहे हैं, इतना सब कुछ होनेपर भी हम अपनेको निरापद मार्गमें न लायें और इस निरापद मार्गमें ठहरनेका साहस न बनायें तब फिर वह कौनसा अवसर आयगा जहाँ शान्तिका मार्ग अपना सकेंगे ? सब कुछ कर लेना चाहिए इस स्थितिमें रहकर जो कि इस आत्माके लिए कल्याणरूप है। क्या कर लेना चाहिए ? सब कुछ। कुछ भी न करना—यही सब कुछ करना कहलाता है। अन्यथा बाहरी पदार्थोंमें कुछ-कुछ करनेका परिणाम रखकर न वहाँ कुछ बनता है और न यहाँ कुछ बनता है। केवल एक विडम्बना मात्र है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके ज्ञानके सत्य पौरुषका स्मरण—भैया ! अब तो ऐसा तत्त्वज्ञान

चाहिए कि जिस तत्त्वज्ञानमें कृतकृत्यताका अनुभव हो। मैंने करने योग्य सब कुछ कर लिया, मेरेको अब कुछ करनेको नहीं पड़ा है, यह अनुभूति आनी चाहिए और इस सब अनुभूतिका उपाय यह है कि अपने आपमें अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान उस शुद्ध एकत्वका परिचय मिले, उस ही की बात यहाँ चल रही है। इन ६ पदार्थोंके होनेपर भी, इन विशेषोंके रहनेपर भी यहाँ शुद्धताका परिचय कर ले यह बात असम्भव नहीं है, उसकी विधि उपलब्ध है, लेकिन उपराग लगा है ऐसी कुछ एकत्वपर दृष्टि नहीं जम पाती। भीतरका संस्कार लगा है ऐसा कि जिससे हम उन वस्तुओंरूपमें तो भले प्रकार निरख रहे हैं और इसी कारण हम उस एकत्वका दर्शन नहीं कर पाते। तो उपाधिका सम्बंध होनेसे जो कि अभूतार्थ है इस शुद्धताका, इस एक चित्स्वभावका प्रतिभास नहीं होता। इस प्रकरणमें इन सब विशेषोंके लिए अभूतार्थ शब्द दिया गया है। असत्य है, झूठ है, है ही नहीं है, केवल इन्द्रजालकी तरह मायारूप दिख रहा है ऐसी बात नहीं है, वे सब विशेष हैं, लेकिन वे अभूतार्थ हैं। जीवका अनादि अनन्त अहेतुक सहज सत्त्व नही है। जो अनादि अनन्त अहेतुक सहज सत्त्व नहीं है। तो ऐसा भूतार्थ तो वह एक शुद्ध जो अनादि अनन्त अहेतुक सहज हो उसे कहते है भूतार्थ। तो ऐसा भूतार्थ तो वह एक शुद्ध जीवत्व है जिसका कि आश्रय करनेसे सम्यक्त्वकी निष्पत्ति होती है।

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥१५७॥

अशुद्धताके होनेपर भी शुद्धत्वके परिचयके लिये अनेक दृष्टान्तोंका निर्देशन—अशुद्धता के होनेपर भी वहाँ अन्तःशुद्धताका ज्ञान होता है, इस बातकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त भी अनेक मिल जायेंगे। यहाँ कुछ दृष्टान्तोंकी जिक्र की जायगी। वे दृष्टान्त यही है—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक, पाषाण, ज्ञान, समुद्र और नमक, इतने दृष्टान्तोंमें यह सिद्ध किया जायगा कि देखो अशुद्ध अवस्था है लेकिन इस अशुद्धमें भी यदि मूल शुद्ध एकत्वका परिचय हो रहा है जाना जा रहा है, इस प्रकार यहाँ बताये जाने वाले ६ दृष्टान्तोंमें से सर्वप्रथम स्वर्ण का ही दृष्टान्त यहाँ कहा जा रहा है।

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥१५८॥

परयोगसे अनेक वर्ण वाले सुवर्णमें भी शुद्ध स्वर्णत्वके दर्शनका दृष्टान्त—एक स्वर्ण परपदार्थके सम्बंधसे अनेक वर्ण वाला हो जाता है। स्वर्ण जब मिट्टीमें मिला है तो अन्यरूप है, अगर मिट्टी घुलकर साफ हो गई तो वह अन्य रूप है, उसमें अगर ताँबा मिला है तो अन्य रूप है। उसे अगर अग्निमें तपाकर केवल स्वर्ण निकाल लिया गया तो वह अन्यरूप है। जब किसी भी अन्य पदार्थोंका सम्बंध उस स्वर्णमें न मिला हो तो वह शुद्ध स्वर्ण, केवल स्वर्ण

कहलाता है। जैसे दूध और पानी परस्परमें मिले हुए हैं, आधा सेर दूध हो और आधा सेर पानी हो, तो ऐसी स्थितिमें वे साफ अलग-अलग तो नहीं प्रतीत होते, लेकिन इसके जो पारखी इन्सपेक्टर लोग हैं वे यंत्रादिकके द्वारा वहाँपर केवल दूधको निरख लेते हैं—अरे इसमें तो आधा सेर ही दूध है और आधा सेर पानी है। और की तो बात जाने दो—यह तो विद्यमानकी बात कही जा रही है, लेकिन दूधमें घी विद्यमान तो नहीं है, वह तो दूध पर्याय है, किन्तु उसमें कितना घी निकल सकता है, और जो प्रकट रूपमें घी बनेगा ऐसे अणु भी यहाँ भरे पड़े हुए हैं, उस दूधमें भी पारखी लोग निरख करके यह बता देते हैं कि इसमें तो एक छटांक घी है, इसमें १। छटांक घी है। जब इतनी सूक्ष्म परख कर सकते है तो उस मिले हुएमें ताँबा, पीतल, राँगा, मिट्टी आदि मिली हुई है, ऐसे उस सोनेके पारखी लोग केवल स्वर्णत्वको निरख लें इसमें क्या आश्चर्य और यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है—पारखी लोग स्वर्ण को कसौटीपर कसते हैं और कसकर उस स्वर्णको भी न देखें किन्तु उस कसेको देखें, वहाँ जो कुछ चिह्न बना दिया है घिस करके उस ही चिह्नको देखकर बता देते हैं कि इसमें तो १२ आना या इतना सोना है। इस एक तोला सोनामें तो इतने आना ही सोना है। तो पारखी लोग ऐसी परख कर लेते हैं कि उस अशुद्धके अन्दर भी शुद्धको निरख लेते हैं। तब यहाँ भी यह समझिये कि ९ विशेषोंमें यह जीव पदार्थ है, पर ९ विशेषोंमें होकर भी यहाँ ही इसीके अन्दर जो विवेकी ज्ञानी लोग हैं वे उस शुद्ध स्वर्णको निरख लेते हैं।

न चाशंक्यं सततस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात्।
सित्तं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपि वा ॥१५९॥

नव पदार्थोंके ग्राह्यत्व व अग्राह्यत्वके विषयमें आशङ्काके अनौचित्यका संकेत—इस प्रसंगमें ऐसी आशंका न करनी चाहिए कि जब दूसरा मिला हुआ पदार्थ है तो उसकी शीघ्र ही कैसे उपेक्षा की जा सकती है ? और उस पदार्थमें दूसरा उपाधिका सत्त्व है अथवा नहीं है और है तो किस प्रमाणसे है अथवा किस प्रमाणसे नहीं है, क्या ऐसी किसी भी प्रकारकी शंकायें न करना चाहिए ? इस श्लोकमें ग्रन्थकारने शंकाकारकी उन शंकाओंका स्मरण कराया है जो अभी १४३वें श्लोकमें या उसके प्रसंगमें आगे पीछे शंकाकारने जो शंकायें रखी थीं। यहाँ यह बताया जा रहा कि बन ९ पदार्थोंके बीच रहकर भी अन्तःमें शुद्ध जीवत्वका परिचय हो सकता है ? तो ऐसी स्थितिमें दो बातोंकी झलक आती है—एक तो यह कि इन ९ पदार्थोंकी उपेक्षा कर दी गई, और की ही गई। जब उस एकत्वको निरखने चलेंगे तो इस विशेषकी अपेक्षा करनी ही होगी, और यों ही ढीले-ढाले रूपसे भी नहीं, किन्तु वे हैं ही नहीं ऐसी बुद्धि जमाकर उपेक्षा करनी होगी तब उस एकत्वका परिचय मिलता है। तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि ऐसी शंका न करें कि वह विशेष है तो ऐसे वेगसे पूरे फोर्सके साथ

अपनी उपेक्षा कैसे कर दी गई है और साथ-साथ यह भी शङ्का न करना चाहिए कि तब तो मालूम होता है कि उसका सत्त्व ही नहीं है। तभी तो इतनी तीव्र उपेक्षा की गई है। तो उसका सत्त्व है अथवा नहीं है, इस प्रकारकी भी शङ्का न करें। उपाधि है, उपराग है, उसका विशेष है, ऐसे ही इस परिचयको करानेके लिए इस श्लोकमें उन शङ्काओंका स्मरण कराया गया है। देखिये विशेष भी है और विशेषके अंदर वह एकत्व भी है, जो एकत्व है सो विशेष नहीं हो गया, जो विशेष है सो एकत्व नहीं हो गया। इतना उनमें विरोध है स्वरूपसे लेकिन फिर भी अविरोध रूपसे रह ही रहे हैं। एकत्व कहीं अन्य जगह हो और यह विशेष कहीं अन्य आधारमें हो, ऐसा नहीं है। दोनों एक साथ रहकर भी वहाँ जो जिसकी दृष्टि करेगा उसको वह तत्त्व मिल जायगा, जो विशेषकी दृष्टि रखेगा उसको विशेष उपयोगमें प्राप्त होगा और जो उस एकत्वपर दृष्टि रखेगा उसको वह एकत्व उपयोगमें प्राप्त होगा। तो यों विशेषों में एकत्वका दर्शन जो करे उसका वह परम पौरुष है, और जो इन विशेषोंपर ही दृष्टि रखे तो विशेषोंमें और विशेष भी बढ़े और बढ़-बढ़ करके तो यह हालत बनायी है कि संसारी हैं, जन्ममरण होता है, संकट सहते हैं। अब कुछ तत्त्वज्ञान बलसे ऐसा पौरुष कीजिये कि इन विशेषोंमें एकत्वका दर्शन हो।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत्।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥१६०॥

उपाधिमान् स्वर्णको अनादेय माननेपर सर्वशून्यतादिदोष आनेकी तरह नव पदार्थोंको अनादेय माननेपर सर्वशून्यतादि दोषोंका प्रसङ्ग—उपरक्ति सहित होनेसे उपाधि वाला वह स्वर्ण अनादेय नहीं हो जाता है। शंकाकारने अपनी शंका यह दी थी कि उपरक्ति यदि है तो उसमें अनादर क्यों है और उपरक्ति यदि नहीं है तो उसमें अनादर क्या ही होगा ? उस सम्बंध में यहाँ प्रकाश डाला गया है कि जीव उपरक्ति सहित है और वह उपाधि वाला है, इतनेपर भी ९ पदार्थोंमें रहने वाला जीवपदार्थ व नव पदार्थ अनादेय नहीं है अर्थात् उसका जिक्र न हो, प्रतिपादन न हो, बताया न जाय और असत्य कहा जाय यह बात नहीं है, क्योंकि यदि उपाधिकी वजहसे उन अशुद्धताओंको स्वीकार न किया जाय, उन्हें अनादेय कहा जाय, प्रतिपादन भी न हो, कारण भी पूछा जाय तो सर्व शून्यादिक दोष यहाँ आ पड़ते हैं। जैसे कि स्वर्ण उपाधिविशिष्ट है और उसका ग्रहण न किया जाय, जैसे खानसे जो मिट्टी निकली है उसमें स्वर्ण है मगर वह अशुद्ध है, उसे कोई ग्रहण न करे, माने ही नहीं तो शुद्धता किसमेंसे प्रकट की जायगी, और शुद्ध स्वर्ण कहांसे प्राप्त होगा ? तो अशुद्धतामें ही शुद्धताका प्रतिभास होता है, इस कारण अशुद्धता यह अनादेय नहीं है। उसे वैसा ही समझना चाहिये कि जो जिस स्वरूपमें है, जिस ढंगमें है, यहां मूल दृष्टि शुद्ध अशुद्धपर कीजिए। जीव अपने एकत्व-

स्वरूपमें है। जैसे वह अनादिअनन्त अहेतुक है वह तो है शुद्ध जीव और उसमें ख्याल लगाकर भेद करके अथवा उपाधिके सम्बंधसे जो उसमें भेद डाले गये हैं आस्रव आदिक वे सब अशुद्ध जीव कहलाते हैं। ऐसी जो अशुद्धता है अर्थात् सामान्य जीवकी जो विशेषतायें हैं उनको, विशेषोंको न माना जाय तो सामान्य जीव तक भी कोई पहुंच कैसे सकेगा ?

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥१६१॥

अब शंकाकारके १४४वें श्लोकमें बतायी गई शंकाका समाधान इस गाथामें मिल रहा है। यह भी कहना परीक्षाके योग्य नहीं है कि जीव जब शुद्ध है तब शुद्ध ही है। शंकाकार का यह आशय था कि जो शुद्ध है वह शुद्ध ही है, और जो अशुद्ध है वह अशुद्ध ही है, सो अशुद्धता मान लेनेपर भी उस अशुद्धताका कुछ नहीं उठता है, क्योंकि नय तो एक ही है। शुद्धनय और शुद्धनयका ही नयोंमें अधिकार है इसलिए वहाँ शुद्ध ही ज्ञात होगा। अशुद्धका प्रतिपादन करना व्यर्थकी बकवाद है। ऐसी ही शंकाका समाधान इस श्लोकमें मिल रहा है। यह बात न समझ लेनी चाहिए कि जब जीव शुद्ध है तब शुद्ध ही है, अशुद्धता वहाँ है ही नहीं, जो अशुद्ध होगा वह कोई अलग ही चीज है। देखिये यहाँ शुद्धका अर्थ सहज सद्भूत आत्मद्रव्यसे है। वही एक जीव ख्यालसे, भेदसे, उपरागसे उपाधिसम्पर्कसे अशुद्ध कहलाता है। ऐसी अशुद्धता न मानी जाय तो उस शुद्धका भी दर्शन नहीं हो सकता है। अशुद्ध अवस्थाओं से उपयोगको गुजर कर वहाँ ही और अन्तर्दृष्टि लगाकर, भूतार्थपद्धतिकी सारणी बनाकर ही तो उस शुद्ध जीवतत्त्वके परिचयमें पहुंचा जा सकेगा। इस कारण अशुद्धता अग्राह्य है अर्थात् मानने योग्य ही नहीं है, सो भी बात नहीं और यह भी बात नही कि जब शुद्ध है जीव तो वह शुद्ध ही है, वहाँ अशुद्धताका क्या सम्पर्क है ? अशुद्ध होगा तो कुछ और होगा। अशुद्धता मान लेनेपर भी शुद्धनय ही आदेय रहेगा। अशुद्ध तो कल्पनामें भी न लाना चाहिए, सो यह बात भी युक्त नहीं है। अशुद्धता है और शुद्धता है, वस्तुमें न शुद्धता है, न अशुद्धता है किन्तु दृष्टियोंसे हम उसकी शुद्धता जानते हैं और अशुद्धता भी समझते हैं।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम्।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥१६२॥

स्वर्णवर्णमालामें केवल स्वर्ण देखे जानेपर उपाधि दृष्ट न होकर केवल स्वर्णदर्शनकी भांति नव पदार्थोंमें केवल जीवत्व देखे जानेपर विशेष दृष्ट न होकर शुद्ध जीवत्वका दर्शन— अथवा इस अशुद्धता और शुद्धताकी समस्याको यों सुलझा लें। दृष्टान्तमें बता रहे हैं कि जिस समय विकार मिले हुए स्वर्णमें केवल स्वर्णत्व ही देखा जा रहा है तो वहाँपर उपाधि नहीं देखी जा रही। इस सम्बंधमें तो इस दृष्टिके द्वारा अपना इष्ट स्वर्ण ही परखा जाता है। जैसे

स्वर्णके पारखी लोग किसी अशुद्धताकी हाथमें लेकर देखते ही उसमें तुरन्त यह बुद्धि कर लेते हैं कि इसमें तो १४ आने भर स्वर्ण है, दो आने भर मैल है, तो एक तोलेके स्वर्णपिण्डको लेकर वहाँ १४ आने भर स्वर्णको ही देख रहे हैं और इस दृष्टिमें क्या निरखा गया ? वह शुद्ध सोना । अशुद्ध देखता तो वह एक तोला नाम लेता, पर उस एक तोला वजनमें से १४ आनेभरकी दृष्टि रखना, यह शुद्धताकी सूचना देता है कि उस पारखीकी दृष्टिमें शुद्ध सोना ही आया हुआ है । तो मिले हुए सोनेमें से जब केवल सोनेका ही स्वरूप विचारा जाता है, उसका ही निरीक्षरण किया जाता तो वहाँ सोनेका स्वरूप झलक जाता है । यद्यपि वहाँ मल मिला हुआ है, अन्य पदार्थ मिले हुए हैं तो भी वे न की तरह ही हैं, क्योंकि दृष्टिमें ही नहीं लिए गए हैं, ऐसे ही कोई साधक जब अपने आपमें उस शुद्ध जीवत्वका परिज्ञान करता है, वहाँ ही उपयोग लगता है तो सब कुछ होते हुए भी उसके उपयोगमें तो वे कुछ हैं ही नहीं तो उस साधकको उस अवसरमें केवल एक शुद्ध एकत्व ही दृष्टगत हो रहा है, इसीसे वह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव कर लेता है । उसे वहाँ न कल्याणका भान है, न समयका भान है, न न शरीरका भान है और न कोई गत और भावी प्रोग्रामोंका भान है । उसकी दृष्टिमें तो मात्र वह एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप ही बसा हुआ है । तो जिस किसी स्थानपर हैं, जंगलमें हैं, किसी समय बैठे हैं और आस-पास अनेक वस्तुवें हैं, शरीर भी है, पर किसी भी बातका ध्यान नहीं करता । वह आगे कुछ और प्रवृत्ति भी करेगा, उसका भी विकल्प न करके पहिले वह कुछ शुभ काम भी कर चुका है, उसका भी विकल्प न करके केवल एक शुद्ध चिन्मात्र जीव-तत्व उपयोगमें है और ऐसे ही दृष्टि स्वानुभवके कारण बनती है । तो यहाँ यह बताया गया है कि जीवकी यह विशेष दशा है, फिर भी यदि उस शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपकी दृष्टि की जाय तो वह प्रतीत हो सकता है ।

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥१६३॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥१६४॥

अशुद्ध होनेपर भी सहज शुद्धताके दर्शनके लिये प्रयुक्त दृष्टांतके विवेचनका निष्कर्ष— उक्त स्वर्णके दृष्टान्त सम्बंधी विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि स्वर्ण परसम्बंधके बिना पृथक् अपने उस स्वर्णरूप ही है । यद्यपि उसमें अनेक प्रकारकी वर्णमालायें हैं अर्थात् संयोग, अशुद्धता और अनेक प्रकारके पलटन हैं तो भी वस्तु अगर निरखी जाय तो वह तो परसम्बंधके बिना अपने आपके स्वरूपमें सबसे विभक्त वह केवल स्वर्ण ही शोभायमान हो रहा है । स्वर्णके जितने कण हैं, जो शुद्ध कण हैं अर्थात् केवल स्वर्णरूप हैं, ऐसे कणोंमें स्वर्ण है और जो वे

फुटकर फैले हुए, बिखरे हुए सारे पिण्डोंमें स्वर्ण स्वर्णरूपसे सर्वत्र है। कहीं ऐसा नहीं होता कि उन मैलोंको पकड़कर, मैलोंके अणुओंसे स्वर्ण निकाला गया हो। मैलमें मैल है, स्वर्णमें स्वर्ण। चाँदी स्वर्ण मिले हुए हैं, तपाकर उनमेंसे शुद्ध स्वर्ण निकलता है। तो कहीं चाँदीके कणोसे स्वर्ण नहीं निकला। स्वर्णके कण ज्योंके त्यों वहाँ अवस्थित थे वे ऐसे फैल गए थे कि उनका व्यक्त रूप बिगड़ गया था लेकिन तब भी स्वर्णमें स्वर्ण ही था, चाँदी उपाधिमें स्वर्ण न था। सो यहाँ यह दृष्टिमें आया कि अनेक स्वर्णमालामें भी और उपाधिका सम्बंध होनेपर भी वह स्वर्ण परसे संयोगीसे बिल्कुल पृथक् ही अपने आपमें पाया जा रहा है। तो ऐसे ही सर्व दृष्टान्तोमें उस केवल वस्तुकी बात समझ लेनी चाहिए कि अन्य उपाधिका सम्बंध होने पर भी वह मूल वस्तु अपने आपमें स्वयं ही विराजमान रहती है। तो जिस प्रकार यहां स्वर्ण का दृष्टान्त दिया और स्वर्णमें इन अनेक प्रक्रियाओंको सिद्ध किया गया, शंकाकारकी अनेक शंकाओंका समाधान दिया, ऐसी ही प्रक्रिया सर्व दृष्टान्तोंमें लगा लेनी चाहिए और समझना चाहिए कि वे सभी दृष्टान्त साध्य अर्थके साथ अविरोध रखनेके कारण सब भूषणस्वरूप हैं। सभी दृष्टान्तोसे साध्य अर्थकी पुष्टि होती है। साध्य अर्थ मूलमें यही है कि ९ पदार्थोमें आकर भी यह जीव अपनी शुद्धताको, एकताको नहीं छोड़ता है।

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत्।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ।।१६५।।

जलमग्न कमलपत्रकी भांति जीवकी उपाधिसे भिन्नता—अब इस श्लोकमें दूसरा दृष्टान्त कमलका दिया गया है। जैसे कमल पानीमें मग्न है, भले ही मग्न है अर्थात् जलमें डूबा हुआ है तो भी उस कमलपत्रको देखा जाय, उस कमलपत्रके स्वरूपका ध्यान किया जाय तो वह कमलपत्र पानीमें नहीं है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो पानीमें पानी है और पत्ता में पत्ता है। यह दृष्टान्त सभी पदार्थोमें लगा सकते, किन्तु एक व्यावहारिक विशेषताके कारण कमलपत्रका दृष्टान्त दिया है, और पत्तोंमें पानी चिपक भी जाता, ठहर भी जाता, पर कमलपत्रमें मानो पानीका स्पर्श ही नहीं होता। इस तरहका चिकना पत्र है कि उसमें पानी ऊपर लुढ़कता रहता है, मानो वह पानी उस पत्तेसे अलग ही रहना चाहता है। कितना ही पानीमें भीगा हुआ रहे वह पत्ता, फिर भी ज्योंका त्यों सूखा जैसा रहता है। इस व्यावहारिक विशेषताके कारण कमलपत्रका यहाँ उदाहरण लिया है। कमलपत्र जलमें मग्न है पर वास्तवमें वह कमलपत्र जलमें नहीं है। जलसे भिन्न रहनेका उसमें स्वभाव है। इसी प्रकार दृष्टान्तमें भी घटित कीजिए। जीवात्माका स्वरूप जो है सो ही है, उपाधिमें आया है, पुद्गलके सम्पर्क में है, इतनेपर भी वह पुद्गलसे भिन्न है। इस दृष्टान्तसे अपने आपपर ही घटित कर लीजिए—यह आत्मा मानो इस शरीरमें डूबा है, मग्न है, पड़ा है, शरीरका कपड़ा, यों कह लीजिए कि

जहाँ शरीरके स्कंध हैं वहाँ ही ये जीवप्रदेश हैं । जहाँ ये जीवप्रदेश हैं वहाँ ही ये शरीरके अंग है, ऐसे मग्न हो गए मानो राखमें पानी डाल दिया तो वह मग्न हो गया, उससे भी और घनिष्ट मग्न है । इतनेपर भी जीव पुद्गलसे भिन्न है । देहमें रहकर भी जीव देहरूप नहीं होता, देहसे पृथक् है । यह पृथक्ता जब ज्ञानस्वभावकी प्रधानतासे जीवका स्वरूप निरखते हैं तब विशद-रूपसे विदित हो जाती है । वह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा किसी जड़ स्कंधोंमें रहे, यह कैसे हो सकता है ? जड़स्कंधोंमें तो जड़स्कंध ही हैं और ज्ञानस्वरूप आत्मामें वह ज्ञानस्वरूप ही है । यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ऐसा निरालम्ब प्रतीत होने लगता है तब ज्ञानमात्रके रूपमें इसका अनुभव किया जाता है । यों समझिये कि जैसे आकाश निरालम्ब है उसी प्रकार यह ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा भी निरालम्ब है, वह तो शरीरसे पृथक् ही है । यों जैसे जलसे भिन्न कमल है, कमलपत्र है उसी प्रकार देहमें रहता हुआ भी यह जीव इस देहसे निराला है।

आत्मोद्धारके प्रयासमें प्राथमिक कर्तव्य—देहमें रहकर भी देहसे निराले स्वतन्त्र सद्भूत इस जीवका यदि उद्धार करना है तो देहकी ममता तो पहिले छोड़नी ही होगी । देहमें ममता होना, उसे अपना मानना, उसकी बड़ी परवाह रखे, उससे अपना मन पोषें और देहके साधनोंमें ही अपनेको मौज मानें, खुश रहा करें ऐसे विकल्प वाले देहसे भिन्न आत्माकी निरख कैसे कर सकेंगे ? जिसको यह देह अन्य देहोंकी भाँति या अन्य काष्ठ आदिक पदार्थोंकी भाँति ऐसा निराला भिन्न नजर आने लगता है उसको ही यह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व प्रसिद्धिमें आता है, तो जब आत्माके उद्धारके लिए चलिये तो पहिला कदम तो यह है, और देहमें ममता नहीं है यह बात कैसे जानी ? इन्द्रियविजयसे । ऋषि संतोंने आत्म-उद्धारके उपायोंमें सबसे पहिला उपाय इन्द्रियविजय रखा है और बताया है कि जो इन्द्रियविजय नहीं कर सकता उसके कभी भी शुद्धि उत्पन्न नहीं होती । इन्द्रियविजयका अर्थ है इन्द्रियसे उपेक्षा, इन्द्रियके विषयोंसे उपेक्षा, विषयोंके सेवनसे उपेक्षा । मैं बहुत ही कोमल पलंगोंपर सोया करूँ, शरीरको बहुत ही साफ सुहावना रखूं, अथवा बड़े रसीले स्वादिष्ट भोजन करूँ ऐसी भावना जो बनती है और रसीले भोजन करके अपने आपको बड़ा माननेकी प्रवृत्ति जो रखी है और उससे जो कुछ अपनेको पुण्यवान, महत्त्वशाली अनुभव करनेकी भीतरी वृत्ति बनती है वह तो विष है । ऐसी दृष्टि वालेको देहसे भिन्न आत्मा है—यह कैसे नजर आ सकता है ? इस स्थितिमें कोई अगर देहसे भिन्न आत्माको बताये तो देहसे भिन्नताका परिचय नहीं हो रहा, किन्तु किसी न किसी प्रकारके रागसे लिप्त होनेका ही वहाँ परिचय है । किसको बताना, क्या समझाना ? लोग जानें, लोग समझें, यों कितने ही प्रकारके रागका सम्पर्क है पर देहसे भिन्न आत्माकी दृष्टिकी बात वहां नहीं है । तो दृष्टान्तमें बताया कि जैसे जलमें रहकर भी कमल और कमलपत्र जलसे पृथक् हैं इसी प्रकार उपाधिमें रहकर भी यह आत्मा उपाधिसे पृथक् है ।

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥१६६॥

सपङ्क जलमें पङ्कको न निरखकर जलको ही निरखनेकी भांति नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवत्वकी निरख—अशुद्ध पदार्थमें भी पदार्थकी शुद्धताका दर्शन होता है । ९ पदार्थोंमें भी शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है । इसकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त दिये जा रहे हैं, जिनमें यह तीसरा दृष्टान्त है । जैसे जल कर्दमसहित है अर्थात् मैला जल कीचड़सहित जल है । उस जलमें भी यदि जलका स्वरूप देखें और कीचड़का स्वरूप न देखें तो वहां उस मिली हुई अवस्थामें भी जलका स्वरूप नजर आयगा, शुद्ध जलका दर्शन होगा । इसी प्रकार यह जीव ९ पदार्थोंमें गत हुआ है । कहीं ख्यालसे हुआ है, कहीं उपाधिके सम्बंधसे हुआ है, किसी भी कारण ये ९ पदार्थोंके भेद बने हैं, फिर भी इन ९ पदार्थोंसे इन उपाधि और सोपरागका ख्याल न करके केवल एक शुद्ध जीवत्वस्वरूपको निरखा जाय तो इन पदार्थोंमें भी शुद्ध जीवत्वका दर्शन होता है । जैसे अभी यहीं इस देहमें बँधे हुए होकर भी हम आप भीतरमें इस उपयोगका ज्ञेय देहको न बनायें और उपयोगमें केवल एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व जो आकाशकी भांति निरालम्ब है और जो ज्ञान अपेक्षा व्यापक हैं अर्थात् केवल उतने प्रदेशमात्र है, इस दृष्टिको न रखा जाय, किन्तु वह ज्ञानमात्र है इस दृष्टिसे यहां भी एक जीवका दर्शन किया जा सकता है और वहां देहादिकका दर्शन न होगा । इसी तरह ९ पदार्थोंमें गत होकर भी उपाधि सोपरागताका दर्शन न करके, ज्ञान न करके केवल शुद्ध जीवत्वका ज्ञान किया जाय तो शुद्ध जीवत्वका वहां दर्शन होता है । यों अशुद्धतामें परप्रयोग होनेपर शुद्ध जीवका परिचय हो जाता है ।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥१६७॥

तृणाग्निमें तृणसे भिन्न अग्निस्वरूपके परिचयकी भांति नव पदार्थोंमें शुद्ध जीवत्व-स्वरूपका परिचय—अब यहां चौथा दृष्टान्त अग्निका दिया जा रहा है । जैसे कोई तृणाग्नि है अर्थात् तृण ईंधन है और उसीमें आग लगी है तो वह तृणाग्नि कहलाती है । उसे तृणाग्नि क्यों कहा कि तृणके सम्बंधसे उस अग्निको तृणाग्नि कहा है, परन्तु वास्तवमें अग्निका स्वरूप यदि देखें तो क्या अग्नित्व तृण उस अग्निरूप है ? अर्थात् अग्नि तो अग्नि ही है, अग्नि तृण नहीं है और तृण अग्नि नहीं है । अग्निके स्वरूपमें अग्नि है, तृणके स्वरूपमें तृण है । इसे यदि और स्पष्ट समझना है तो अग्नि जहां नहीं लगी ऐसे तृणको निरखिये—वह तृण है, और अग्नि जहां लग चुकी वहां वह तृण तो न रहा । वह तो एक अग्नि है, यों भी समझ सकते हैं और जब तृणकी अग्नि व्यापक है, तृणमें उस समयमें भी बुद्धि द्वारा यह जान सकते हैं कि

अग्निका स्वरूप तो अग्नित्व है। गर्मी उष्णता यह अग्निका स्वरूप हुआ करता, न कि तृणमय वन जाता। और भी गम्भीरतासे निरखें तो अग्निमें जो आकार बना है, तृणमें लगी सो तो तृणके आकार है, काठमें लगी तो काठके आकार है। तो यहाँ यह बतलाओ कि अग्निमें जो इस तरहका आकार बना है वह आकार भी अग्निमें उपचारसे सम्वंधसे है। अग्निमें स्वयं क्या आकार है? अग्नि अग्नि ही है और वह अपनी उष्णता स्वरूपको लिए हुए है। उसमें तृणका सम्बंध है इसलिए तृणाग्नि कहते हैं। सभी दृष्टान्तोंमें शंकाकारके जितने विकल्प हैं उन सब विकल्पोंको घटाया जा सकता है। जैसे इस तृणाग्निमें जो उपाधि लगी है क्या वह उपाधि अग्राह्य है? अगर उपाधि अग्राह्य है तो फिर अग्निका कुछ रूप न बन सकेगा, आदिक सभी विकल्पोंका समाधान प्रत्येक दृष्टान्तमें पाया जाता है। तो जैसे तृणाग्निमें अग्नि तृणसे निराली परख ली जायगी इसी प्रकार ९ पदार्थोंमें जीवको ९ पदार्थोंसे निराला परख लिया जाता है।

प्रतिविम्वं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥१६८॥

मयूरप्रतिविम्बी दर्पणमें दर्पणकी मयूरसे भिन्नताकी भांति नव पदार्थोंमें उनसे जीवत्व की भिन्नता—इस श्लोकमें शुद्धताके दर्शनके प्रसंगमें दर्पणका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे दर्पण में मयूरकी छाया पड़ रही है, मयूरके सम्वंधसे या उसके सन्निधानका निमित्त पाकर उस दर्पण में प्रतिविम्ब पड़ रहा है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो दर्पणमें छाया पड़कर भी छाया मयूर नहीं है। मयूरका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव सब कुछ मयूर शरीरके स्कंधोंमें ही है। उससे बाहर मयूरका कुछ नहीं गया। तो मयूर तो मयूर ही है और दर्पण दर्पण ही है। उसका निमित्त पाकर यह दर्पण ही स्वयं अपनी स्वच्छतासे चिगकर प्रतिविम्ब रूपमें आ गया है, ऐसे ही जगतमें सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक सम्बंध देखा जा रहा है। तो जैसे मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पण में है और मयूरका निमित्त पाकर दर्पण प्रतिविम्ब रूप परिणम गया है, इतनेपर भी मयूर पृथक् है और मयूरसे वह दर्पण पृथक् है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे जीवात्मा विकार रूप परिणमा है अथवा अन्य-अन्य संयोग वियोगोंकी अपेक्षासे ये ९ पदार्थ बने हैं, फिर भी वह जीव तो शुद्ध ही है, अर्थात् वह तो केवल है। अपने सहज स्वरूपमात्र है। इन ९ पदार्थोंमें गत होकर भी जीव जीव न रहा हो और केवल इन विशेषोंरूप ही बन गया हो ऐसा नहीं है। वहाँपर भी इस अशुद्धतामें उस शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है।

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मति।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तववस्तत्र वस्तुतः ॥१६९॥

उपाधिसम्पर्कसे स्फटिक पाषाणमें विकार आनेपर भी विकारकी अपरमार्थताको

भांति शुद्ध जीवत्वकी अपेक्षासे नव पदार्थोंकी अपरमार्थता—यहाँ स्फटिक पाषाणका दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे जपापुष्पके सम्बंधसे स्फटिक पाषाणमें विकार आया है, स्फटिक पाषाणके समीप या कुछ बाहर कोई उपाधि रखी है तो जपापुष्प लालरूप परिणाम गया है, वह लालिमा स्फटिक पाषाणकी है, जपापुष्पकी नहीं। जैसे दर्पणमें मयूरका प्रतिबिम्ब आ गया तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणका है, मयूरका नहीं। मयूर तो निमित्तमात्र है। इसी प्रकार जीवमें जो विकार हुआ है वह विकार जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है, कर्मका परिणमन नहीं, उपाधिका परिणमन नहीं। उपाधि तो वहाँ निमित्तमात्र है। तो यों उपाधिके निमित्त से यह जीव अशुद्ध हुआ, विकृत हुआ, तिसपर भी वहाँ जीवकी शुद्धता है, अथवा वह एक सहज स्वरूपमात्र जीव है, ऐसे भेदके साथ प्रतीनि हो जाती है। ६ पदार्थोंमें प्राप्त होनेपर भी जीवका जीवत्वस्वरूप शुद्ध है और वह एक जीव है ऐसा विदित हो जाता है। जैसे कोई पर-पदार्थका सन्निधान होनेसे स्फटिक पाषाणमे जो रंग चित्रित हुआ है सो ऐसा नहीं है, उस समय कि वहाँ वह रंग रूप परिणामन न हो। उसका ही परिणामन हो रहा है, इतनेपर भी यह भी साथमें देखिये कि वह परिणमन ऐसा उसके ऊपर लोट रहा है कि निमित्तके अपाय होनेपर वह परिणमन तत्काल दूर हो जाता है। उसमें स्फटिक पाषाणको माननेकी या साफ करनेकी या भीतरसे कोई प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। निमित्तकी निवृत्ति होनेपर वे विकार निवृत्त हो जाते हैं। इतना उसका अन्वयव्यतिरेक निमित्तके साथ जुड़ा हुआ है। इतनेपर भी वह चित्रण, वह लालिमा स्फटिक पाषाणकी है। अब देख लीजिए कि कितना सुगमतया दूर किया जा सकने योग्य और कितना ऊपर लोटा हुआसा वह विकार प्रतीत होता है। किसीको यह भेद न मालूम हो तो वह तो यही निरखेगा कि यह स्फटिक स्वरूपसे ही ऐसा हो रहा है, इसी प्रकार पुद्गल कर्मके निमित्तसे उस उपाधिका सन्निधान पाकर जो आत्मामें रागादिक परिणमन होते हैं वे स्वभावमें प्रवेश नहीं कर पाते। इस कारणसे वे परि-णमन स्वभावसे बाहर ही लोट रहे हैं। इतनेपर भी परिणमन तो उस समयमें जीवका चल रहा है। अब इस मर्मको जो जीव समझ नहीं सकता, उसे यों समझना पड़ता ही है कि इस ही रूप मैं हूं, यही मेरा सर्वस्व है और जो लोग तत्त्व, तथ्य समझ लेते हैं वे यहाँ इस प्रकार जानते हैं कि यह स्वभावसे बाहरकी बात है और यह परिणामन निमित्तके अपाय होनेपर दूर होता है और इसके लिए हमें पौरुष निमित्तके हटानेका नहीं करना है, किन्तु यहां ही अपनेमें बसकर भेदविज्ञान करके विकारोंसे पृथक् केवल ज्ञानमात्र स्वका अनुभव करना है, इस विधि से ये विकार दूर होंगे। तो जैसे स्फटिक पाषाणमें जपापुष्पका निमित्त पाकर लालिमा आयी है फिर भी स्फटिक पाषाणके स्वरूपको निरखा जाय तो वहाँपर भी उसकी स्वच्छताका दर्शन होता है इसी तरह कर्म उपाधि सम्बंधसे विकार उत्पन्न होते हैं, फिर भी इस अविकार

ज्ञानस्वभावका दर्शन करें तो वह दिख सकता है।

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम्।
नार्थज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥१७०॥

घटज्ञानमें घटसे ज्ञानकी भिन्नताकी तरह नव पदार्थोंसे शुद्ध जीवत्वकी विलक्षणता— अब अशुद्धतामें भी शुद्धता है और दर्शन किया जा सकता है, इसकी पुष्टिमें ज्ञानका दृष्टान्त दिया जा रहा है। जो ज्ञान घट पदार्थका ज्ञान कर रहा है उस ज्ञानको घटज्ञान कहते। तो जैसे घटज्ञान घटको जान रहा है, पर घटको जानता हुआ भी वह ज्ञान घट तो नहीं बन गया। घटका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव घटमें है, उस रूप कहीं यह ज्ञान नहीं बन गया। ज्ञान तो अपने अधिकरणभूत आत्मामें ही रहता हुआ उस प्रकारका परिच्छेदन कर रहा है, जान रहा है। तो घटविषयक जानकारी चलते रहनेपर भी यह ज्ञान ज्ञानरूप ही है और ज्ञानरूप रहकर ही ऐसा जाननेका प्रयत्न कर रहा है, उस घटका कोई सम्बंध नहीं बनाता है, वह तो केवल विषयभूत है। तो जैसे घटज्ञान घटरूप नहीं हो जाता किन्तु ज्ञान तो ज्ञान ही रहता और घट घट ही रहता है। यह तो ज्ञानका स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है उस ही पदार्थके आकार वह हो जाता है। इतना होनेपर भी अर्थात् उस घटके आकार हो गया मायने कम्बुग्रीवादिक नीचे कम, पेटमें बहुत, मुखमें कम, इस प्रकारके आकारमें ज्ञान बन गया, अर्थात् इस प्रकारका जानन चल रहा है ऐसे अर्थविकल्पको आकार कहते हैं, तो इस तरह वह घटविषयक परिच्छेदन कर रहा है, फिर भी वह ज्ञान उस पदार्थरूप नहीं परिणमा। वास्तवमें तो ज्ञान ज्ञान ही है और घट घट ही है। इसी प्रकार यह जीव ९ पदार्थगत हो रहा है, विकाररूप बन रहा है, इसमें विकार आये हैं फिर भी स्वभावका परिचय करें तो स्वभाव विकार नही बन गया है। यद्यपि विकार परिणमन है और वह विकार आवरण है कि वह स्वभाव आवृत्त हो गया है, उसका विकास नही चला, इतनेपर भी स्वभाव विकार नहीं बन गया, स्वभाव स्वभाव ही है, विकार परिणमन हुआ है, ऐसी स्थितिमें भी कोई स्वभावका दर्शन करना चाहे तो स्वभाव वहाँ निरखा जा सकता है। अर्थात् ९ पदार्थोंमें गत होनेपर भी कोई शुद्ध जीवत्वका दर्शन करना चाहे, स्वभावदृष्टिका बल लगाये तो वहाँ शुद्ध जीवत्वका दर्शन किया जा सकता है।

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥१७१॥

वायुप्रेरित सोत्तरङ्ग समुद्र और वायुमें ऐक्यके अभावकी तरह नव पदार्थो और शुद्ध जीवत्वमें ऐक्यका अभाव—यहाँ समुद्रके दृष्टान्तमें बताया जा रहा है कि जैसे वायुका निमित्त पाकर प्रेरित हुआ वह समुद्र ऊँची-ऊँची लहरोंको धारण करता है, ऐसा अन्तरङ्ग सहित होने पर भी अर्थात् ऊँची-ऊँची तरग वाला होनेपर भी समुद्र तो समुद्र है और वायु वायु है। ये

दोनों एक नहीं बन गए। वायु तो उपाधिरूप है और समुद्र अपने आपमें उस प्रकारका परिणमन कर रहा है। यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि निमित्तका उपादानमें अत्यन्ताभाव होता है, लेकिन निमित्तका उपादानमें हुए उस नैमित्तिक क्रियाके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध होता है। अन्वयव्यतिरेक सम्बंध जाना जाता है कि जिसके अभाव होनेपर जो न हो सके यह हुआ व्यतिरेक सम्बन्ध, इस ही को विधि रूपमें कहा जाय तो जिसके ही होनेपर जो कार्य हो सके उसे कहते हैं अन्वय सम्बंध। तो निमित्त और नैमित्तिक भावका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है, पर निमित्तका उस उपादानमें अत्यन्ताभाव है, अर्थात् पृथक्भूत पदार्थ ही निमित्त हो पाता है। तो जीवका विकार और कर्म-उपाधि निमित्त इनमें यहाँ यह देखना होगा कि विकार तो जीवका परिणमन है और कर्म उसका निमित्तभूत है। उस विकारके साथ कर्मका अन्वयव्यतिरेक है, पर जीवमें उस उपाधिका अत्यन्ताभाव है। इस तरह उस उपाधिके मेलमें रहनेपर भी उस औपाधिक भावके होनेपर भी कोई सहज स्वरूपकी दृष्टि करे तो वहाँ भी शुद्ध जीवत्वका परिचय कर सकते हैं। जैसे पहिले घानी हवाके चलनेसे समुद्र बड़ी लहरों वाला बन रहा है। वहाँ भी कोई केवल समुद्रके स्वरूपको ही देखे तो वहाँ बोध कर सकता है कि समुद्रमें समुद्र ही है, हवा नहीं है। तो हवाका सम्बंध होनेपर भी हवासे पृथक् वहाँ समुद्र है। यहाँ इस मर्मपर दृष्टि देनी चाहिए कि हवासे प्रेरित होकर भी समुद्रने किया किसे और अनुभवा किसे ? तो समुद्रने किया भी अपने आपको और अनुभवा भी अपने आपको। समुद्रने अनुभव क्या किया ? पर्यायको तन्मयतासे निष्पन्न करना इसीके मायने अनुभव है। चेतन पदार्थोंमें अनुभवकी बात जरा जल्दी समझमें आ जाती है किन्तु अचेतन पदार्थोंमें अनुभवनेकी बात तो शीघ्र नहीं विदित होती कि अचेतनका चेतनसे सम्बंध नहीं है। लेकिन अनुभवनका अर्थ है अनुभवन, अनुसार होना, पदार्थके, स्वरूपके अनुसार परिणमन होनेका नाम है अनुभवन। तो जैसे समुद्रका काम और अनुभव समुद्रमें है इसी प्रकार जीवके काम और अनुभव जीवमें हैं। लेकिन इस काम और अनुभवसे भी निराले शुद्ध जीवत्वके देखनेकी बात यहाँ कही जाती है।

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः ।।१७२।।

अनेक व्यञ्जनोंमें रहकर भी नमककी एकरसताकी तरह नव पदार्थोंमें रहकर भी शुद्ध जीवत्वकी एकरूपता—९ पदार्थोंमें रहकर भी यह जीव सहज अपने शुद्ध जीवत्वमें ही रह रहा है, यह बतानेके लिए और साथ ही यह दर्शानेके लिए कि यह जीवत्व इन ९ पदार्थों रूप में देखा गया है, सो अब ये ९ पदार्थ भी जानने योग्य हैं, ये अग्राह्य नहीं हैं। इतनी बातके समर्थनके लिए ये दृष्टान्तमालायें चल रही हैं, उनमेंसे यह एक अन्तिम दृष्टान्त है। जैसे नमक

नमककी डली सर्व तरहसे एकरसस्वरूप है, उसका स्वाद तो एक नमक रूप ही है, सर्वतः क्षारमय है लेकिन वह नमक जब भिन्न-भिन्न भोजनोंमें पहुंच जाता है तब भिन्न-भिन्न रीतिसे उसका स्वाद आता है। यहाँ भोजनका एक पर्यायवाची शब्द उपदंशक दिया गया है। जब यह नमक अनेक उपदंशकोंमें पहुंच जाता है तब यह एक रस नहीं रहता, किन्तु भिन्न-भिन्न रसों रूपसे स्वाद आता है, फिर भी देखा जाय, सूक्ष्मदृष्टिसे विचारा जाय तो नमक तो क्षार रूप ही है। उन नाना स्वादोंरूप नहीं है। वह तो तिक्त रस ही है। नमकका स्वाद व्यञ्जनमें पहुंचकर वास्तवमें बदलता नहीं है लेकिन जो इस तथ्यसे अपरिचित हैं अथवा व्यञ्जनमें लुब्ध हो रहे हैं, ऐसे पुरुषोंको नमकके उस स्वतंत्र रसका स्वाद ज्ञात ही नहीं होता है। यहाँ उपदंसक शब्द कहा है जिसमें शब्दावलिसे तो अर्थ यह होता—दंसक अर्थात् डसने वाला। जैसे डाँस मच्छर यों नाम भी बोलते ही हैं, अरे यह है उपदंशक। विदेले जीवोंकी भाँति सीधा डसता तो नहीं है मगर यह डसने जैसी क्रिया हो रही है इसलिए उपदंशक है। यह ही क्या ? पञ्चेन्द्रियके जितने विषय हैं वे सब उपदंशक हैं। तो यहाँ दृष्टान्तमें बताया गया है कि नमक तो है एक रस लेकिन नाना व्यञ्जनोंमें पहुंचनेसे वह भिन्न-भिन्न स्वाद जैसा प्रतीत होता है फिर भी वहाँ नमक तो अपने ही स्वादरूप है, वह बदला नहीं है। इसी प्रकार आत्माके ये ९ पदार्थ बताये गए हैं और इन ९ अवस्थाओंरूप प्रतीत हो रहा है, फिर भी आत्मा तो अपने सहज स्वरूपमें वह एक जीवत्वमात्र है। यहाँ ये दोनों ही बातें समझ लेना है कि ९ पदार्थों में रहकर भी शुद्ध जीवत्व अपने ही रूप है। दूसरी बात यह समझ लेना है कि जैसे नमक व्यञ्जनोंके सम्बंधमें उन ९ व्यञ्जनोंरूपसे ही स्वादा जाता है ऐसे ही यह जीवत्व ९ पदार्थोंमें गत होकर इसीमें से उन रूप परखा जाता है। तब जैसे वह व्यञ्जन अग्राह्य नहीं है ऐसे ही ये ९ पदार्थ अग्राह्य नहीं हैं और जैसे उन व्यञ्जकोंमें नमक अपने ही एक शुद्ध रूप है इसी प्रकार इन ९ पदार्थोंमें भी वह सहज स्वरूप शुद्ध जीवत्वरूप है।

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥१७३॥

उक्त अनेक दृष्टान्तों द्वारा शुद्ध जीवत्वकी प्रसिद्धि एवं नव पदार्थोंकी वाच्यताका निर्णय—इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हो जाता है अथवा उन दृष्टान्तोंमें देखे गए उस मर्मसे यह सिद्ध हो जाता है, जैसे कि बताया गया था कि ९ पदार्थोंमें गत होकर भी वह शुद्ध जीवत्व परखा जा सकता है और ९ पदार्थ ये अग्राह्य नहीं हैं। इनके जाने बिना उस शुद्ध जीवत्व तक भी पहुंच न हो सकेगी। इस ही बातको सिद्ध करनेके लिए ये ९ दृष्टान्त कहे गए हैं। यहाँ अनेक लोगोंका विवाद था कि ९ पदार्थ कहना चाहिए अथवा नहीं, अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिए, ऐसी कुछ धारणा शंकाकारने स्पष्ट

की थी। उस ही के सम्बंधमें इन दृष्टान्तों द्वारा यह बात बता दी है कि ९ पदार्थोंकी आवश्यकता है, ये ग्राह्य हैं, इनको समझना है और इनको समझकर फिर भूतार्थ पद्धति इसके साथ लगा दी जाय तो उस दृष्टिसे फिर ९ पदार्थ दृष्टिमें स्वयं न रहकर एक शुद्ध जीवत्वका दर्शन हो जायगा। बिना ९ पदार्थोंको स्वीकार किए जीवत्वकी प्रतीति न हो सकती थी, इस कारण ये ९ पदार्थ कहना योग्य है।

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥१७४॥
तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥१७५॥

नव पदार्थोंसे पृथक् शुद्धकी अनुपलब्धि होनेसे नव पदार्थोंके सर्वथा त्यागकी असिद्धता—मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे जिनको सुध नहीं है वस्तुस्वरूपकी, ऐसे अनेक पुरुषोंने एक कल्पना की कि ये ९ पदार्थ तो कहने ही न चाहियें। ये तो सर्वथा हेय हैं। उपादेय तो केवल एक शुद्ध ही है। यही शंका १४४वें श्लोकमें बतायी गयी थी कि शुद्ध ही एक ग्राह्य है और शुद्धनयका ही अधिकार वस्तुके परिचयमें है तब अशुद्ध कहना योग्य नहीं है, अथवा कह भी दें तो अशुद्ध अशुद्धकी जगह है, उससे यह शुद्ध तो सर्वथा भिन्न है। इस प्रकारकी शंका पहिले रखी गई थी, उस ही को यहाँ दुहरायासा गया है कि कितने ही पुरुष मोहसे ऐसा कहते हैं कि ये ९ पदार्थ न कहना चाहिये। ये तो सर्वथा त्याज्य हैं और ९ पदार्थोंसे यह आत्माका शुद्ध निजरूप भिन्न ही है। इस शंकाके परिहारमें बताया जा रहा है कि ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है, क्योंकि ९ पदार्थोंका सर्वथा त्याग किये जानेकी बात प्रमाणसे असिद्ध है। भला इन ९ पदार्थोंसे भिन्न कहीं शुद्धकी प्राप्ति की जा सकेगी? कहाँ निरखा जायगा? यदि ये ९ पदार्थ अग्राह्य है, कहने योग्य ही नहीं, समझने समझानेके प्रसंगमें भी कहने योग्य नहीं, तब इन ९ पदार्थोंके छोड़ देनेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती। ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। यों भी परख लीजिए कि अशुद्ध नहीं तो शुद्ध भी नहीं कुछ। तो अशुद्धताके मना करनेपर अग्राह्य करार कर देनेपर फिर शुद्धताका भी भान न होगा। तब यह ही निर्णय करना चाहिए कि व्यवहारनयसे ये ९ पदार्थ यथार्थ है, किन्तु निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। दृष्टि ले जाना चाहिये सर्व विशेष उपाधियोंकी कल्पनासे परे जो सहज एक शुद्ध स्वभाव है उसको ग्रहण करना चाहिये। उसका आश्रय करनेसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥१७६॥

नव पदार्थोंके सर्वथा हेय हो जानेदर शुद्धतत्त्वकी वाच्यताका भी अभाव होनेका प्रसङ्ग—इन ९ पदार्थोंको तो हेय बताया गया है और शुद्ध आत्माको उपादेय बताया गया है। इसका निर्णय नय विभागसे कर लेना चाहिये। अशुद्धनयकी दृष्टिमें ही शुद्ध जीवत्व उपादेय है और ९ पदार्थ अनुंपादेय हैं, किन्तु कोई यदि इन ९ पदार्थोंको सर्वथा ही छोड़ दे तो यह तो देखिये कि ९ पदार्थोंको सर्वथा छोड़ दिया जाय तो फिर इनके त्याग करनेका उपदेश भी कैसे किया जा सकता है? सर्वथा अग्राह्य हो गए तो यह भी तो न बोला जा सकेगा कि ये ९ पदार्थ हेय हैं। अरे उपयोगमें आ गए तब ही तो उनको हेय कह सकेंगे और इस ही के साथ यह भी जानना चाहिये कि ९ पदार्थ अग्राह्य अगर है सर्वथा, तो शुद्ध जीव तत्त्व उपादेय है यह भी न कहा जा सकेगा, क्योंकि जब उपयोगमें वह अशुद्ध है ही नहीं तो शुद्ध क्या चीज कहलायेगी? जैसे किसी पुरुषने अंधकार देखा ही नहीं तो वह प्रकाशका अनुभव ही क्या कर सकेगा कि यह प्रकाश है। अंधकारका जिनको परिचय हुआ वे ही तो समझेंगे कि यहाँ प्रकाश है। स्थिर भोगभूमियामें या स्वर्गादिकमें जहाँ अंधकारका नाम नहीं है, प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र बना रहता है वे लोग क्या जानेंगे कि यह प्रकाश है? जो है सो है। काम हो रहा है, व्यवहार चल रहा है। तो जिसने कभी अंधकारमें प्रवेश नहीं किया व प्रकाशका अनुभव क्या करेगा? ऐसे ही अशुद्ध ९ पदार्थ अग्राह्य हैं तो शुद्ध जीवतत्त्व उसके उपयोगमें कैसे आ सकेगा?

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥१७७॥

नवपदार्थोंकी अकिञ्चित्करता व अवाच्यताकी आशङ्कता—यहाँ शंकाकार द्वारा पहिले १४९वें श्लोकमें कही हुई शंकाका विशेषरूप देकर दोहराया जा रहा है। ये ९ पदार्थ अकिञ्चित्कर होनेसे अवाच्य है ऐसी शंका न करना चाहिये। शंकाकारका आशय यह था कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों यदि पदार्थमें है तो वे क्रमसे होंगी। किसी भी प्रकार हो, मगर उसमें उपादेय तो केवल शुद्ध मात्र है। अशुद्धता हेय है, इसी बातको और स्फुट रूप देकर यहाँ आशंका बतायी जा रही है कि वह अशुद्ध हेय है, तब सर्वथा हेय है, अकिञ्चित्कर है, इसलिए उसको तो कहना ही न चाहिये। उसके समाधानमें यहाँ कहते कि ९ पदार्थ अकिञ्चित्कर हैं इसलिए वे कहे ही न जाने चाहियें, यह बात संगत नहीं है, क्योंकि इन ९ पदार्थोंके कहनेका कुछ प्रयोजन है। यद्यपि जो निष्ठित पुरुष है उस शुद्ध तत्त्वके अभ्यासमें निष्णात है और सीधा ही जिसको दृष्ट करते ही निरन्तर शुद्धता जिनके उपयोगमें रहती है, उनके लिए तो वह शुद्धता प्रयोजनवान् है और कहना चाहिए कि ऐसे परम भावमें स्थित पुरुषोंको अभूतार्थनयके विषयभूत ९ पदार्थोंके भेदके वर्णनसे कुछ प्रयोजन नही, सो उनको

अप्रयोजनवान है, किन्तु सर्वथा यह बात घटित न करनी चाहिए कि सबके लिए ही ऐसी बात उपयुक्त होगी। ये ६ पदार्थ कुछ प्रयोजन रखते हैं, इसके परिचयसे कोई सिद्धि होती है, इस कारण ६ पदार्थ अवश्य कहे जाने योग्य हैं।

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥१७८॥

नव पदार्थोंके प्रतिपादनका प्रयोजन—इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि ६ पदार्थो के कहनेका प्रयोजन यह है कि यदि ६ पदार्थोको न माना जाय तो ६ पदार्थोंसे परे शुद्ध जीव का भी कभी अनुभव नहीं हो सकता। ठीक ही है, अशुद्धता स्वीकार किए बिना शुद्ध जीव भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस शुद्धताका साधन है अशुद्धता अर्थात् अशुद्धमें रह रहा है विशेष तो उसका कुछ होता ही है। विशेषको न माना जाय तो वह सामान्य शुद्ध जीवत्व भी नहीं ठहर सकता। इसे यों समझिये कि जैसे कोई पुरुष जीवको तो मानें, पर नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध इन ५ को न मानें, ये ५ असत्य हैं, हैं ही नहीं, ऐसा स्वीकार करने का आग्रह करें तो उनके लिए फिर जीव कहाँ बताया जायगा ? जीव इन ५ से अलग कहाँ मालूम पड़ेगा ? इस कारण ये ५ विशेष है। इन विशेषोंसे अलग रहकर जीव रह नहीं सकता। क्या कोई जीव ऐसा मिलेगा कि जो नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव या सिद्ध किसीमें भी न मिले ? तो ५ से अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, फिर भी ५ की दृष्टि न रखें और केवल उस एक शुद्ध जीवको जानें तो जाना तो जा सकता है। उपयोग द्वारा इन ५ का उल्लंघन करके शुद्ध जीवको जाना जा सकता है, लेकिन ये ५ हैं ही नहीं, ऐसा कोई आग्रह करे तो वहाँ गति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार जीवके ये ६ पदार्थ विशेष बताये गए हैं। ये ६ पदार्थ हैं ही नहीं ऐसा कोई आग्रह करे तो फिर जीवको कहाँ बताया जायगा ? तो प्रयोजन रखता है ६ पदार्थोका कथन, इस कारण ६ पदार्थोका प्रतिपादन करना संयत है। इन्हें अवाच्य न कहा जायगा। दूसरा कोई शुद्ध पर्यायमें जीवको निरखनेकी बात समझना चाहे तो ऐसी शुद्धता भी अशुद्धताके बिना नहीं हो सकती है। इसलिए भी अशुद्धका कथन प्रयोजनवान होता है।

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम्।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योगं निरामयम् ॥१७९॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम्।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥१८०॥

जीवके अशुद्ध व शुद्ध दोनों रूपमें शुद्धकी अशुद्ध नव पदार्थोंसे अर्थान्तरताकी आरेका—अब यहां शंकाकार पूर्वमें १४७वें श्लोकमें कथित शंकाको ही दोहराता हुआ उसका

कोई स्फुट रूप लेकर कह रहा है कि देखिये—शुद्ध और अशुद्ध दोनों एक साथ मान भी लें तो भी वह शुद्ध अशुद्धसे बिल्कुल निराला है। जैसे दो पदार्थ वही पड़े हैं तो सब अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। इसी भांति समझिये कि उस जीवके बारेमें अशुद्धत्व भी पड़ा है और शुद्धत्व भी पड़ा है। इतना भी कोई मान ले तब भी तो यह बात नहीं सिद्ध होती कि अशुद्धता ग्राह्य है। अरे अशुद्धका स्वरूप न्यारा है, शुद्धका स्वरूप न्यारा है और वहां उन ९ पदार्थोंसे भिन्न है वह शुद्ध जीव और वही सम्यक्त्वका विषयभूत होता है और वह है जीवका निजस्वरूप। नित्य उद्योतशील और निरोग निर्दोष ऐसा शुद्ध जीव है, वही सम्यक्त्वका विषयभूत है। उस शुद्ध जीवत्वको जब तक यह प्राणी देख नहीं सकता है, जब तक यह न देखता, न समझता तब तक वह मिथ्या अंधकारसे व्याप्त है, मोही है, मिथ्यादृष्टि है, और जब यह मिथ्या अंधकार दूर हो जाता है तब ही यह जीव उस शुद्ध जीवत्वको देखने लगता है। तो यहां यह समझना चाहिए कि शुद्ध जीवत्व अशुद्धसे भिन्न चीज है। अशुद्धमें रह रहा हो ऐसी बात नहीं है। वह भिन्न वस्तु है, भिन्न स्वरूप है। उस शुद्ध जीवत्वको जो ध्यानमें लाता है उसके सम्यक्त्व होता है, उसके जीवात्माका दर्शन होता है। अब इसके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेर्थतः ॥१८१॥

एक पदार्थमें एक साथ शुद्ध व अशुद्ध दोनों क्रियाओंका अभाव होनेसे अशुद्ध होनेपर भी शुद्धकी अर्थान्तरताकी आरेकाका समाधान—उक्त शंका यद्यपि उसपर बिना विचार किये सुन्दर लग रही है कि अशुद्ध है, शुद्ध है, उसमें शुद्धका स्वरूप जुदा है और शुद्ध अशुद्धसे निराली बात है। उसका जो आलम्बन करेगा उसे सम्यक्त्व होगा। यह बात बहुत भली लग रही है, लेकिन विचार करनेपर यह शंका संगत नहीं बैठती। कारण यह है कि ऐसी शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों परस्पर भिन्न वाले हैं, इसलिए एक स्थानमें दोनों नहीं रह सकते। इस उत्तरसे तो यह जाहिर होता है कि शंकाकारकी शंकाको बल मिल रहा है कि शुद्धता और अशुद्धता दोनों जब एक साथ नहीं रह सकते तो ठीक है। शुद्ध आदेय है, सम्यक्त्वका विषयभूत है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्धता और अशुद्धता भिन्न-भिन्न चीज हो गयी। जीव वही एक है। जब वह अशुद्ध है, अशुद्ध पर्यायमें चल रहा है तब वहां शुद्धता नहीं है और जब वह शुद्ध पर्यायमें चलता है तब वहां अशुद्धता नहीं है। इस तरह जीवमें ये ९ पदार्थ तो रहे। जब जो पदार्थ रहे तब उस ही में उपयोग द्वारा इन विकारोंके बिना निरखनेपर शुद्ध जीवत्वका परिचय किया जाता है। शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों समताके साथ एक साथ रहते हों सो बात नहीं। एक पदार्थमें शुद्ध और अशुद्ध दो क्रियायें नहीं हो सकती। इससे यह बात समझना चाहिए कि पदार्थ वह जीव ९ पदार्थके रूपमें है इसलिए

अशुद्ध है और ऐसे अशुद्ध पदार्थमें ही रहते हुए जीवके जब उन विशेषोंकी दृष्टि नहीं करते हैं तब वहां शुद्ध जीवत्वका बोध होता है। इस कारण यह न मान लेना कि दोनों ही रहते हैं एक साथ और समानताके ढंगसे शुद्ध जीवत्व भी है निराला और अशुद्धता भी निराली है। बात एक है, देखनेके ढंग दो हैं। पदार्थ तो जो है सो ही है और जिस अवस्था रूप है उसीमें है लेकिन देखनेकी पद्धतियां दो हैं। पर्यायप्रधानदृष्टिसे देखेंगे तो ९ पदार्थ विदित होते हैं और शुद्ध द्रव्यार्थिकदृष्टिसे देखेंगे तो वहां शुद्ध जीवत्वका बोध होता है, इसी बातको अगली दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं।

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥१८२॥

ऐकान्तिक शुद्धताके आग्रहमें दोषप्रसङ्ग—यदि जीवको केवल शुद्ध ही माना जाय तब फिर यह बतलाओ कि अशुद्ध क्रिया हो कैसे सकेगी ? जब जीवको शुद्ध मान लिया तो शुद्ध ही है। अब उस शुद्ध जीवमें अशुद्धता कैसे बनेगी ? अर्थात् जो पर्यायसे शुद्ध है, निर्विकार है ऐसे जीवमें विकार आनेका कारण क्या होगा ? और यदि विकार हो सकते हैं, अशुद्धता आ सकती है बिना कारणके, क्योंकि अशुद्धताका कारण तो पूर्व अशुद्धता है। अनादि परम्परासे जीव अशुद्ध है और वही अशुद्धताका कारण है। अशुद्धता उस ही से बनती है। जब जीवको मान लिया शुद्ध तो अशुद्ध बननेका कारण तो कुछ रहा नहीं, और अशुद्ध बनने का कारण न होनेपर भी उसे मान लिया जाय अशुद्ध तो यह अशुद्धता फिर नित्य हो जायगी, क्योंकि जो अहेतुक भाव है वह नित्य रहा करता है। अब अहेतुक बन गया तो अशुद्धता भी सदाकाल रहनी चाहिए और ऐसा माननेपर तो कोई कल्याण नहीं है, न मुक्तिका प्रसंग होगा। जीव सदा अशुद्ध रहेगा। सो जैसे अन्य दार्शनिकोंने माना है कि जीवका वैकुण्ठ यही है कि ये कषायें अत्यन्त हल्की हो जायें। फिर एक महेश्वर है, वह समस्त जगतका अधिकारी है, जब उसकी मर्जी होती है तो वह वैकुण्ठसे उस जीवको ढकेल देता है। उस जीवको फिर जन्म लेना पड़ता है। यों यह जीव धक्के खाता रहेगा, कल्याण मार्ग, धर्ममार्गमें यह जीव ठहर नहीं सकता। तो शुद्धताके आग्रहमें इस प्रकारका दोषप्रसंग आता है।

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक्।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥१८३॥

ऐकान्तिक अशुद्धताके एकान्तमें दोषप्रसङ्ग—अब अशुद्धताके आग्रहमें क्या दोष आता है, उसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है। यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तब फिर बन्धका अभाव कभी हो ही न सकेगा, अर्थात् वह अशुद्धता निकले और वहाँ शुद्धता

आये, यह कभी सम्भव ही न हो सकेगा, क्योंकि जीवमें अशुद्धता मान ली गई अर्थात् जीवका प्राण, जीवका स्वरूप जब अशुद्धता ही है तो वह तो नित्य कहलायेगी, और ऐसी अशुद्धताके नित्य हो जानेपर फिर उस जीवात्माकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है ? फिर कभी मोक्ष का अवसर ही नहीं आ सकता । तो इस तरह जैसे पहिली शंकामें बताया था कि जीवकी शुद्धताका आग्रह करनेपर फिर मुक्ति सम्भव नहीं, क्योंकि वह शुद्धता रही आयी तो अशुद्धता न होगी और अशुद्धता अगर हो जायगी तो वह नित्य बन जायगी । तो वहां भी मुक्ति अस-म्भव थी, और जीवको अशुद्ध ही मान लिया जाय तो यहां भी मुक्ति असम्भव है, क्योंकि अशुद्ध स्वरूप हो गया । कभी बन्धका अभाव हो ही न सकेगा । तो इस स्थितिमें भी जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती है ।

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ।।१८४।।

जब जिस भावसे परिणत हो तब उस भावमय होनेका निर्णय—ऊपर जो ३ श्लोकों में शंकाकारकी शंकाका समाधान दिया है उस विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि आत्मा जिस समय जिस भावसे परिणत होता है उस समय वह आत्मा उस ही भावमय है । उसी भावरूप प्रतीत होता है । उस समय उससे अतिरिक्त कोई उसकी गति नहीं बतायी जा सकती । शुद्धता और अशुद्धता दोनोंका यहाँ वर्णन बताया गया था कि जीवमें शुद्धता और अशु-द्धता एक साथ नहीं होतीं । जब शुद्ध पर्यायमें है तब शुद्ध है, जब अशुद्ध पर्यायमें है तब अशुद्ध है, और जब अशुद्ध भावसे परिणत है तब वह जीव अशुद्ध है और शुद्ध भावसे जब परिणत है तब वह जीव शुद्ध है । तो इस कारण ये विशेष सामान्यसे सर्वथा निराले न कह-लाये कि विशेष तो बिल्कुल जुदा हो और सामान्य बिल्कुल जुदा हो, और यों उनमेंसे शुद्ध को ही ग्रहण करना और अशुद्धको तजना, ऐसी भिन्न-भिन्न बातें दो नहीं हैं, किन्तु वह जीव पदार्थ एक है और जिस भावसे जब परिणमता है तब वह उस भावमें अनन्य हो जाता है ।

तस्माच्छुभः शुभे नैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ।।१८५।।

शुभ, अशुभ व शुद्धभावसे परिणत होनेके समय जीवकी शुभ, अशुभ व शुद्धमयता—उक्त श्लोकमें जो निर्णय दिया गया है उस ही निर्णयका स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि जिस समय आत्मा शुभभावसे परिणमता है तब वह आत्मा शुभ कहलाता है । जैसे शुभभाव है भक्ति, पूजन, दया, दान, मंदकषाय, तो जब इन शुभ परिणामोंसे जीव परिणमता है तो यह ही जीव शुभ कहलाता है और जिस समय यह जीव अशुभभावसे परिणमता है तब यह जीव अशुभ कहलाता है । अशुभ भाव है कषाय करना, विषयोंकी अभिलाषा रखना, मोह

बढ़ाना, रागद्वेष करना, पर्यायबुद्धि रखना आदि। इन सब अशुभ भावोंसे जब यह जीव परिणमता है तो यह जीव अशुभ कहलाता है, और जब शुभ, अशुभ दोनों भावोंसे रहित होकर केवल शुद्ध भावसे परिणमता है, रागद्वेष रहित केवल ज्ञातादृष्टा रहना, ज्ञानका ऐसा विशुद्ध परिणमन जब चलता है तब यह जीव शुद्ध कहलाता है। अर्थ यह निकला कि जिस समय जो जीव जिस भावसे परिणम रहा है उस समय वह उन ही भावोंमें तन्मय है अर्थात् वे विशेष उस सामान्यसे निराले अलग कहीं बसते हों, ऐसी बात नहीं है।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकाराहते परम् ॥१८६॥

नव पदार्थोंसे शुद्ध जीवकी कथंचित् अभिन्नता तथा विकारके अदर्शनमें नव पदार्थोंकी ही शुद्धरूपता—इस कथनका सारांश यह हुआ कि स्वरूप तो अशुद्धका दूसरा कहा जायगा, शुद्धका दूसरा कहा जायगा। इस कारण यह बात भी समझमें आयगी कि वह शुद्ध जीवत्व अशुद्धसे विलक्षण है अर्थात् वह पारिणामिक भावस्वरूप वह शुद्ध चिदात्मक स्वभाव इन ९ पदार्थोंसे विलक्षण है, लेकिन फिर भी उन ९ पदार्थोंसे कथञ्चित् अभिन्न है। उन ९ अवस्थाओंको छोड़कर जीव और किस हालतमें मिलेगा? संसारी रहे, मुक्त रहे, इन दो को छोड़कर तीसरी और कौनसी गति होगी? तो ९ पदार्थोंसे कथञ्चित् यह जीव यों अभिन्न होता है, ऐसी स्थितिमें जीवको सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है। अथवा वहाँ यह भी देखिये कि हैं वे ९ पदार्थ और वे पदार्थ कोई तो विकारके सम्बंधसे हैं, कोई उपाधिके सम्बंधसे हैं, कोई उपाधिके सम्बंधका ख्याल रख रहा है कि था पहिले, इस प्रकारके ख्यालकी वजहसे है। किसी भी प्रकार हो, कोई न कोई उपराग लगा है तब ये ९ पदार्थ कहलाते हैं। इसी कारण ये अशुद्ध कहलाते हैं। अब इन अशुद्ध पदार्थोंमें विकारोंको उपयोगसे हटा लीजिए, उपयोगमें विकारोंको न ले जाइये। जैसे कि यहां कहा जा सकता है कि द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थमें हम पर्यायको गौण कर दें और द्रव्यको मुख्यतासे देखें अथवा उस द्रव्यस्वरूपको गौण कर दें और पर्यायको मुख्यतासे देखें। ऐसा यहां भी किया जा सकता कि इन ९ पदार्थोंको हम गौण कर दें और एक शुद्ध जीवत्वको देखें, यह भी हो सकता है कि उस शुद्ध जीवत्वको गौण कर दें और इन ९ पदार्थोंको देखे तो यहां जब उन ९ पदार्थोंसे न देखा जाय तो उन विकारोंके बिना ये ९ पदार्थ शुद्ध स्वरूप बन जाते हैं, अर्थात् इन ही ९ पदार्थोंको जब भूतार्थ पद्धतिसे देखते हैं तो उपयोगमें यह विशेषता नहीं रह पाती और उस शुद्ध जीवत्वका दर्शन होता है।

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥१८७॥

प्रकृत प्रतिपादनकी "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" से समन्वय—इस कारणसे अर्थात् जब शुद्धता और अशुद्धता ये भूतार्थ और अभूतार्थ पद्धतिसे जाने गए हैं तो तत्त्वार्थ सूत्रमें जो सम्यक्त्वका यह लक्षण कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सो यह युक्त बैठता है। तत्त्व हैं वे ९ जीवादिक, उनका जब वस्तुस्वरूपसे युक्त श्रद्धान किया जाता है तो सम्यग्दर्शन है। तत्त्वसे अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अध्यात्मविधिमें इसका अर्थ यों लगा लीजिए कि भूतार्थ पद्धतिसे इन पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तो इन ९ पदार्थोंके श्रद्धानकी बात सम्यक्त्वमें जो आवश्यक बतायी गयी है वह युक्त है, और अब उन्हीं जीवादिक ९ पदार्थोंका निर्देश क्रमसे बताते हैं और उसमें उस पद्धतिका भी दिग्दर्शन कराते हैं। जिस पद्धतिसे ९ पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन होता है।

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥१८८॥
सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिता ॥१८९॥

भूतार्थाश्रित नव पदार्थोंकी सम्यक्त्वगोचरता—वे ९ पदार्थ ये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। ऐसे इन ९ पदार्थोंका जब भूतार्थपद्धतिसे श्रद्धान किया जाता है तो यह ही सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट विधि हो जाती है। भूतार्थपद्धतिका संक्षिप्त रूप यह है कि मानो जीवमें सम्वर तत्त्व निरखा जा रहा है। तो सम्वर तत्त्वका अर्थ है वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय; जिसके बलपर कर्मोंका आस्रव रुक गया है, विकार सब रुक गए हैं, वह तो जो शुद्धोपयोग रूप पर्याय है, सम्वरभाव है वह सम्वर भाव तो विशेष है और वह विशेष किसका है? वह परिणमन कहाँसे उदित हुआ है? उसका आधार क्या है? इसका उत्तर देते हुए जो एक शुद्ध जीवत्व दृष्टिमें आया पदार्थमात्र तो उस पर्यायको उस पदार्थके अभिमुख करके जो समझनेकी विधि है यह है भूतार्थपद्धति। इस विधिमें विशेष उपयोगसे हट जाता है और एक वह सामान्य उपयोगमें रह जाता है, और इस विधिसे यहाँ सम्यक्त्व प्रकट होता है। तो इस तरह यहाँ ९ ही पदार्थ जब भूतार्थका आश्रय करके जाने जाते हैं तो सम्यक्त्वके विषयभूत बनते हैं। यह तो एक शुद्ध पर्यायके उदाहरणसे भूतार्थ पद्धतिकी बात कही, अब अशुद्ध पर्यायोंमें भी भूतार्थपद्धति देखिये—आस्रव बन्ध हैं, रागादिक विकार हो रहे हैं, पर वहाँ भी यह निर्णय पड़ा है कि ये रागादिक विकार किस भूमिकामें हैं, किस द्रव्यमें हैं, किसका परिणमन है, कहांसे प्रकट है? यह निमित्तसे तो नहीं प्रकट है, यह बाह्य पदार्थसे तो नहीं निकला है। जो इसका स्रोत है उस एक पदार्थको देखो और उस

पर्यायको उस पदार्थके अभिमुख किया तो वह मुख्य बन जायगा वह पदार्थ वह उपादान और यह विशेष बन जाता है गौण, और ऐसी स्थितिमें विशेषत्वका उपयोग दूर हो जाता है और वह सामान्य पदार्थ उपयोगमें रहता है और ऐसी पद्धतिसे शुद्ध जीवत्व जब भानमें आया तो वह सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण हो जाता है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

पंचाध्यायी प्रवचन दशम भाग

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वपरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥१६०॥

नव पदार्थोंमें से प्रथम जीव पदार्थके वर्णनका संकल्प—इससे पहिले ६ पदार्थोंका वर्णन किया गया था—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। और इन ६ पदार्थोंको भूतार्थ पद्धतिसे जाननेपर सम्यग्दर्शन होता, यह भी कहा। अब उन्हींमें से जीवका स्वरूप क्या है और जीवकी क्या विशेषतायें हैं—इस तरह जीवका वर्णन अब किया जा रहा है। यहां ग्रन्थकारकी एक विशेषता इस विशेषणसे जानी जा रही है कि इस ग्रन्थके रचयिता पूर्व और ऊपर प्रकरणके अविरोध पूर्वक कहेंगे और जो शास्त्रसम्मत है, केवल भगवानकी परम्परासे चला आया है ऐसे ठीक सही वस्तुस्वरूपको बतायेंगे। इन सब पदार्थोंमें एक जीव पदार्थ मुख्य पदार्थ है। अब वैसे भी अंदाज करके मान लो सारी दुनिया तो होती और एक जीव न होता और ये सब दिखने वाले पदार्थ बने होते तो जगतकी क्या व्यवस्था होती? अथवा जीव न होता तो ये दिखने वाले पदार्थ भी कुछ न होते, क्योंकि जो चीजें दिख रही हैं, चौकी, भींत, काठ, दरी वगैरह ये सब भी पहिले जीव थे, सजीवकाय थे, याने पृथ्वी जब जमीनमें थी जब वह जीव थी, जब निकला, जब अजीव बना तो उसीका ही तो काय है। यह चौकी वहांसे आयी, इसका ऐसा रूप कैसे बना? तो यह वृक्ष था और वहां जीवके सम्बंधसे ही इसकी अपने कायकी वृद्धि हुई। यह जीव न होता तो यह काठ भी कहांसे होता? और कदाचित् मान लो—और सभी द्रव्य तो होते, जीव न होता तो परिचय करने वाला ही नहीं है कोई तो उसके न होनेपर सब शून्य ही तो रहा। तो इन सब पदार्थोंमें जीव पदार्थ मुख्य है। उस जीवका अब वर्णन करते है।

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥१६१॥

अनस्तत्त्वकी उपलब्धिके लिये प्रथम जीव पदार्थकी सिद्धिकी आवश्यकता—जीवकी सिद्धि पहिले भी कुछ की गई है और अब भी की जा रही है। सबसे बड़ा काम हम आप लोगोको यदि सुख शान्तिके लिए करना योग्य है तो यही है कि हम अपने आपका स्वरूप जान लें। अपना ही स्वरूप न जानेंगे तो बाहरकी कुछ भी जानकारी करें उससे अपना क्या

भला होगा ? यद्यपि वह भी जानकारी हमारे ही पौरुषकी बात है लेकिन खुदकी तो खबर नहीं, तो खुदमें अंधेरा ही रहा। जैसे बैट्रीके प्रकाशसे सामनेकी चीज तो प्रकाशित हो जायगी, मगर बैट्री अंधेरेमें ही है, वह तो प्रकाशित नहीं होती, ऐसे ही यह अज्ञानियोंका ज्ञान ये बाहर की बातें सब जान तो जायगा मगर खुद जो ज्ञायकस्वरूप है तो उसकी बात कुछ समझमें नहीं आती है। तो जिसको अपना जीवस्वरूप परिचयमें नहीं है वह तो निरन्तर आकुलतामें है, क्योंकि उपयोग अपनेसे हटकर बाहर गया तो जैसे मछली पानीसे हटकर जमीनपर आ जाय तो वह तो तड़फेगी, ठीक यही बात समझिये कि हमारा उपयोग मेरे इस ज्ञानसमुद्रसे चिगकर बाहर आ जाय तो यह तो उपयोग विह्वल ही रहेगा, यह जीव दुःखी ही रहेगा। इससे अपने आपके स्वरूपकी जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। तो उस स्वरूपकी प्राप्ति हो जाय, वह हमारी दृष्टिमें आ जाय कि यह मैं हूं ज्ञान और आनन्दका निधान, मुझे चाहिए ज्ञान और आनन्द, सो ज्ञान भी किसी दूसरी चीजसे नहीं आता, आनन्द भी किसी दूसरी चीजसे निकल-कर नहीं आता। मैं स्वयं ज्ञानानन्दमय हूं, और यहींसे इसका विकास चल रहा है। अपना ठीक स्वरूप ध्यानमें आये तो जीवके संकट मिटें। तो उस ही जीवकी प्राप्तिके लिए अब जीव का प्रसिद्ध लक्षण कहा जा रहा है।

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥१९२॥

जीवका स्वरूप चेतना—जीवका स्वरूप चेतना है, सर्व पदार्थोंमें जो न पाया जाय, केवल जीवमें ही पाया जाय ऐसा जो कोई विशेष स्वरूप हो, वही जीवका स्वरूप है। चेतना पुद्गलमें; धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें किसी भी अन्य द्रव्यमें नहीं है। वे द्रव्य सभी जड़ हैं, चेतनाशून्य हैं। चेतना एक इस जीवका ही स्वभाव है, और वह चेतना सामान्य रीतिसे एक प्रकार है, क्योंकि सत्ता भी सामान्यतया एक प्रकार है, जीव है तो जीव असाधारण गुणको लिए हुए ही तो है। कोई भी पदार्थ अपने विशेष स्वरूपको न लिए रहे और सामान्य साधा-रण गुणोंसे ही अपनी प्रतिष्ठा बना ले, यह कभी हो ही नहीं सकता। तो जैसे सामान्यरूपसे सत् एक है लेकिन जब उसका विशेष करते हैं तो चेतना दो प्रकारकी होती है। दो प्रकारकी चेतना कौनसी है ? इसे आगेके श्लोकमें बतायेंगे। तो ऐसी वह चेतना जब चेतनाकी विशेष अवस्थापर दृष्टि देते हैं तब दो भेद हुए और ये दोनों भेद एक साथ किसी जीवमें नहीं होते। ऐसे चेतनाके भेद हैं—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। ये दोनों अवस्थाओंसे सम्बंध रखते हैं। तो जो शुद्ध हो वह अशुद्ध कैसे ? जो अशुद्ध हो वह शुद्ध कैसे ? तो चेतना दो तरहकी है—एक शुद्ध चेतना और एक अशुद्ध चेतना। इसी भेदका विवरण अब कर रहे हैं अथवा किसी स्थितिमें ये दोनों चेतना गौण मुख्यरूपसे भी रहते हैं।

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः ।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ।।१६३।।

विशेषदृष्टिसे शुद्धा व अशुद्धा चेतना—चेतना सामान्य तौरसे एक प्रकारकी है । चेत रहे है सभी जीव, प्रतिभास हो रहा है सब जीवोंका । तो चेतना एक तरहकी है, फिर भी विशेषदृष्टिसे चेतनाके दो भेद है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । चेतनाका अर्थ है जिसमें बुद्धि अभिप्राय, विचार, अनुभव, सम्वेदन आदि हों । चेतनाकी बात तो साधारणतया सभी लोग जानते है । कोई पुरुष यदि कुत्तेको लाठी मारे और वह कुत्ता चिल्लाये, दुःखी हो, तो देखने वाले लोग रोकते है, अरे भाई क्यों मारते हो ? और कोई अगर भीतमें लाठी मारे तो उसे तो कोई नहीं रोकता । सभी लोग जानते है कि इस भीतमें जीव नहीं है, चेतना नहीं है और इस कुत्तेमें है । अब वही चेतना सामान्य कहीं शुद्ध है कहीं अशुद्ध । जैसे भगवान हैं उनकी चेतना शुद्ध है अथवा सम्यग्दृष्टि जीव है तो उसकी चेतना शुद्ध है, और अगर कोई मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है तो उसकी चेतना अशुद्ध है । यों चेतना कहो या जीवका खास प्राण कहो । जैसे अग्निका प्राण क्या है ? गर्मी । गर्मी निकल गयी तो अग्नि खत्म । इसी तरह जीवका प्राण है चेतना । चेतना न माने तो जीवका अस्तित्व ही समाप्त है । तो ऐसे अपने स्वरूपके प्राणभूत चेतना दो प्रकारके है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । शुद्ध चेतना तो आत्माका निजरूप है । जैसे उष्णता अग्निका निजरूप है और कोई अग्निमें गंध लोभान आदिक डाल दे तो उसमें लाल, नीली आदिक ज्वालायें निकलती हैं । तो वे गंध, लोभान आदिक चीजें औपाधिक हो गयीं । वे रंगीन ज्वालायें उठना अग्निका शुद्ध कार्य नहीं है, वह तो गंध, लोभान आदिक चीजोंका काम है । तो वह शुद्ध अग्नि जो अशुद्ध अग्नि बनी है वह अग्नि और लोभान आदिक इन दोनोंके सम्बंधसे बनी है । इसी तरह जीवमें जो अशुद्ध चेतना है वह जीव और कर्म इन दोनोंके सम्पर्कसे बनी है । केवल आत्मामें अशुद्ध चेतनाकी बात नहीं आ सकती और कर्ममें तो चेतना है ही नही, स्वरूप ही नही है । वह अशुद्ध चेतना आयी कहाँसे ? तो न वह केवल आत्मामें है और न केवल कर्ममें है, और है यहाँ अशुद्ध चेतना । अनुभवमें आ रहा है कि जीव दुःखी होते, सुखी होते, अनेक अनुभव रखते । तो यह अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके कारणसे होती है ।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्त्वतः ।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्त्वाज्ज्ञानंत्वाज्ज्ञानचेतना ।।१६४।।

शुद्धा चेतनाकी एकरूपता व ज्ञानचेतनारूपता—शुद्ध चेतना एक ही प्रकारकी है । जीवकी शुद्धता एक ही किस्मसे होती है । जहाँ अनेक किस्म हों उसे शुद्धता कहेगे ही नही । जो शुद्ध हो वह एक ही प्रकारका होता है । तो ज्ञानचेतना एक शुद्ध चेतना है और उसमें

शुद्धताकी ही उपलब्धि है। यों कहो कि वह शुद्धकी उपलब्धि ज्ञानरूप है। शुद्ध चेतनतामें क्या अनुभवा जाता है? अनुभवने वाला ज्ञान ज्ञानको ही अनुभवता है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूं। इस तरह अपने आपका ज्ञानमात्र रूपमें अनुभव करें, प्रतीति करें, उसे कहते हैं ज्ञानचेतना। देखो सभी जन चेतते रहते हैं। कोई अपनेको मानते कि मैं मनुष्य हूं, मैं अमुक परिवारका हूं, ऐसी पोजीशनका हूं आदिक नाना प्रकारकी कल्पनायें रखते हैं और कोई ऐसा मानता हो तो कि मैं शरीर नहीं, मैं मनुष्य नहीं, मैं अमुक पोजीशन वाला नहीं, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूं, तो ऐसी कोई दृष्टि रख नहीं सकता क्या? रख सकता है। तो ऐसी जिसकी दृष्टि बन गई उसकी कहलाती है ज्ञानचेतना।

ज्ञानचेतनाके बिना जीवका संसारपरिभ्रमण—ज्ञानचेतनाके बिना ही यह जगत भटक रहा है। लोग मानते हैं कि यह घर मेरा है, ये बन्धु मेरे हैं, और जब यह कल्पना कर रखी है तो इनका वियोग तो नियमसे होगा ही। जब घर छूट रहा है, मरण हो रहा है तब दुःखी होता है। पापका उदय आ जाय, घर बिक जाय तो यह दुःखी होता है। परिवारमें किसीका वियोग हो रहा हो तो यह दुःखी होता। तो यों समझिये कि जैसे कोई खानेका लोभी पुरुष एक ही दिन खूब डटकर खा लेवे गरिष्ठ पदार्थ तो उसे १०-२० दिन तो खाली मूँगकी दाल रोटी खानी पड़ेगी। पेट खराब हो गया, बीमार हो गए....। और कोई पुरुष अगर रोज-रोज सीधा सादा सात्विक भोजन करता है तो उसको कभी कोई तकलीफ नहीं होती। जिसने एक दिन मौज मान लिया खानेमें उसकी सारी कसर निकल जाती है। समता से रोज ही संतोषपूर्वक खाये तो उसके दिन अच्छे निकलते हैं। यह एक बहुत मोटी बात कह रहे हैं। ऐसी ही बात गृहस्थोंकी है। यदि गृहस्थीके अन्दर मोह राग आदि बढ़ाकर खूब मौज मान लिया तो कुछ समय बाद नियमसे दुःखी होना पड़ेगा। मान लो कई वर्षों तक अपने परिवारका, वैभवका संयोग समझ-समझकर मौज मान रहे हैं तो वियोग होनेपर उससे कई गुना अधिक दुःखी होना पड़ेगा। तो सारी कसर निकल आयगी और कोई गृहस्थ यदि जिन्दगीमें समतासे रहे और जाने कि ठीक है संयोग हुआ है, हो गया है, विपाक कर्म इसी प्रकारका है, उसमें मौज न माने तो साधारणतया वह सुखी अब भी रह रहा है, और वियोग होनेपर भी वह आकुलित न होगा। यह समस्या सभी मनुष्योंके सामने रखी हुई है। चाहे धनी हो, गरीब हो, सभीके सामने यह समस्या है कि सभीका संयोग है, वहाँ मौज मान रहे हैं तो उनका वियोग भी नियम होगा। ऐसा कहीं पक्ष तो नहीं है कि निर्धनोंके वियोग होवे, निर्धनोंके प्राण जायें, धनिकोंके न जायें या उनका वियोग न हो। अरे यह तो सबपर एक समानरूपसे बात गुजर रही है। तो उस समय इसे बहुत विह्वल होना पड़ता है। तो जो पुरुष बाहरमें कुछ अपना स्वरूप चेतते हैं उनको नियमसे आकुलित होना पड़ता है और जो

अपने आपमें अपना स्वरूप चेतते हैं——मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल यही चेतना मेरा स्वरूप है, यही सारा वैभव है। जायेंगे इस शरीरको छोड़कर तो सारे वैभवको साथ ले जायेंगे और यहाँका कुछ भी साथ न जायगा। तो ये अब भी मेरे नहीं हैं। मैं इन सबसे निराला केवल चैतन्य-स्वरूप हूं, ऐसा बोध ज्ञानियोंके रहता है, और वे कभी विह्वल नहीं होते। तो यहाँ चेतनाके दो प्रकारोंमें शुद्ध चेतनाकी विशेषता कही जा रही है कि वह तो एक ही प्रकार है, शुद्ध उपलब्धि रूप है और ज्ञायकस्वरूप है, इसी कारण उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥१६५॥

अशुद्ध चेतनाकी कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके रूपमें द्विविधता—अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी होती है—कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। शुद्ध चेतना एक ही है—ज्ञानचेतना, क्योंकि उसमें कोई विकल्प नहीं है। अशुद्ध चेतनाके ये दो प्रकार हैं—१–कर्मचेतना, २–कर्मफलचेतना। ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है, मिथ्यादृष्टिके न होगी और कर्मचेतना, कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती है, और कदाचित् निचली भूमिकाओंमें गौणरूपसे सम्यग्दृष्टि के भी मानी गई है, पर अभिमुखता और प्रतीतिकी दृष्टिसे उसके भी ज्ञानचेतना ही मुख्य होती है। कर्मचेतनाका अर्थ यह है कि ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य क्रियाओंमें इस तरहका अनुभव करना कि मैं कर रहा हूं, जैसे मैं खा रहा हूं–इस प्रकारकी जहां बुद्धि होती है वह कर्मचेतना है। ज्ञान भी हो, प्रतीति भी हो, श्रद्धा भी इसी तरहकी हो कि मैं ये ये काम कर रहा वह कर्मचेतना है और फिर जो कुछ कर्मफल आते है सुख दुःख तो उनको चेतना सो कर्मफल चेतना है। मैं भोगता हूँ, मैं मौजमें हूं, बडा सुखी हूं, इस तरहका जो अनुभव है वह कर्मफल चेतना है। ये दोनों ही चेतनायें इस जीवको संसारमें भटकाने वाली हैं। बड़े-बड़े पुरुषोंने यही तो बड़प्पनका काम पहिले किया कि कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाका परित्याग करके एक ज्ञानचेतना में ही सन्तुष्ट रहे, तृप्त रहे, लीन रहे, जब कि अज्ञानी जन इन वैभवोंके प्रति इतनी लालसा रखते हैं कि ये और भी आ जायें। अरे जितना वैभव अभी पासमें है उतनेकी ही सम्हाल नहीं कर पाते, उससे कष्ट मानते, मगर चाहते हैं कि और वैभव आ जाय। तो वैभवकी चाह बनी रहनेके कारण लोग दुःखी रहा करते हैं। जब इतना वैभव मान लो बढ़ भी गया तो इच्छायें और भी बढ़ जायेंगी, और भी अनेक प्रकारके विकल्प सामने खड़े हो जायेंगे, जो कि दुःखके ही कारणभूत होंगे। फिर तो सुखसे खा भी न सकेंगे। जो धन पासमें है उसीका ढंगसे उपयोग न कर सकेंगे। अज्ञानी जन तो इन जड़ पदार्थोंको अपनानेमें इनका संचय करनेके लिए निरन्तर चिन्तित रहा करते हैं, और इन बड़े-बड़े पुरुषोंने चक्रवर्ती तीर्थंकरने और भी अनेक महापुरुषोंने इस पायी हुई विभूतिको तृणवत् समझकर त्याग दिया, जिसकी ओर फिर मुड़कर

देखा भी नहीं। जिसमें रंचमात्र भी सार नहीं समझा और तब इस ज्ञानचेतनाके प्रतापसे जो उनकी गुणसमृद्धि हुई है, इतनी अनन्त समृद्धि हुई है। परमात्मा हुए, बड़े-बड़े योगीजन जिनका ध्यान करते हैं, वे सदाके लिए जन्म मरणके संकटसे छूट गए। इससे हम आपका कर्तव्य यह है कि ऐसा ज्ञान पायें कि कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाका त्याग हो और हम अपने इस विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको ही चेतते रहें, इस ही ज्ञानचेतनाके प्रतापसे मुक्ति प्राप्त होगी।

अत्रात्मा ज्ञानशव्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥१९६॥

ज्ञानचेतनाका विषय—शुद्ध चेतनाके सम्बंधमें कह रहे हैं कि शुद्ध चेतनाका दूसरा नाम है ज्ञानचेतना। शुद्धचेतना, ज्ञानचेतना, आत्मचेतना आदि किन्हीं भी शव्दोंसे कहो 'आत्मा' यह ज्ञान शव्दसे कहा गया है। ज्ञान शव्दसे जब आत्माका वाच्य किया तो इसके मायने यह हैं कि आत्माका वाच्य किया तो इसके मायने यह हैं कि जहाँ केवलज्ञान ही चेता जा रहा हो उसे ज्ञानचेतना कहते हैं और वही है एक शुद्ध चेतना। आत्माका चेतन भी ज्ञानके रूपसे बनता है। आत्माके बारेमें चाहे गुण पर्यायोंका पिण्ड हो ऐसा विचारो चाहे यह असंख्यात-प्रदेशी है इस ढंगसे विचारो, चाहे इसमें ये परिणतियां होती हैं ज्ञानमात्र परिणमन है, यह इनका परिणमन है चाहे यह विचारो, चाहे अन्य-अन्य पर्यायों रूपसे विचारो वहां आत्माका अनुभव जागृत नहीं होता। आत्माके परिचयके लिए ये सब बातें बतायी हैं, पर साक्षात् अनुभवका जो माध्यम है वह है ज्ञानमात्र हुआ इस प्रकारका चेतन, और इसको खुद प्रयोग करके परख सकते हैं कि जिस समय हम इसे ज्ञानमात्र रूपमें ग्रहण करते हैं, केवल ज्ञानमात्र जानन ज्योतिस्वरूप और जाननाका जो स्वरूप होता है उस स्वरूप दृष्टिमें लेकर जब हम इसका चिन्तन करते हैं तो वहां निर्विकल्प अनुभूति प्रकट हो जाती है। तो आत्माका चेतन करना, शुद्ध आत्माका चेतन करना सो है ज्ञानचेतना। शुद्ध आत्मा अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मा। उसके साथ न तो कोई विकार वाली बात लगायी जाती हो, न मुक्ति वाली बात लगायी जाती हो और न विशेष भेद वाली बात कही जा रही हो, याने समस्त उपरागोंसे रहित केवल ज्ञानका जो चेतन है उसे कहते हैं ज्ञानचेतना। इसको भेदरूपसे वर्णन किया गया कि मैं ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूँ, यह भेददृष्टिसे वर्णन है, पर इसका जो वाच्य है वह वाच्य ग्रहणमें लिया जाय और करने भोगनेके विकल्पको हटा दिया जाय तो वह विपय ज्ञानचेतना का हो जाता है।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलव्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥१९७॥

ज्ञानचेतनाका स्वरूप—जिस समय आत्माका ज्ञानगुण एक सम्यक् अवस्थाको प्राप्त

होता है याने जिस ज्ञानके साथ विकार नहीं रहते, ज्ञान जिस आधारमें है उस आधारमें भी विकारके विकल्प नहीं होते, ऐसा जब ज्ञान सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है तो वहां आत्मा की उपलब्धि है और ऐसा शुद्ध केवल आत्माकी उपलब्धिरूप जो अवस्था है उस ही का नाम ज्ञानचेतना है। 'मैं ज्ञानमात्र हूं' इस प्रकारका जो चेतन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। करना भोगना क्या ? करने भोगनेकी प्रकृति मनुष्योंमें है और करने भोगनेसे ये बड़े परिचित हुए हैं, तो करने भोगनेके रूपमें ही परिचय करानेका यत्न किया है। परवस्तुमें करना क्या और भोगना क्या ? है और होता है। जब पदार्थ है तो प्रतिक्षण उसकी पर्यायें होती हैं। इसमें करनेकी क्या बात आयी और भोगनेकी क्या बात आयी ? लेकिन यह जीव इसी ज्ञानकी किसी विकलाके बलपर यह करने भोगने जैसी बात समझ रहा था तो उसी समझके द्वारा यहांके करने भोगनेके विकल्पको मेटना है। जब यह कहा जाता कि यह आत्मा ज्ञानको तो करता है और ज्ञानको ही भोगता है, इस तरहसे यहाँ चेतना करता है, पर इसको चेतनेमें यह विकल्प नहीं पड़ा है कि मैं ज्ञानको करता हूं व ज्ञानको भोगता हूं। ज्ञात है, होता है यही उसकी एक चेतना है। तो वहाँ ज्ञान ज्ञानमें रहता है और ज्ञानका जानन बना रहता है, यही ज्ञानका जानन है, इसमें शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है, न भोगता है, न विकार है, न मुक्तिकी चर्चा है। केवल आत्माके सत्त्वके कारण स्वरूपतः जो है वह अनुभवमें है, इसीको कहते हैं ज्ञानचेतना। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावमें किसी प्रकारका चेतन नहीं है। यों प्रतिषेध द्वारा भी ज्ञानचेतनाका स्वरूप जाना जाता है और भेददृष्टिमें यह ज्ञानको ही करता है और ज्ञानको ही भोगता है, और ज्ञानमें ही इस तरहका संचेतन है; इसे कहते हैं ज्ञानचेतना।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टियोंके ही ज्ञानचेतनाका प्रतिपादन—यह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिके ही होती है, मिथ्यादृष्टिके नहीं होती; क्योंकि मिथ्यात्वमें तो हो जाती है विपर्ययबुद्धि। जो नहीं है उसे अपनेरूप मानना। अनर्थमें अर्थकी श्रद्धा करना और अर्थका परिचय ही न रहना, ऐसी जहाँ श्रद्धा हो वहाँ आत्माका भान क्या ? वह ज्ञानमात्र हैं, इसमें विकार और भेदसे भी अतीत अपने स्वरूपसे जैसा सहज सत् है उस रूप इसका परिचय मोहियोंको, पर्यायबुद्धियोंको हो ही नहीं सकता। उनकी ज्ञानचेतना कैसे बनेगी ? तो ज्ञानचेतना इस सम्यग्दृष्टिके ही होती है। ज्ञानचेतनामें चेता क्या गया ? तो ज्ञानका आवरण करने वाला जो कर्म है उसका क्षयोपशम है तब ही ज्ञान चेता गया। तो जहाँ ऐसे शुद्ध ज्ञानको जाननेका जो आवरण करता हो ऐसे कर्मके क्षयोपशमका साथ सम्यक्त्वके साथ है। सम्यक्त्व जहाँ है वहाँ आत्मज्ञानावरणका या ज्ञानज्ञानावरणका क्षयोपशम है, अर्थात् ज्ञानके ज्ञानको ढाकने वाली जो प्रकृति है उसका

क्षयोपशम है, वहां ज्ञानका ज्ञान होता है। कर्मोमें प्रकृतियाँ १४८ ही नहीं हैं, किन्तु असंख्यात हैं। उन असंख्यात प्रकृतियोंको गिनाये कौन ? तो संक्षेप करके १४८ प्रकृतियाँ की गई हैं। जैसे स्थावरनामकर्मका उदय है तो वह स्थावरनामकर्म एक ही तरहका तो नहीं है। पृथ्वीकाय स्थावरनामकर्म, जलकाय स्थावरनामकर्म, ऐसे ये मुख्य ५ भेद हैं और फिर ये ५ भेद ही न समझिये—किन्तु पृथ्वीमें जैसे भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं—कोई भुरभुर है, कोई ढेला है, कोई हीरा है, कोई स्वर्ण है, ऐसी जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी बातें हैं वे सब पृथ्वीकायिक स्थावरनामकर्म हैं। अब कितनी प्रकृतियाँ गिनाई जाती हैं ? बिना परहेतुके विषमतायें नहीं हुआ करती। तो यहाँ पृथ्वीमें, वनस्पतिमें इतनी विषमतायें दिख रही हैं—नीमका पेड़फल दूसरे किस्मका, आमका पेड़फल दूसरे किस्मका, तो इन विषमताओंका कारण क्या है ? तो जैसे शरीररचनाका कारण नामकर्म है, स्थावर रचनाका कारण स्थावरनामकर्म है, ऐसे जो भिन्न-भिन्न प्रकृतियों वाले काय हैं उनका कारण भिन्न-भिन्न प्रकृतिका उदय है, तभी असंख्याते कर्म बन जाते हैं। तो एक घटका ज्ञान न करने देने वाला जो आवरण है वह घटज्ञानावरण है। इस आत्माकी अनुभूतिको न करने देने वाला जो आवरण है वह आत्मानुभूत्यावरण है। जितने किस्मके ज्ञान हो सकते हैं उतने किस्मके आवरण भी हुआ करते हैं। हाँ एक नित्योद्घाट निरावरण जो कि निगोदका जघन्य ज्ञान है वह आवरणरहित है, वहाँ आवरण नहीं होता वहां भी यदि आवरण होता तो स्वरूप मिट जाता। तो यों वहां ज्ञानके ज्ञानावरणका क्षयोपशम है उस स्थितिमें इसका सम्यग्दर्शन है और उस सम्यक्त्वके होनेसे इसकी ज्ञानपरिणतियां चल रही हैं।

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥१६६॥

मिथ्यात्वकर्मोदयसे एकादशाङ्ग ज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके भी आत्मोपलब्धिका अभाव होनेसे ज्ञानचेतनाका अभाव—मिथ्यादर्शनका ऐसा विकट आताप है कि मिथ्यादृष्टि जीवको ११ अंगका भी ज्ञान हो सकता है परन्तु आत्माका शुद्ध अनुभव उसके नहीं है। ११ अङ्गके ज्ञानमें ज्ञातृकथाङ्ग हैं और ११ अङ्ग ९ पूर्व तकका भी ज्ञान मिथ्यादृष्टिके कहा गया है तो उस ९ पूर्वके अन्दर भी आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद ज्ञानका भी बहुत विस्तृत ज्ञान हो गया है और इतने ज्ञान वाले साधु समतासे भी रहते हैं। उनमें रागद्वेषादिक अत्यन्त मन्द हो गए हैं, और इस आत्माके ज्ञानके बलपर याने आत्मद्रव्यके सम्बंधमें जो उनके पूर्व ज्ञानरूपसे ज्ञान बढ़ा है वह इतना विशाल विस्तृत है कि जिसका वह उपदेश करेगा तो यथार्थ ही तो करेगा, उसके अनुरूप ही करेगा और उसी फोर्सके साथ करेगा। तो सुनने वाले तो सम्यक्त्व लाभ ले लें, तिर जायें और यह न तिर सके। इतना ऊँचा ११ अङ्ग और ९ पूर्वोंका ज्ञान भी हो जाता

है तो भी उसे आत्माका शुद्ध अनुभव नहीं हो पाता, जिसके मिथ्यादर्शनका उदय है। जैसे पीछे कहीं कोई वस्तु रखी है उसके आगे भींत है तो वह वस्तु नजर न आयगी। अब भींत तो यह २-२।। फिटकी मोटी है। अगर कोई ४।। फिटकी मोटी भींत उठाये तो क्या वह वस्तु दिखेगी ? नहीं दिखेगी। तब भी आवरण है। और कोई ४।। सूतकी चद्दरको ही आड़े कर दे तब भी वह वस्तु न दिखेगी। अथवा इससे भी काफी पतली चद्दर आड़े आ जाय तो भी वह वस्तु नजर नहीं आती। इसी प्रकार मिथ्यात्वके ऐसे सूक्ष्म अंश भी उदयमें चल रहे हों तो भी वह आवरण ऐसा विकट है कि वहां आत्माका दर्शन नहीं हो पाता। यह घर मकान मेरा है, ये स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, यह देह ही मैं हूं—ये सब मोटी कुश्रद्धायें हैं, पर अन्तः जैसा मैं समझने वाला, जानने वाला, विचारने वाला, जो कुछ मैं करता हूं किसीको अनुकूल प्रतिकूल कषाय जैसा जो आया यह मैं कर रहा हूं, यह ही तो मैं हूं, यह भी कुश्रद्धा है और बड़े तत्त्व की बातें की जा रही हैं और उस तत्त्वज्ञानकी बातके समय जो यह श्रद्धा बनी हो कि जो ऐसा जानने वाला हो, जो इस तरहका एक प्रकाश दे रहा हो या मैं खुद अपने आपमें कुछ प्रकाश पा रहा हूं, जान रहा हूं तो वह जाननहार यह ही तो मैं हूं। यह भी कुश्रद्धामें आ गया। किसी भी पर्यायमें स्वकी श्रद्धा बनी हो, बस वही मिथ्यादर्शन समझिये। अब चाहे वह अपने तत्त्वज्ञान वाली पर्यायकी बात हो, चाहे वह अपने आत्माके चिन्तन रूप ध्यानकी बात हो, आत्मस्वरूपका जहां विचार चल रहा हो, ऐसे विचार वाली पर्याय हो, इस किसी भी पर्यायमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करने वाला जीव सत्य श्रद्धासे परे है। तब अंदाज लगा लीजिए कि ११ अंग तकके ज्ञान करने वाले ऊँचे साधु बड़े तपस्वीके भी मिथ्यादर्शन पाया जा सकता है, यह बात किस तरह सम्भव है ? वह इस तरह संभव है कि किसी भी पर्यायमें स्वकी बुद्धि हो जाय, यह मैं हूं, वहां मिथ्यादर्शन है और पर्याय अतीत उस शुद्ध आत्मद्रव्यका अनुभव हो तो वहां सम्यक्त्व है। तो बड़े-बड़े ज्ञानी ऐसे लोग भी क्या पर्यायसे अतीत उस शुद्ध जीवत्व का वर्णन न करते होंगे ? इतने बड़े अंग पूर्वके ज्ञाता उस शुद्ध जीवत्वकी बात क्या न बताते होंगे ? बताते हैं, बताकर भी इस तरह जो उनका परिणाम है, पर्याय है, उसमें ही स्वरूपसे अनुभव है और शुद्ध आत्मद्रव्यमें स्वीयरूपसे अनुभव नहीं है। यों मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ऐसे-ऐसे श्रुतका संचय करने वाले जीवोंके भी आत्माकी उपलब्धि नहीं है, ज्ञानचेतना नहीं है।

ननुपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृत्तेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ।।२००।।

क्या आत्मज्ञानावरणके क्षयसे ही आत्मप्रत्यक्ष हो सकनेका शंकाकारका प्रश्न—अब यहां शंकाकार कहता है कि आत्माकी उपलब्धि मिथ्यादृष्टिके होती है, यही बात तो बतायी

गई है। तो उपलब्धिका अर्थ तो प्रत्यक्ष है, आत्माकी प्राप्ति उपलब्धि होना अर्थात् आत्माका प्रत्यक्षज्ञान होना यही आत्मउपलब्धिका अर्थ होना चाहिये तो उससे फिर यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि बताओ क्या वहां आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका क्षय हो जाता है ? याने आत्मा की उपलब्धि हुई तो यह उपलब्धि अब तक क्यों नहीं हुई थी कि आत्माकी उपलब्धिपर आवरण करने वाला ज्ञानावरण था। अर्थात् आत्माका ज्ञान न होने दे ऐसा ज्ञानावरणका उदय था, उसका हो जब क्षय तब आत्माका ज्ञान कहला सकेगा। आत्माकी उपलब्धि कहला सकेगी। तो यह बतलाओ कि उस स्थितिमें क्या आत्मीय ज्ञानावरणका क्षय हो गया है ? शंकाकारका यहां यह आशय है कि जब तक आत्मोपलब्धिका आवरण करने वाले कर्मका उदय था तब तक आत्मोपलब्धि नहीं हो रही थी। जैसे घटोपलब्धिका आवरण जब तक है तो घटोपलब्धि नहीं हो रही। यद्यपि यहां यह बात है कि घटज्ञानकी लब्धि तो पड़ी है, उपयोग नहीं है। मान लो जिन जीवोंके घट ज्ञान नहीं हो सकता, इन कीड़ा मकोड़ोंको घट-ज्ञान हो ही नहीं पाता तो यह व्यापक रूपसे ही तो बात की जा रही है। तो घट ज्ञानावरण भी चल रहा है, तो यों ही आत्मीय ज्ञानावरण भी चल रहा था। आत्मज्ञानावरण तो जब आत्माकी उपलब्धि कही जा रही है तो वहां क्या आत्मज्ञानावरणका क्षय हो चुका है ? यहां यह प्रश्न किया गया है। शंकाकारको यह दुविधा है कि आत्मज्ञानावरणका क्षय होने मात्रसे आत्मोपलब्धि हो जाती होगी, ऐसे आशयको रखकर यहां शंका की गई है कि तब तो वहां आत्मज्ञानावरणका क्षय होगा और उस क्षय मात्रसे ही आत्माकी उपलब्धि होती होगी। उसमें फिर दूसरेकी अपेक्षा न रखी जाती होगी। ऐसा भाव रख करके शंकाकारकी यहां सिर्फ यह जिज्ञासा हो रही है कि आत्मोपलब्धि जहां है, क्या उसके आत्मीय ज्ञानावरणका क्षय हो गया है ? अब उस शंकाका समाधान करते हैं—

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥२०१॥

आत्मानुपलब्धिकी आत्मज्ञानावरणोदयापेक्षताकी भांति कर्मान्तरोदयापेक्षता दिखाने वाला उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारका कहना यद्यपि यह ठीक है कि आत्माकी उपलब्धि आत्मज्ञानावरणके क्षयसे होती है और इसके ही समकक्षमें यह कहना भी ठीक है कि आत्मज्ञानावरणके उदयसे आत्मोपलब्धि नहीं होती है, किन्तु साथ ही यह भी समझना चाहिए कि यद्यपि आत्माके प्रत्यक्ष न होनेमें मूल कारण ज्ञानावरण है। उस प्रकृतिके उदयमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। परन्तु साथ ही अन्य कर्मोंका उदय भी उस प्रत्यक्षको रोके हुए है। यह भी उसके साथ समझना चाहिए। यह इतनी ही बात न कहना चाहिए कि आत्मज्ञानावरणके उदयसे आत्मप्रत्यक्ष नहीं है, केवल आत्मज्ञानावरणका उदय है तो आत्मप्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु साथ ही तो मूल बात है कि आत्मज्ञानावरणका

दूसरे कर्मका भी उदय है जो उस आत्मप्रत्यक्षको नहीं होने दे रहा है। एक गुणका घात करनेके लिए अन्य कर्मोंकी भी अपेक्षा होती है, यह बात असिद्ध नहीं है। अर्थात् यहां आत्मज्ञानको रोकनेके लिए आत्मज्ञानावरणका उदय बताया, वह तो मूल कारण है, पर साथ ही अन्य कर्मोंका उदय भी इस आत्मज्ञानके न होने देनेमें सहकारी है, इस बातको खुलासा करते हैं।

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः।
तथा वीर्यान्तिरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥२०२॥

आत्मोपलब्धिके हेतुओंकी पद्धतिके उदाहरणमें मत्यादि ज्ञानकी मत्याद्यावरणोदयक्षत्यपेक्षताके साथ वीर्यान्तरायकर्मोदयक्षत्यपेक्षताका वर्णन—जैसे मनि आदिक ज्ञान मतिज्ञानावरण आदिके उदयके क्षयसे होते है याने मतिज्ञानावरणमें क्षयोपशम मतिज्ञानावरणके स्पर्धकोंका अनुदय ही तो चल रहा है, तो वहाँ मतिज्ञानावरण कर्मका क्षय है। क्षायोपशमिक स्थितिमें जिन स्पर्धकोंका उदय नही हो रहा या उदय होते ही क्षय हो गया तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादिक ज्ञान बन रहे है लेकिन यह न समझना चाहिए कि केवल मतिज्ञानावरणके उदयके हटनेसे ही मतिज्ञान होता हो। वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय भी आवश्यक है। जितनी भी शक्तियाँ है उन शक्तियोंके काम होनेमें वीर्यकी आवश्यकता होती है। वीर्यशक्तिकी विभुता होनेसे सर्वशक्तियाँ अपना काम कर रही हैं। यद्यपि आत्मामें ऐसी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नहीं पड़ी हुई है कि ये शक्तियाँ अपना काम करें, उसमें ये बल प्रदान करें, किन्तु एक उस अखंड द्रव्यमें कोई निर्णय करनेके लिए ऐसी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका परिचय दिया जाता है। आत्मद्रव्यमें एक ऐसी वीर्यशक्ति है कि जिसके प्रतापसे सारे गुण अपना कार्य करते है। उन गुणों का कार्य तो उन गुणोंके अनुरूप है, पर उनमें कार्य करनेकी क्षमता है। ऐसा कोई प्रश्न करे कि क्यों है ? तो उसके उत्तरमे जो कुछ कहना पड़ेगा उसका ही भाव यह है कि इस प्रकार की उसमें वीर्यशक्ति है। तो जैसे मतिज्ञान मतिज्ञानावरणके उदय क्षयसे और वीर्यान्तरायके उदयक्षयसे होता है वहाँ वीर्यान्तरायका उदयक्षय सहकारी है और मतिज्ञानावरणको उदयक्षय मूल है तब मतिज्ञान हुआ, इसी तरह यहाँ जानना चाहिए कि आत्माका जो प्रत्यक्ष होता है अनुभव परिज्ञान इसमे आत्मज्ञानावरण कर्मका उदयक्षय तो मूल कारण है और साथ ही अन्य कर्मोंका भी उदयक्षय उस आत्मप्रत्यक्षमें कारण होता है तो वे अन्य कर्म कौन है जिनका उदय आत्मप्रत्यक्षमें सहकारी होता है, इस बातको अब कह रहे है।

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा ।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

आत्मोपलब्धिमें आत्मोपलब्धिमतिज्ञानावरणानुदय, दर्शनमोहोदयाभाव व वीर्यान्त-

रायानुदयकी हेतुता—यहां प्रकरण यह चल रहा—शंकाकारने यह कहा था कि आत्माका जो प्रत्यक्ष होता है, परिज्ञान होता है उसमें कारण तो आत्मीय ज्ञानावरणका उदयक्षय होगा तो शंकाकारके आशयमें केवल आत्मीय ज्ञानावरणके उदयक्षयमें ही कारणता है, आत्मप्रत्यक्ष होनेमें ऐसा भाव था, तो उसके समाधानमें यह कह रहे हैं कि हाँ यह बात ठीक है कि आत्म-प्रत्यक्ष होनेमें आत्मीय ज्ञानावरणका उदयक्षय कारण है, पर इतना ही आग्रह न रखें, साथमें यह भी बात है कि अन्य प्रकृतियोंका भी उदयक्षय आत्मप्रत्यक्षमें सहकारी कारण होता है। उसीको यहां स्पष्ट किया जा रहा है कि जैसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है मतिज्ञानावरणके उदय-क्षय और वीर्यान्तराय कर्मके उदयक्षयसे अर्थात् वीर्यान्तराय कर्मके अनुदयकी सहकारिता पाकर मतिज्ञानावरणका उदयक्षय मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसी प्रकार आत्मप्रत्यक्ष मूलमें तो आत्मज्ञानावरणके उदयक्षयसे होता, किन्तु साथ ही वीर्यान्तराय कर्मका उदयक्षय और दर्शनमोहनीयकर्मका अनुदय भी सहकारी कारण है। यहां यह बात निर्णयमें दी है कि आत्मप्रत्यक्ष होता है, आत्मा मतिज्ञानावरणके उदयक्षय वीर्यान्तराय कर्मके उदयक्षय और दर्शनमोहनीयके अनुदयसे। आत्मप्रत्यक्ष होनेमें ये तीनों कारण बताये गए हैं और वे तीनों कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं अर्थात् अलग-अलग समयके नहीं हैं कि कभी किसीसे किसी कारण से हो गया, कभी किसीको दूसरे कारणसे हो गया। जिसको भी प्रत्यक्ष होता है उसके प्रत्यक्ष में ये तीनों ही एक साथ कारण हैं। अर्थात् आत्मीय ज्ञानावरणका अनुदय, वीर्यान्तराय कर्म का अनुदय और दर्शनमोहनीयकर्मका अनुदय। सो इन तीनोंमें मुख्य तो आत्मीय ज्ञानावरण का अनुदय उदयक्षय है और यदि ये शेषके दो न हों तो यह नहीं होता अर्थात् जहां सम्यक्त्व आत्मोपलब्धि आत्मप्रत्यक्ष ये हो रहे हों वहां ये तीनों निमित्त होते हैं।

किञ्चोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४॥

उपलब्धि शब्दसे शुद्धोपलब्धिकी वाच्यता—इस श्लोकमें उपलब्धि शब्दके अर्थका आशय बताया गया है। उपलब्धि शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है। अलग-अलग सभी अर्थों पर दृष्टि देकर विचारा जाय तो उपलब्धि शब्दके अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहां जो आत्मो-पलब्धि की बात कही जा रही है, उसका प्रयोजन शुद्धोपलब्धि है अर्थात् शुद्ध आत्माकी उप-लब्धियां। यहां शुद्ध प्रत्यक्षका अर्थ केवल शुद्ध लेना कि ९ पदार्थोंमें गत होकर भी जो केवल अपने सहज स्वरूपमें है, जो मूल है जिसके ये ९ पदार्थोंकी विशेषतायें बनती हैं उस सामान्य जीवको शुद्ध शब्दसे लेना। प्रकरण यह चल रहा है कि उस शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि हो तो आत्मप्रत्यक्ष हो, सम्यग्दर्शन हो। तो इन विशेषोंमें रहने वाला जो सामान्य जीवत्व है, परम-पारिणामिक भावस्वरूप वह जो जीव एकत्व है उस एकत्वकी उपलब्धिको यहां शुद्धोपलब्धि

कहा है। तो यहाँ शुद्धोपलब्धि अशुद्धताको दूर करनेके लिए है। अपना उपयोग ऐसे सामान्य शुद्ध जीवत्व पर रहे और इसकी विशेषताओंपर न रहे तो ऐसी स्थितिमें ऐसे उपयोगके संयम में ऐसे आत्मनियंत्रणमें इस जीवके विकल्प दूर होनेके अवसर मिलते हैं और उन अवसरोंमें इस जीवको सम्यक्त्वकी निष्पत्ति और आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूतिके लिए यही बात उपयोगमें आयगी कि वहाँ किसी भी विशेषका उपयोग न रहेगा, किसी विशेषकी दृष्टि न होगी। केवल उस शुद्ध जीवत्वकी दृष्टि होगी। तो वहाँ आत्मानुभूति होती है और शुद्धोपलब्धि होती है। तो अनेक यत्न करके यही कार्य किया जाना है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्नस्याद्वा कदाचन ॥२०५॥

मिथ्यादृष्टियोंके अशुद्धोपलब्धिका नियम व कदाचित् किसी अंशमें सम्यग्दृष्टिके होनेपर उसकी गौणताका कथन—अशुद्धोपलब्धिके स्वामी कौन हैं, उसका विवरण इस श्लोकमें किया है। अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टिके ही होती है अर्थात् अशुद्धकी ही उपलब्धि है। शुद्ध का परिज्ञान ही नहीं है, जो ये ९ पदार्थ सामने आते हैं यही जिनके लिए सर्वस्व है। ऐसी उपलब्धि मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है। जैसे अनेक चर्चायें लोग करते हैं—जीवकी भी चर्चा करते हैं, जीवस्थानोंकी बड़ी विस्तृत चर्चा करके जीवका बड़ा परिज्ञान करते हैं। ये १४ मार्गणायें है, यह कषायसहित है, यह कषायरहित है, ये गतियोंमें हैं, ये गतिरहित हैं। इस तरह सभी मार्गणाओंके आश्रयसे जीवका विस्तृत वर्णन करते हैं लेकिन यह सब परिज्ञान तो ९ पदार्थोंका है। इन ९ पदार्थोंमें रहते हुए जो एक मूल शुद्ध पारिणामिक भाव है, जीवत्वभाव है उसका तो परिचय नहीं है। उसका परिचय न हो तो यह नाना प्रकारके जीवस्थानोंके आश्रयसे जो जीवोंका ज्ञान किया जा रहा है वह जीवपदार्थका ज्ञान तो कर लिया, पर शुद्धोपलब्धि वहाँ नहीं हुई। तो जो केवल विशेषकी ही उपलब्धि रखते हैं वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। उनको मूल तत्त्वका परिचय नहीं हुआ है। बता रहे हैं कि अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियों के ही होती है, और इतना ही नहीं, यह तो निर्णय है ही, पर यह भी जानना चाहिए कि अशुद्धोपलब्धि सम्यग्दृष्टियोंके तो नहीं है, मगर कदाचित् सम्यग्दृष्टियोंके भी होती है, तो वह गौण रूपसे कहा गया है।

विशेषरूपमें स्वत्वकी प्रतीति न होते हुए भी उपयोगमें विशेषकी उपलब्धि संभव होनेसे प्रमत्तभूमिकामें सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धिकी संभवता व उसकी गौणता—उपयोगकी बात यहां कही जा रही है। उपयोग कभी शुद्धको ग्रहण करता, कभी विशेषको ग्रहण करता। तो सम्यग्दृष्टि भी नीचली भूमिकामें क्या उन ९ पदार्थोंका परिज्ञान नहीं करते, क्या उन ९ पदार्थोंका परिज्ञान नही करते, क्या उन ९ पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं करते ? लेकिन उनकी

प्रतीति उस शुद्ध जीवत्वकी है, इस कारण यह परिज्ञान यह उपलब्धि वहाँ गौण रही। मुख्य और गौण किसे कहते हैं? यह तो सबकी अपनी-अपनी आन्तरिक रुचि बता देगी कि मुख्य कहते किसे हैं और गौण कहते किसे हैं? जैसे बहुतसे कार्य करनेको आज पड़े हों तो उनमें रुचि यह साबित कर देती है कि मुख्य कार्य तो यह है व गौण कार्य यह है। जैसे सभी कार्य बिगड़ रहे हों तो मेरी दृष्टि किसको सुधारनेके लिए जाती है, जिसको मैंने मुख्य समझा हो। तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी कदाचित् अशुद्धोपलब्धि चल रही हो तो वह गौणरूपसे है, मुख्यतया नहीं है, क्योंकि यहां तक आत्मानुभव हो चुकनेसे एक ऐसा प्रकाश मिला हुआ है कि उसकी रुचि उस शुद्ध जीवत्वकी ओर ही रहती है। कारण पाकर भले ही विशेष पदार्थकी उपलब्धि हो और कुछ क्रिया भी हो तो भी उसकी मुख्यता शुद्ध उपलब्धिकी है, ज्ञान-चेतनाकी मुख्यता है। इस प्रकरणसे यह भी जान लेना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके मुख्यतया ज्ञानचेतना है और कदाचित् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना भी होती है, और जब जिस आशयको लेकर इन चेतनाओंके स्वामित्वकी बात कही हो तबके आशयके अनुसार उसका उत्तर होता है। जहाँ प्रतीति, श्रद्धा, रुचिकी मुख्यता लेकर कहा जाय तो यह निर्णय होता है कि सम्य-ग्दृष्टिके ज्ञानचेतना ही है, कर्मचेतना कर्मफलचेतना नही है, और जब उपयोगकी मुख्यतासे निर्णय बताया जाय तो यह कहा जायगा कि सम्यग्दृष्टिके मुख्यतया ज्ञानचेतना है और कदा-चित् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना भी होती है, मगर गौणरूपसे है। तो ऐसे ही भावोंको दर्शाते हुए यहाँ कहा जा रहा है कि अशुद्धोपलब्धि मिथ्यादृष्टियोंके है और सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है। यह बात प्रतीति रुचि श्रद्धाके अनुसार है और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उपरितन भूमिकामें पहुंचे हुए हैं उनके लिए एक नियमतः यह बात है, लेकिन कुछ नीचली भूमिकामें सम्यग्दृष्टियोंके कदाचित् अशुद्धोपलब्धि हो तो वह गौण रूपसे होता है, मुख्यरूपसे नहीं कहा गया है।

सिद्धान्तमें ज्ञानचेतना, कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका विवक्षावश विविध वर्णन—सिद्धान्तमें कही यह भी वर्णन आता है कि ज्ञानचेतना तो प्रभुके ही होती है, अर्थात् जहाँ घातिया कर्मोका क्षय हो चुका है ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवानके ज्ञानचेतना है, तो यह कथन भी एक करणानुयोग जैसे पूर्ण तथ्यकी दृष्टिसे कही हुई बात है कि जहाँ कर्मपरिणमन कुछ न रहे, कर्मफल भी जरा न रहे वहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नही है। जहाँ किसी प्रकारके मन, वचन, कायकी क्रिया अथवा किसी प्रकारके कर्म चल रहे हैं वहाँ कर्मचेतना है और सुखदुःखादिक परिणमन भी चल रहा हो वहाँ कर्मफलचेतना है, और भी विशुद्ध दृष्टिसे देखें तो शुद्ध वह ज्ञानचेतना है, और जब इस ही को केवल एक अध्यात्मदृष्टिसे, वस्तुत्व दृष्टिसे निरखा जाता है तो चूंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए सभी आत्माओंके ज्ञानचेतना है, और चूँकि ज्ञानका कुछ न कुछ परिणमन होता ही है प्रत्येक जीवमें, इस कारण प्रत्येक

मारूँ अथवा यह मेरा मित्र है, मैं इसको न मारूँ—इस प्रकारका जो भाव रखता है वह भाव भी मिथ्या अध्यवसाय है, अशुद्धोपलब्धि है। जब जीव जिस भावरूप होता है उस समयमें वह जीव उस भावमय हो जाया करता है। तो इस तरह जब इस आशयमें आये यह जीव तो उस समय तो इस भावमय ही हुआ और इस भावमय होनेपर वह अपनेको ऐसा ही अनुभव कर रहा और यह बात है अशुद्ध तो अशुद्ध निजकी उपलब्धिसे यह अशुद्धोपलब्धि कहलाती है। मिथ्या अध्यवसाय भी है यह। जो कुछ इस अशुद्धोपलब्धिमें परिणाम हो, क्योंकि कोई किसीको मारने वाला नहीं है, आयुका क्षय हो रहा है तो उसकी मृत्यु होती है और आयुका क्षय नहीं है तो उसकी मृत्यु नहीं होती है। कोई पुरुष यदि शस्त्रघात भी किसीपर कर दे और कोई कहे कि लो अब तो हमने इसकी आयुका क्षय कर दिया है तो हुआ ना मरण मेरे द्वारा? ऐसी स्थितिमें भी उसका शस्त्रघातसे मरण नहीं हुआ, शस्त्रघातसे आयु क्षय नहीं हुआ, किन्तु आयुकर्मके निषेकोंमें ऐसा परिवर्तन हुआ, उसके लिए निमित्त यह शस्त्रघात है तो निमित्तमें परम्परा और साक्षात्की बात समझनेसे इसका ठीक मर्म ज्ञानमें आता है। साक्षात् निमित्त क्या हुआ भवके छूटनेमें, मरणके होनेमें? इस आयुका क्षय। निषेक पूरे हुए इसमें निमित्त क्या रहा? उसका जो शारीरिक प्राण हैं, दश प्राणोंमें श्वासोच्छ्वास अथवा कायबल इन्द्रियप्राण या अङ्गोंमें जो मर्म वाले अङ्ग हैं जिनका घात होनेसे शरीरमें इस प्रकार की स्थिति होती है कि वहाँ आयुकर्मके निषेक जल्दी खिर जायें तो वह निमित्त हुआ। उसमें निमित्त हुआ यह मनुष्य। तो कितनी परम्परायें लगी हुई हैं, जिनका एकदम इस तरहका मिथ्या आशय हुआ है कि यह मैं मारता हूं अथवा यह मैं दयावान हूं। किसीकी आयुका क्षय आया तो मरण हो जाता है और आयुका उदय है तब तक मरता भी नहीं है। तो स्थिति तो ऐसी है लेकिन ये मिथ्यादृष्टि जन इस प्रकारका परिणाम करते हैं कि मैं मारता हूं। तो यह सब अशुद्धोपलब्धि है।

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥२०८॥

उपलब्धिकी संवेदनता व स्मृतिव्यतिरिक्तता—यह जो समझदार हैं, स्वयंकी दृष्टिके निरीक्षक हैं वे पुरुष यह जान सकते हैं कि इस तरहकी जो आत्मीय स्वापेक्ष उपलब्धि हुई है वह अनुभूति है, स्मरण नहीं है। कोई ऐसी शंका कर बैठे यदि यहाँ कि सुख दुःख होते हैं तो यह तो एक स्मरणज्ञान है, तो यह शंका ठीक नहीं है स्मरणसे बिल्कुल विलक्षण है यह उपलब्धि। जैसे पहिले समयमें सुख भोगा, दुःख भोगा, उसका स्मरण हुआ तो उस स्मरणमें और यहाँ जो भोजन किया जा रहा है, स्वाद आ रहा है उसमें जो उपलब्धि बन रही है, क्या इनमें अन्तर नहीं है? इनमें बहुत अन्तर है। तो इस उपलब्धिको स्मृतिज्ञान नहीं कह-

सकते। यह स्मृतिज्ञानसे विलक्षण है, ऐसी इस उपाधिको स्मृतिसे भिन्न ही समझना चाहिए, और देखिये—स्मरणमें तो स्मरणके विषयकी ओर यदि अनुभूति जग रही हो तो वहाँ उस किस्मकी अनुभूति होगी। वहाँ भी वह उपलब्धि स्मरणसे जुदी है। कभी ऐसा होता कि पूर्व भोगोंका स्मरण किया और उसका इस तरहका ख्याल किया कि उसका कुछ चित्तमें स्वाद भी लेते गए तो वहां जो जो स्वाद लिया वह भिन्न प्रकारकी है उस स्मरणके बीच भी, वहाँ भी दो प्रकारकी है। अब वह स्मरणज्ञान न रहा, स्मरणज्ञानके भीतर भी यदि वह स्वाद-सम्वेदन करता है तो वह स्मरण ज्ञान नहीं है किन्तु वह उपलब्धि है। तो उपलब्धि और स्मरणमें इतनी विलक्षणता है, फिर जो वर्तमानमें उपलब्धि की जा रही है, सुख दुःखके वेदन किए जा रहे हैं उसको तो यह भी नहीं कह सकते कि यह स्मरणसे हुआ है किसका स्मरण कर रहे हैं ? वही भोजन आज करता है कोई तो वह कलके भोजनका स्मरण तक भी नहीं रखता। उसीको खाता है, उसीमें सुख मानता है। तो यह उपलब्धि स्मृतिज्ञानसे विलक्षण चीज है।

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥२०६॥

अन्यादेशके संस्कारके बिना उपलब्धिका सुप्रतीत संवेदन—आत्मामें जो भी सुख दुःख की उपलब्धि होती है वह असिद्ध नही है। असिद्धकी बात क्या कहें, सब जीवोंको यह स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष जिसे हो रहा है, अपने आपका सम्वेदन हो रहा, स्वका सम्वेदन नहीं, किन्तु एक अपने आपके अनुभवमें आ रहा है कि हां मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं। तो ये सुख दुःखकी उपलब्धि स्वयं लोगोंको विदित हैं, क्योंकि वहां स्वाद स्वसम्वेदनका हो रहा है। जो कुछ समझ रहा है उसका सम्वेदन हो रहा है और ऐसी उपलब्धि किसी अन्यके कहनेसे, समझानेसे या किसी अन्यकी प्रेरणासे होने वाले संस्कारके बिना हो रही है। जब कोई भोजन कर रहा और उसे मिष्ट स्वाद आ रहा है तो कोई समझा रहा है क्या कि देखो तुम इसे मिष्ट जैसा अनुभव करो या किसीने कभी समझाया हो, उसका संस्कार लगा हो, उससे यह अनुभव कर रहा है क्या ? यह तो एक भागका अनुभव है और वहां उस प्रकारकी उपलब्धि हो रही है। इसी तरहसे जो शुद्धोपलब्धि होती है, उसमें स्वयं सम्वेदन हो रहा है, वहां किसीके कहने सुननेके संस्कारके बिना ही हो रहा है, और उसको अपने आपका उस शुद्धताका दर्शन है, इस कारणसे उसे स्वयं उपलब्धि हो रही है। तो उपलब्धि यह किसीके बहकानेसे समझानेसे या अन्यके कथनके संस्कारसे नहीं होती, किन्तु प्रथम वृत्तिके कारण उसको यह उपलब्धि होती है। तो यों उपलब्धि असिद्ध नहीं है।

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥२१०॥

केवलज्ञानमें व अभिज्ञानमें ज्ञानमात्रता होनेके कारण संवेदनका अभाव होनेसे उपलब्धिकी अनतिव्याप्तता—उपलब्धि असिद्ध नहीं है, उसमें भली प्रकार सम्वेदन हो रहा है। ये सब उपलब्धिके स्वरूपके आख्यान चल रहे हैं। इस प्रसंगमें कोई ऐसी शंका न करे कि ऐसी उपलब्धि तो हर एक ज्ञानमें हो सकती है और केवली भगवानके ज्ञानमें भी हो सकती है। तो उपलब्धिका जो स्वरूप बांधा है उस स्वरूपमें अतिव्याप्तिका दोष आता है ऐसी शंका यहां नहीं की जा सकती, किन्तु यह है कि अभिज्ञानमें और केवलीके ज्ञानमें इन दोनोंमें इस उपलब्धिसे विलक्षणता है। उपलब्धिकी बात बीतती है, वह न अभिज्ञानमें है, न केवलीके ज्ञानमें। अभिज्ञानका अर्थ है यह—जैसे आप दुःखी हो रहे या आपको कोई पीड़ा हो रही या विकार आदिक अन्य कुछ बात हो उसका हम ज्ञान कर रहे हैं इसे कहते हैं अभिज्ञान। दूसरे जीवोंकी किसी भी उपलब्धिविषयक हम ज्ञान कर रहे हैं यह तो है अभिज्ञान। इस अभिज्ञान में वह उपलब्धि नहीं है। जैसे किसीको बुखार आ गया हो, मान लो १०२ डिग्री बुखार है, तो जिसको बुखार चढ़ा है उसको यह ज्ञानमें नहीं है कि हमारे कितना बुखार चढ़ा है? उससे भी बढ़िया ढंगसे उस बुखारका ज्ञान वैद्यको हो रहा है जिसने नाड़ी देखकर बुखारका स्पष्ट ज्ञान कर लिया है, इतना होनेपर भी उस वैद्यने उस व्यक्तिके दुःख, सुख, क्लेश, आकुलता आदिकी उपलब्धि तो नहीं की। तो इस उपलब्धिकी अतिव्याप्ति अभिज्ञानमें नहीं लादी जा सकती। इसी तरह केवली भगवानके ज्ञानमें भी नहीं लादी जा सकती। कोई कहे कि हमारे दुःखमें संसारी जीव दुःखी हो रहे हैं और उसका ज्ञान किया केवली भगवानने तो इन सबके दुःखोंकी उपलब्धि केवलीके न हो जायगी, क्योंकि जान ही लिया। तो उपलब्धि और ज्ञानमें क्या अन्तर है? उपलब्धि और ज्ञानमें यह अन्तर है कि उपलब्धिमें क्रमपूर्वक ज्ञान है और केवली भगवानके ज्ञानमें अनन्त जीवोंका परिणाम पर्याय ज्ञानमें आ रहा है तिसपर भी वहां उपलब्धि नहीं है। केवल ज्ञानमात्र है। वहां सम्वेदन नही हो रहा है। यहां सम्वेदनका अर्थ करना अनुभवन, वेदन और ज्ञानमात्रका अर्थ करना केवल जानना। तो अभिज्ञानमें भी केवल जानना होता है और केवलीके ज्ञानमें भी केवल जानना बन रहा है। जो विषय पड़ा है उस विषयमें जो बात गुजर रही है उसकी उपलब्धि नहीं है, इस कारण उपलब्धिके विषय में जो कुछ कहा गया है उसमें अतिव्याप्ति नहीं आता है।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥२११॥

उपलब्धिकी अनतिव्याप्तताका हेतु—उपलब्धिमें अतिव्याप्ति नहीं है, इसका कारण बता

रहे हैं। कारण इसका यह है कि व्याप्यव्यापक भाव जो हुआ करते हैं वे उस ही में हुआ करते हैं। जो अतदात्मक है उसमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं होता। यहां सुख दुःखकी उपलब्धि की बात चल रही है। तो सुख दुःख ये तो हुए व्याप्य और सुख दुःख जिस जीवमें हुए वे कहलायेंगे व्यापक। तो व्याप्यव्यापक भाव उस ही में तो होगा जो तदात्मक हो, जो सुख दुःखमय हो रहा हो। सुखदुःखमय कौन हो रहा ? जो सुख दुःखरूप विकारसे परिणम रहा वह ही तो सुख है, दुःख है। तो सुखकी उपलब्धि उस सुखके साथ है, दुःखकी उपलब्धि उस दुःखमें है, तो इसका व्याप्यव्यापक भाव उस ही में होगा, अतदात्ममें न हो, यह बात सर्वत्र घटा लो। प्रत्येक पदार्थमें व्याप्यव्यापकता स्वतः होती है, परसे नहीं। तो वहाँ जो सुख दुःख हुए हैं वे उस ही में व्याप रहे हैं मुझमें नहीं और उनका विषय बनाकर जो ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान मुझमें व्याप रहा, उस ज्ञानमें सुख और दुःखकी परिणति नहीं पड़ी है। तो कैसे कहा जाय कि सुख दुःखकी उपलब्धि अभिज्ञानमें भी हो जाय या केवलज्ञानमें भी हो जाय। इस तरह जब व्याप्यव्यापक भाव सुख दुःखका उस सुख दुःखरूप परिणमे हुए जीवमें ही है तो उपलब्धि, ऐसी अशुद्धोपलब्धि उस ही जीवमें होगी। उसके ज्ञाता पुरुषमें अशुद्धोपलब्धि नहीं हो सकती है।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥२१२॥

अशुद्धोपलब्धिकी बन्धफलता—उक्त प्रसंगमें जैसे अशुद्धोपलब्धिका वर्णन किया गया है व अशुद्धोपलब्धि पर परिणाम क्रिया वाली है, पर उसमें क्रियारूप परिणाम बना हुआ है याने वह उपलब्धि कर्मके उदयसे होने वाली है और इसी कारण इसको बंधफलसे कहा गया है अर्थात् अशुद्धोपलब्धिका फल है कर्मबन्ध होना। अशुद्धोपलब्धिका अर्थ है अशुद्धकी उपलब्धि करना। प्रतीतिसे और उपयोगसे अशुद्धकी उपलब्धि होना यह तो होता मिथ्यादृष्टिके ही, पर प्रतीतिसे शुद्ध उपलब्धि न हो और नीचली भूमिकामें विकारसे अशुद्धकी उपलब्धि हो जाय, यह नीचली भूमिकामें सम्यग्दृष्टिके भी हो सकता है लेकिन सम्यग्दृष्टिके इसकी गौणता है, क्योंकि वह भीतर और ही प्रतीति बनाये हुए है। तो जैसे कोई पुरुष किसी मुख्य काममें लगा हो और उसे कोई काम विवशताका दे दिया जाय तो उसके लिए वह काम गौण रहता है और मुख्यता उसकी रहती है जिसमें रुचि हो। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके अशुद्धोपलब्धि गौण रूप है और शुद्धोपलब्धि मुख्यरूप है, किन्तु कषायोंका विजय होनेपर उस अशुद्धोपलब्धिसे उपयोगतः भी दूर हो जाता है। यहाँ यह बतला रहे हैं कि सुखदुःखादिककी जो उपाधि है उन्हीं को अशुद्धोपलब्धि कहा गया है, अथवा मैं मारता हूं, मैं दया करता हूं, इस प्रकारकी क्रिया रूपसे जो अपना विश्वासरूप परिणाम है वह अशुद्धोपलब्धि है, ऐसी अशुद्धोपलब्धि कर्मबन्ध का कारण कही गई है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥२१३॥

अशुद्धोपलब्धिकी कर्मचेतनारूपता व कर्मफलचेतनारूपता—यह अशुद्धोपलब्धि ज्ञानाभास रूप है और चेतनामें जो पाया जा रहा है इस कारणसे बताया तो जायगा आत्मामें ही, लेकिन ज्ञानाभास होनेसे वह ज्ञानचेतना नहीं कहलाती किन्तु कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कहलाती है । ज्ञानचेतनामें तो ज्ञानका, आत्मगुणका, आत्मकार्यका अनुभव होता है, किन्तु ज्ञानरूपसे अपना अनुभव नहीं होता, किन्तु मैं करने वाला हूं, मैं सुख दुःख भोगने वाला हूं, इस रूपसे अनुभव हो तो उसे कहते हैं कर्मचेतना, कर्मफलचेतना । मैं मात्र ज्ञाता हूं, जाननहार हूं । जो कुछ हो रहा है बाहरमें, जैसे मैं इसका जाननहार हूँ, इसकी कुछ परिणतिका करने वाला तो नहीं । इस प्रकार मेरेमें जो राग विकार परिणमन होते हों, उनका भी मैं करने वाला नहीं, किन्तु मैं जानने वाला हूं । परिणम गया यह जीव लेकिन इस आत्माने उस प्रकारका कार्य नहीं किया । परिणमन हुआ, फिर भी आत्माने यह काय नहीं किया ।

इसका अर्थ यह है कि आत्मा स्वतंत्रतया परके आश्रय बिना स्वयं जो कुछ कर सकता है, जिस रूप परिणम सकता है वह तो है आत्माका कार्य शुद्ध (प्योर) कार्य, केवल आत्माके आश्रयसे होने वाला कार्य, और जिसमें परके आश्रयकी अपेक्षा है, पर निमित्त है ऐसे निमित्त और आश्रयसे उत्पन्न होने वाला जो परिणमन है वह मेरा कार्य न कहा जायगा । दृष्टिभेदसे कार्य कह भी सकते हैं । चूंकि आत्मा ही वह परिणमा लेकिन यहां तो कार्य उसे कहा जा रहा है जो परके आश्रय बिना स्वतंत्रतासे होता हो, तो ऐसा रागविकार नहीं है । वह कर्मका निमित्त पाकर आश्रयभूत कारण पाकर अपनी व्यक्ति करता है, इस कारणसे वह आत्माका कार्य नहीं है, अथवा उसमें ज्ञाता आत्मा इस प्रकारसे अनुभव नहीं करता कि इसका मैं करने वाला हूं और इसका मैं भोगने वाला हूं । देखिये—यह एक परम औषधि है । अपने आपका प्रधानतया ऐसा भाव बने कि मैं तो इसका कारण भी नहीं और यह मैं उसके भोगने वाला भी नहीं । देखिये कितनी वेदनायें दूर हो जाती हैं । रागादिक विकार हुए तो जान लिया कि ऐसे अशुद्ध पर्यायमें कर्मका ऐसा निमित्त होनेपर यह बात बन जाया करती है, इसको करनेके लिए मैं स्ववश नहीं हूं । इसी प्रकार जो सुख दुःख रूप परिणमन होता है वह भी तो राग विकारकी तरह ही विकार है । तो ये सुख दुःख परिणमन भी अशुद्ध पर्यायकी योग्यतामें कर्मोदयका निमित्त पाकर हो जाते हैं, इनसे भी मैं स्ववश नहीं हूं, मैं इनका भोगने वाला नहीं हूं, किन्तु मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपको भोगने वाला हूं । इस तरहकी रुचि वाले सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना होती है । यह मिथ्यादृष्टियोंको कहां है ? ज्ञानचेतनामें आत्मीय गुणका अनुभव होता है । ज्ञाताद्रष्टा रहना, यह है आत्मीय गुण, कला करामात रागादिक विकार होना, भ्रम होना, भूल होना यह आत्माकी कला नहीं,

आत्माका गुण नहीं, किन्तु यह संगदोष है । तो ज्ञानचेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है इस कारण वह बंधका कारण नहीं है, उसको शुद्धोपलब्धि कहा है और अशुद्धोपलब्धिमें क्या होता है ? मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ, मैं अमुक कार्यका करनहार हूं । मैं दूसरेको मारूँ, जिलाऊँ आदि, इस प्रकारकी अपने आपकी जो उपलब्धि है, वहां कर्मजन्य उपाधियोंमें तन्मयता है । उपाधि नाम कर्मका भी है और आत्माके विकारभावका भी है, और उपाधि तो असलमें यह ही विकारभाव है । तो इन उपाधियोंमें उसकी तन्मयता रहती है । हां मैं ही तो करन-हार हूं याने क्रियापरिणाममें बना रहे ऐसेके अतिरिक्त और मैं कुछ हो ही नहीं सकता । इसके अतिरिक्त कुछ मैं होऊँ तो मैं असत् हूं, मेरी कोई सत्ता नहीं । मेरा सत्त्व तो इसी तरह है, मेरा प्राण जीवन तो इसी तरह है कि मैं ऐसा कार्य करूँ, सुख भोगूँ, दुःख भोगूं, इस ही क्रियामें रहता हुआ वह अपनेको सर्वस्व मानता है । तो यह उपाधियोंमें ही तो तन्मयता हुई और इस स्थितिमें उस ही का स्वादरूप सम्वेदन है, कषायोंरूप अपनेको माननेमें क्या स्वाद आता है ? कोई झूठी आकुलता, संक्लेश, संताप यही स्वाद आता रहता है । तो यह स्वाद-सम्वेदन अशुद्धोपलब्धिमें है । तो यहाँ यह बताया जा रहा है कि जहां क्रिया परिणाम बन रहा है या फलभोगका परिणाम बन रहा है वह ज्ञानचेतना नहीं, किन्तु कर्मचेतना और कर्म-फलचेतना है ।

कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका स्वामी और फल—इन चेतनाओंका मुख्यता और गौणताकी दृष्टिसे निर्णय करें तो कर्मचेतना होगी त्रस जीवमें और कर्मफलचेतना है स्थावर जीवोंमें मुख्यरूपसे अर्थात् त्रस जीवोंमें कर्मचेतना, कर्मफलचेतना दोनों ही हैं और स्थावर जीवोंमें सिर्फ कर्मफल चेतना है और स्थावरोंमें भी कर्मचेतना, कर्मफलचेतना है और त्रसमें भी कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है । जहां जैसी दृष्टि लगाइयेगा उस प्रकारका वहां इसका निर्णय बनता है । स्थावर जीवोंमें कर्मचेतना नहीं है । ऐसा बनानेका कारण यह है कि वे स्थावर त्रस जीवोंकी भांति अङ्गोपाङ्ग न होनेके कारण किसी प्रकारकी क्रिया नहीं कर सकते हैं । यदि जल ढुलक रहा है, वायु चल रही है तो यह समझिये कि एक जैसे अचेतन पदार्थको ठोकर लगे या नीचे गिराये तो वह भी गिर जाता है । कोई जानबूझकर चलनेकी क्रिया की हो ऐसा नहीं है । तो बुद्धिपूर्वक जान समझकर उस योग्यताके न होनेसे ये क्रियाको नहीं कर पाते हैं स्थावर, इस कारण उनके कर्मफलचेतना कही ग[illegible] । [illegible]नों ही अशुद्धोपलब्धि हैं और कर्मबन्धकी मुख्यता रखते हैं । अशुद्धकी उपल[illegible]

हितमार्गकी स्पष्ट झांकी—मार्ग कितना [illegible] [illegible]वरूपसे अति-रिक्त किन्हीं भावमय मान लें [illegible] कर्म बँधते [illegible] [illegible]विक्त केव[illegible]

अपने ही सत्त्वके कारण जो अपना सहज स्वरूप है ऐसा शुद्ध चिन्मात्र, ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति रखेगा तो कर्मबन्ध न होगा। अब इतना करनेके लिए दूषित संस्कार वाले जीवको जिसका संस्कार अनादिसे चला आ रहा है उसको तो बहुत पौरुष करना पड़ेगा। सत्संगतिमें रहना, ऐसी ही आत्माकी वार्तामें चिरकाल तक रहना और ऐसे ही विविक्त एकान्त शान्त वातारण में रहना कि जहाँ इस शुद्ध चित्स्वरूपको अनुभवमें लिया जा सके, ऐसी वृत्ति बनानेके लिए बहुत पौरुष करना होगा, पर यह ध्यानमें रखना है कि अपनेको चैतन्यशक्ति भावके अतिरिक्त अन्य भावरूप माननेमें चूंकि वह सविकल्पताकी स्थिति हुई वह कर्मबंध है और एकमात्र चैतन्यस्वरूप ज्ञानमात्र, एक सामान्य प्रतिभासमात्र, जाननमात्र जिसे सीधा गुण रूपसे न देख सकें तो शुद्ध कार्यरूपसे देखें, क्योंकि शुद्ध कार्यकी और गुणकी एकता है, अभेद है, तो उस द्वारसे भी हम शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं, सहज ज्ञानमात्र हूं। ऐसे चिन्तनमें अगर दिक्कत आती है तो उसके विशुद्ध कार्यरूपसे चिन्तन करें—मैं सामान्य प्रतिभासमात्र हूं, केवल एक जाननहार हूं, इस तरहसे जब अपनेको सामान्यमें पहिचाना जाता है तब वहाँ ज्ञानचेतनाकी जागृति होती है। लोकमें तो तारीफ विशेषकी हुआ करती है। यह पुरुष बहुत विशिष्ट है, इसमें ऐसी-ऐसी विशेषतायें हैं, ऐसा बखान करके लोकमें उसकी तारीफ करते हैं, और लोग उस विशेषको बड़ा आदर देते हैं, किन्तु अध्यात्ममार्गमें आत्मोन्नतिके मार्गमें, आत्माको वास्तविक महान बना लेनेके मार्गमें विशेषका महत्त्व नहीं दिया, किन्तु सामान्यका महत्त्व है। इस सामान्यपर लक्ष्य दें, इस सामान्यकी महिमा जानें, इस सामान्यसे रुचि लगावें, इस ही सामान्य आत्मद्रव्यका आलम्बन लें, यह आस्था, प्रतीति, आदर, आल-
..., लक्ष्य सब सामान्यका बताया जा रहा है। इस अध्यात्ममार्गमें सामान्यका महत्त्व
... विशेषका आलम्बन अशुद्धोपलब्धि है। उसमें भी विकाररूप विशेषका आलम्बन
अशुद्धोपलब्धि है। ये कर्मबन्धके कारण हैं, अशान्तिके कारण हैं, जन्ममरणरूप संसार
...के कारण हैं, ऐसा बताकर विशेषको अनादेय बताया गया है। तो हमारा कर्तव्य है
...म अपने उपयोगको सामान्य स्थितिमें रखें। लोकमें भी इस सामान्य स्थितिको कभी-कभी
आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। जैसे कभी किसी शहरमें झगड़ा फसाद हो जाय, सारे नगरमें
...बली मच जाय, पर कुछ समय बाद जब उस झगड़ेपर कुछ काबू पा लिया जाता है,
...मल शान्त हो जाता है तो अन्य जगहोंको समाचार दिया गया है कि अब नगरकी सामान्य
... है, याने अब झगड़ा फिसादकी कोई बात नहीं रही। तो ये लौकिक जन जब कुछ कुट
... जाते हैं तब सामान्यको भी महत्त्व दे देते हैं। अगर कुटना पिटना न होता तो इस
सामान्यका आदर कौन करता? तो सामान्यका आलम्बन अपने आपमें विशुद्ध गुण और कार्य
का लक्ष्य यह जीवके लिए हितकारी है। इस ही में ज्ञानचेतनाकी पुष्टि है।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

सम्यक्त्वकी अकारणभूत कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाकी सर्व संसारी जीवोंमें साधारणी वृत्ति—यह अशुद्धोपलब्धि सभी संसारी जीवोंमें सामान्यतया पायी जाती है, और यह एक साधारण वृत्ति है, सभी जीवोंमें है। एक अन्तः शुद्ध परमार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो अशुद्धोपलब्धि प्रभुता पानेसे पहिले तक है। उपयोगकी अपेक्षा देखा जाय तो यह अशुद्धोपलब्धि प्रमत्त अवस्था तक है। प्रतीतिकी अपेक्षा देखा जाय तो यह अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्व होनेसे पहिले तक है। कहीं किसी रूप, कहीं किसी रूप यह अशुद्धोपलब्धि पायी जाती है। सभी संसारी जीवोंमें अविशेषतया फिर भी अशुद्धोपलब्धि सम्यक्त्वका कारण नहीं अथवा यह सम्यक्त्वका काम नहीं, सम्यक्त्वपूर्वक नहीं। जैसे चतुर्थ गुणस्थानमें भी जो रागपरिणमन चल रहे हैं, सम्यक्त्व भी चल रहा है, राग भी चल रहा है और रागसे निवर्तमान भी हो रहा है, इस स्थितिमें क्या कोई यह कह देगा कि यह राग सम्यक्त्वपूर्वक है या सम्यक्त्वके कारण है या यह राग सम्यक्त्वका कारण है? न तो रागका कारण सम्यक्त्व है, न सम्यक्त्व का कारण राग है, और न सम्यक्त्वपूर्वक राग है किन्तु राग है अपने कारणसे और सम्यक्त्व है अपने स्वभावसे। तो उपयोगरूप अशुद्धोपलब्धि भी जहाँ है वहाँपर भी इस अशुद्धोपलब्धि का सामान्यके साथ कार्यकारणभाव नहीं है, उसका रोजिगार न्यारा है और सम्यक्त्वकी परिणतिकी बात उसकी अपने स्वभावसे है। तो यह शुद्धोपलब्धि समस्त संसारी जीवोंके सामान्य दृष्टिसे पायी जा रही है, इसी कारण इसे साधारणी वृत्ति कहा है अथवा उपलब्धिमात्र सब संसारी जीवोंके पायी जा रही है पर उपलब्धि मात्र सम्यक्त्वका कारण नहीं है, क्योंकि उपलब्धि तो सभी जीवोंमें प्राप्त है, वह अपने कारणोंसे है और सम्यक्त्व अपने कारणोंसे होता है। सम्यक्त्वका परमार्थभूत कारण तो शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय है और वहाँ निमित्त कारण सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोंका अनुदय, उपशम, क्षय कारण है और आश्रयभूत कारण उस समयमें कोई भी परवस्तु नहीं है, क्योंकि कुछ भी परवस्तु उपयोगमें रहे तो उससे शुभ या अशुभ विकल्पका ही निर्माण है और उस स्थितिमें सम्यक्त्व नही होता है। इस कारण उपलब्धि मात्र या शुद्धोपलब्धि ये सम्यक्त्वके कारण नहीं हैं।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥२१५॥

आत्मोपलब्धिमात्रमें सम्यक्त्वकी अनियमात्मकता तथा आत्मोपलब्धिकी शुद्धता व अशुद्धतामें सम्यक्त्वके सद्भाव व अभावका निर्णय—आत्मोपलब्धि कहते हैं आत्माका ज्ञान करनेको। बोध बिना कोई जीव नहीं है, सबको अपने आत्माका बोध है। अन्तर यह है कि

कोई आत्मा किसी रूपमें जान रहा है कोई किसी रूप । यदि अपने आत्माका कुछ बोध न हो तब सुख दुःख वगैरह ये कहांसे हो सकते हैं संसारी जीवोंमें ? जितने जीव हैं सबको अपना बोध है, तभी तो कीड़ेको अगर जरा भी छेड़ते हैं तो वह अपने प्राणोंकी रक्षा करनेको भागता है । तो उसे मैं का तो बोध है । अब उस मैं को किस रूपमें जाना है यह उसकी एक अलग बात है । तो आत्मोपलब्धि सभी जीवोंमें है, लेकिन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें आत्माकी आत्मारूपसे उपलब्धि है और मिथ्यादृष्टि जीवोंमें आत्माकी पर्यायरूपसे उपलब्धि है । तब यहाँ यह निर्णय होगा कि आत्मोपलब्धि सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं है । आत्माकी उपलब्धि हुई इसे सम्यक्त्व नहीं कहते । आत्माकी आत्माके रूपमें उपलब्धि होना इसका नाम है सम्यग्दर्शन । सो आत्मोपलब्धिमात्र सम्यग्दर्शन रूप नहीं है । यदि वह उपलब्धि शुद्ध है तब तो सम्यग्दर्शन है और यदि वह उपाधि अशुद्ध है तो सम्यग्दर्शन नहीं है । सम्यक्त्वमें कितना सहज आनन्द बसा हुआ है जो आनन्द तीनों लोकके वैभव भी इकट्ठे हो जायें तो उनसे न मिल सके, इन जड़ पदार्थोंसे कोई आनन्दकी किरण निकलकर आयगी क्या ? अरे वे तो आनन्दसे शून्य हैं, जो परजीव हैं, बन्धु मित्र हैं वे जीव जो आनन्दमय हैं लेकिन उनका आनन्द वहाँसे निकलकर यहाँ आयगा क्या ? नहीं आ सकता । तो परका आश्रय करनेसे आनन्द न मिलेगा और स्व का भी पर्यायरूपसे आश्रय करनेपर, भेदरूपसे आश्रय करनेपर भी आनन्द न मिलेगा । जिसकी जो विधि है वह उस ही विधिसे प्राप्त हो सकता है । आत्माका आनन्द चाहिए तो सामान्य तथा अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय लें अर्थात् सारे विकल्प छोड़ें और निर्विकल्प सामान्य स्वरूप निज स्वभावका आश्रय लें तो वहाँ आनन्द होता है । कोई मोही जन इस बातको सुनकर यह शंका करे कि लो यहाँ तो सारा छुटा दिया ? आनन्द कहाँसे मिलेगा ? न घर रहा, न भोजन रहा, न कोई वस्तु रही, और कह रहे हैं कि सामान्य आत्मद्रव्यका आश्रय लो, तो वहाँ आश्रय क्या मिलेगा ? लेकिन उनकी ऐसी शंका भ्रमपूर्ण है । जगतमें भोजन, वस्त्रादिक का जो आश्रय करके परिणाम बनता है वह दुःखरूप है, उनसे यह प्राणी संतप्त रहता है । उनमें शान्ति नहीं है । आनन्द तो उसे कहते हैं जहाँ रंचमात्र भी आकुलता न हो । अब परख लीजिए कि संसारकी कौनसी स्थिति ऐसी है कि जहाँ आकुलताका अभाव हो ? चाहे चक्री हो जाय, चाहे राजा महाराजा बने अथवा बड़ा धनी, लखपति, करोड़पति, अरबपति हो जाय, क्या वे सब साधन निराकुलताके हैं ? निराकुलता है तो उस ही एक सामान्य अखंड आत्मद्रव्यके आश्रयसे है जहाँ और सब सिट्टी भूल जाती हैं, कोई विकल्प नहीं रहता । तब उस अखण्ड आत्मद्रव्यकी उपलब्धि है तो सम्यग्दर्शन है और पर्याय रूपसे उपलब्धि है कि यही मात्र मैं हूँ तो वह सम्यक्त्वका लक्षण नहीं है ।

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन ।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ।।२१६।।

आत्माकी अशुद्धोपलब्धिके विषयमें तथा बंधफलताके विषयमें शंकाकारकी आशंका— अब यहाँ शंकाकार कुछ जानना चाह रहा है । शङ्काकारका यह पूछना है कि जो आत्मोपलब्धिकी बात कही है वह आत्मोपलब्धि क्या अशुद्ध ही है या किसी प्रकार कभी ही अशुद्ध होती है ? शङ्काकारके आशयमें यह बात बनी हुई है कि जो वस्तु जैसी है वैसी ही रहा करती है । यदि अशुद्ध हो तो अशुद्धकी उपलब्धि होगी । यदि शुद्ध है तो शुद्धकी उपलब्धि होगी । जैसे यहाँ हम जिस पदार्थको देखते हैं वह वैसा ही है तभी तो वह ज्ञानमें आ रहा । चौकी देखा तो वहाँ चौकीकी उपलब्धि है, वह क्या अशुद्धोपलब्धि है ? याने आत्मोपलब्धि अशुद्ध ही है अथवा किसी समय किसी प्रकार कोई ढंगमें अशुद्ध है ? अर्थात् सदा सर्वथा अशुद्ध नहीं है । शङ्काकारके यहाँ दो पक्ष रूपमें शङ्का हुई है अथवा उसने पूछा है उस ही के साथ दो पक्षोंमें एक प्रश्न और हो रहा है कि वह आत्मोपलब्धि क्या सदा बन्धफल वाली है ? अर्थात् सदा बन्ध करता रहता है अथवा कभी बन्धका कारण नहीं है ? वह आत्मोपलब्धि जिसका कि ऊपरके श्लोकमें विवरण दिया गया है वह आत्मोपलब्धि क्या अशुद्ध ही है अथवा कभीका बन्धका कारण ही है अथवा नहीं ? ऐसे चार पक्षोंमें शङ्काकारके ये पक्ष हुए हैं—शङ्काकारके आशयमें यह बात है कि जो जीव हैं सब एक समान हैं । जो बात होगी वह सबमें होगी । यदि अशुद्धोपलब्धि है तो अशुद्धोपलब्धि सर्वत्र होगी, और फिर वह बन्धका कारणभूत है । तो बन्धका ही कारण होगा, इस प्रकारका आशय रखकर यहाँ दो पक्षोंमें प्रश्न किया गया है कि अशुद्ध ही है उपलब्धि या नहीं अथवा बन्धफल वाली ही है अथवा नहीं, अब उसके उत्तरमें आगेका श्लोक कह रहे हैं ।

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवा शुद्धास्ति तद्विना ।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ।।२१७।।

सम्यक्त्व होनेपर उपलब्धिकी शुद्धता व अबन्धफलता तथा सम्यक्त्वके न होनेपर उपलब्धिकी अशुद्धता व बन्धफलता बताते हुए उक्त शंकाका समाधानीकरण—शङ्काकारने जो उक्त श्लोकमें शङ्का की है उसके आश्रयके अनुसार वह ठीक है । अब भी वास्तविकता यह

हैं और ये अपने आपकी उपलब्धि कर रहे हैं यह बात बहुत स्पष्ट सिद्ध है, अभी किसी पशु पक्षीको छेड़ो तो वह अपनी जान बचानेकी कोशिश करता है। उसे अपनी उपलब्धि है कि यह मैं हूं और कहीं मेरा नाश न हो जाय—ऐसी तो सभी जीवोंमें बात पड़ी हुई है। ऐसे ही आश्रयको लेकर यहां शंकाकारने पूछा था कि आत्मोपलब्धि सब संसारी जीवोंमें है और संसारी ही क्या सर्व जीवोंमें है। तो वह अशुद्ध ही क्यों कहा जाय अथवा शुद्ध ही क्यों कहा जाय ? जो हो सो हो। अशुद्ध है तो अशुद्ध ही है और बन्धफल वाली है तो बन्धफल वाली है। उसके समाधानमें यह स्पष्ट किया है कि सामान्यतया तो आत्मोपलब्धि है वह जो अज्ञानीको है अथवा ज्ञानीको है अथवा प्रभुके है। लेकिन वह उपलब्धि किस रूपमें है इसके भेदसे उपलब्धिमें भेद पड़ जाता है। यदि एक शुद्ध आत्मद्रव्यके रूपमें उपलब्धि है अर्थात् वह शुद्धोपलब्धि है और पर्यायरूपमें मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, ऐसी पोजीशनका हूं आदि तो वह अशुद्धोपलब्धि है। सम्यक्त्वके होनेपर अर्थात् आत्माको आत्माके सही रूपसे उपलब्धि करनेपर वह उपलब्धि शुद्ध है और सम्यक्त्व न होनेपर अर्थात् आत्माको उस शुद्ध चिन्मात्रके रूपमें उपलब्धि न करनेपर और फलतः पर्यायरूपमें अनुभव करनेपर वह अशुद्धोपलब्धि होती है। तो जो सम्यक्त्वके अभावमें उपलब्धि है वह तो बोधफल वाली है और सम्यक्त्वके होनेपर जो उपलब्धि है वह बन्धफल वाली नही है।

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्ध मृषा रुचिः।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥२१८॥
यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥२१९॥

उपलब्धिका विषय एक आत्माके होनेपर भी शुद्ध अशुद्धकी विशेषताके कारणकी जिज्ञासा—यहां शङ्काकार कहता है कि सम्यक्त्व होनेपर जो उपलब्धि हुई है वह भी आत्मा की ही उपलब्धि है और सम्यक्त्व होनेपर भी जिन जीवोंको उपलब्धि है वह भी आत्माकी उपलब्धि है। आत्मामें विषय एक है। जैसे जो सीपको चांदी जान रहा है उसके विषयमें भी वही दृष्टगत पदार्थ है और जो सीपको सीप ही जान रहा है उसकी दृष्टिमें भी वही पदार्थ है लेकिन उनमें एक पुरुष तो कहता है कि यह चांदी है और एक कहता है कि यह सीप है। तो इसी प्रकार समझिये कि सम्यग्दृष्टि जनोंने जिसकी उपलब्धि की है वह भी आत्मा है मायने वही है। आत्माका अर्थ है चैतन्य जीव। लेकिन यहां इस रूपमें न लें किन्तु यहां म कि आत्मा अपने आपको कहते हैं। तो जिसने सम्यक्त्वके अभावमें जैसी कुछ उपलब्धि की है वह भी अपने आपकी उपलब्धि है और सम्यग्दृष्टि जीवने जो उपलब्धि की है वह भी आपकी है। तो दोनों उपलब्धियोंमें जब विषय एक रहा वही मात्र तो उसको कहीं शु-

देना और कहीं अशुद्ध कह देना यह बात कैसे घटित होगी ? शङ्काकारका आशय है कि जिसको आपा रूपसे मैं हूं समझा है तो वह तो एक ही है; स्वयं स्वयंकी उपलब्धि सम्यक्त्वमें हुई और स्वयंकी उपलब्धि मिथ्यात्वमें हुई। अब उनमें कोई शुद्ध है, कोई अशुद्ध है, ऐसा भेद कैसे कर दिया गया है ?

सम्यग्दृष्टिकी नवतत्त्वोंमें हुई आत्मोपलब्धिको शुद्ध माननेपर पदार्थकी नवरूपता न रहनेकी आशंका—अथवा दूसरी बात सुनो—सम्यग्दृष्टि जीवके ९ तत्त्वोंकी भी उपलब्धि है या नहीं ? सोचो जरा शङ्काकार अपनी शङ्का पुष्ट कर रहा है। सम्यग्दृष्टि क्या ९ पदार्थोंसे अनभिज्ञ है ? वह क्या केवल उस शुद्ध आत्मद्रव्यको ही समझ रहा है ? उस आस्रव बंध सम्वर निर्जरा आदिकमें उपलब्धि नहीं है। तो उसे ९ तत्त्वोंके बारेमें भी तो उपलब्धि चल रही है। तो अब वहां यह बतलाओ कि वह जो उपलब्धि है, जो अपने आपको सम्वर रूपसे भी समझता है, निर्जरा रूपसे भी अपनी अवस्थाओंको जानता है। मैं मुक्त होऊँगा तो ऐसा केवल अवस्थारूपमें होऊँगा, इसका भी कुछ परिचय ही नहीं लिया गया। वह मोक्षतत्त्वकी उपलब्धि हुई। तो ९ पदार्थोंके विषयमें सम्यग्दृष्टिके आत्मोपलब्धि है। अब उस आत्मोपलब्धिको तुम अशुद्ध कहोगे तो ९ पदार्थ फिर नहीं ठहर सकते। शुद्धमें भेद कहां, ९ पदार्थ कहां ? जो अशुद्ध कहा गया तो वह सम्यग्दृष्टि रहा कहां ? उस सम्यग्दृष्टिके ९ पदार्थविषयक उपलब्धि अशुद्ध है तब भी गति नहीं है। आचार्य महाराज आपकी कि समाधान दे सकें। और यदि वह अशुद्ध है तो ९ पदार्थ कहां ठहरे ? तब यह कैसे कह दिया गया कि आत्मोपलब्धि कोई शुद्ध होती है और कोई अशुद्ध होती है।

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः पृथक् ॥२२०॥

उक्त जिज्ञासावोंके समाधानमें वस्तुके एक होनेपर भी अभिव्यञ्जकके भेदसे उपलब्धिमें स्वादुभेद होनेके कथनकी भूमिका—अब शङ्काकारकी उक्त शङ्काका यहाँ समाधान दिया जा रहा है कि शङ्काकारने जो यह समझा कि उपलब्धि है तो उपलब्धि है और जिसकी है उसकी है और वह एक ही किस्मकी हुआ करती है, इसी कारण शुद्ध अशुद्धका भेद न डालना चाहिए। और जब यह बंधफल वाला है तो सदा रहेगा। अरे बन्धफल वाला नहीं है तो कभी न होंगे, ऐसे अनेक परिणमन और अभी है वह परिणमन तथ्यकी जानकारी बिना उठा है। वस्तु यद्यपि एक है; सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपकी उपलब्धि की, सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपकी उपलब्धि की है। जब कभी कोई विपत्ति आयी, कहीं तेज आग लग गयी या कोई अचानक साँप निकल आया तो गोष्ठीमें बैठे हुए १० आदमी भी हों तो सब अपने आपके प्राणोंको लिए हुए भाग जायेंगे। वहाँ मित्रताका ख्याल न रहेगा। क्योंकि सभीको अपनी-

अपनी उपलब्धि है । अगर एकका दूसरेकी उपलब्धि होती तब तो यह बन्धन रहता कि अरे सांप निकल आया तो चलो मित्रोंको भी साथ उठा ले चलें, क्योंकि कहीं सर्प काट न ले । लेकिन ऐसा तो नहीं होता । सबको अपने आपकी ही उपलब्धि है, तो यों उपलब्धि सबकी अपनी है और वह है एक वस्तु, लेकिन उस एकके अभिव्यञ्जकके भेदसे वहाँ दो भेद पड़ जाते हैं—शुद्ध और अशुद्ध अर्थात् सम्यक्त्व अभिव्यञ्जक तब होता है जब वहाँ आत्मा आत्मारूपसे जाना गया है और जब मिथ्यात्व अभिव्यञ्जक बन गया है तो आत्मा अनेक पर्याय विशेषों रूप में जाना जा रहा है । आत्माकी शुद्ध सहज जो शक्ति है उसका भान मिथ्यात्वमें नहीं होता । तो जैसे सूचक होता है अभिव्यक्ति करने वाला होता है उस प्रकार वस्तुकी प्रतीति होती है । तो यों अभिव्यञ्जकके भेदसे एक वस्तु होनेपर भी उसमें दो प्रकारके स्वादभेद हो जाते हैं । लोकमें भी देख लो दही दही ही है, उसमें विशेष नमक डालकर खाया तो और प्रकारका स्वाद आया, विशेष मीठा डालकर खाया तो और प्रकारका स्वाद आया । यों अभिव्यञ्जक साथमें जिस प्रकारका है उस प्रकारका स्वाद आता है । यह तो एक मोटी बात कही है, और भी बारीक बात ले लो । कई प्रयोग ऐसे होते हैं कि उनमें नींबूका रस डालकर औषधि खायी जाय तो उस रोगको हटा देती है और उसीमें जरासा मीठा या अन्य कोई चीज डाल दी गई तो वह रोग बढ़ा देनेमें कारण हो जाता है । तो जैसे अनुपानके भेदसे उनमें रोग शमनका भेद हो गया । यों ही समझिये कि सबने अपने आपकी उपलब्धि की है इस दृष्टिसे तो लक्ष्य सबका एक रहा । सम्यग्दृष्टिने भी अपने आपको ही समझा और अज्ञानीने भी अपने आपको ही समझा, लेकिन भ्रम और अभ्रम—इन दो प्रकारकी स्थितियोंमें वहाँ तो बड़ा भारी अन्तर हो रहा है । एकको इस रूपमें उपलब्धि है कि यही मात्र मैं हूं और मैं मनुष्य हूं, फलाने घर वाला, फलाने माता-पिताका पुत्र, ऐसी पोजीशन वाला आदि, इसी तरहका मैं हूं, और मैं होता क्या हूं ? यह बात कहीं असत्य है क्या ? इतनी जायदाद वाला हूं । देख नगरपालिका में मेरी इस जायदादकी पक्की रजिस्ट्री है, यह किसी दूसरेकी हो कैसे सकती है ? यह तो मेरी है, और अदालतमें मामला जायगा तो मेरी ही विजय होगी । निर्णायक लोग भी यही कहेंगे कि यह मकान इन ही का है । तो यह मेरा ही तो मकान है, झूठ कैसे है ? ऐसी स्थितियोंकी बात चित्तमें रखता हुआ वह अपनी उपलब्धि कर रहा है, वह भ्रमकी बात है, जब कि सम्यग्दृष्टिको इस प्रकार आत्मोपलब्धि है कि मेरा मात्र तो यह मैं अपने सत्त्वके कारण जो सहज हूं सो ही हूं । बाकी तो औपाधिक भी पर हैं, पर भी पर हैं । तो यों अभिव्यञ्जकके भेदसे उपलब्धिके भेद होते हैं ।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥

अभिव्यञ्जकके भेदसे स्वादुभेद—जब उपयोगका विषय सामान्य मात्र होता है तब तो समझना चाहिए कि शुद्ध उपलब्धि है और जब वस्तुकी विशेषता विषयभूत हुई तो समझना चाहिए कि अशुद्धोपलब्धि है। जो वस्तुका सामान्य रूपसे स्वाद करता है वह पुरुष सम्यग्ज्ञानी है, सम्यग्ज्ञानका स्वाद वस्तुके सामान्य स्वरूपसे होता है। इस उपयोगको और क्योंकि वह उपयोग मनके अवलम्बनसे परिचय करता है ऐसे मनसे भी कह लीजिए, इस मनको इस उपयोगको बहुत समझाकर बड़ी धीरतापूर्वक विकल्पसे हटाकर ही गुप्त अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान वस्तुकी जो रुचि है यही एक काम जीवनमें करनेके लिए शेष रह गया है। उपाय इसका होना चाहिए कि बाहरी पदार्थ मेरे चित्तमें आश्रयभूत न हों, उनके विकल्प न जगें और मैं ऐसी स्थितिमें अपनी स्वरक्षा कर लूं। आत्मरक्षाके लिए क्या नहीं करना पड़ता है? लोकमें भी मनुष्य अपनी रक्षाके लिए सभी प्रकारके उपाय करते हैं—धनार्जन करना, घर बनाना, वस्त्र मंगाना आदि, लेकिन लोगोंकी आत्मरक्षा कुछ और प्रकारसे ही उपयोगमें है। ज्ञानी जीवको भी आत्मरक्षा करनी होती है तो वह इसी प्रकार रक्षा करता है कि मेरे उपयोगमें विकल्प न समाकर, मैं अविकल्परूपसे रहता हुआ सामान्य प्रतिभासमें रहा करूँ ऐसी वृत्ति होती है ज्ञानीकी आत्मरक्षाके लिए। इस वृत्तिमें ज्ञानीको वस्तु सामान्यरूपसे स्वादमें आता है। भूतार्थका विषय यही है। वस्तु स्वयं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण सहज जिस भावमय हो उस रूप निरखना सो यह भूतार्थनयका विषय है। यद्यपि वस्तु पर्यायरूप भी परिणमती है, नाना पर्यायोंरूप होती रहती है, उसमें जब अनेक भी पर्यायें समझायी जाती हैं तब तो उसका विवरण समझमें आता है। सो ये सब बातें यद्यपि बिल्कुल हटाने लायक नहीं हैं, हैं वे मगर उनको जानकर उनका विरोध न करके मध्यस्थ होकर और अवलम्बन लेना है, उस सद्भूत भावका जो स्वयं सहज स्वभावरूप है। फल यह होगा भूतार्थका आश्रय लेनेपर कि निर्मल परिणमन चलेगा, और क्यों निर्मल चलेगा कि वहाँ कोई पराश्रय न रखे, किसी विकल्पको अवकाश नहीं दे रहा, और एक शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका ही आलम्बन है उपयोगमें, तो उसमें फिर बखेड़ा कहाँसे रहेगा? तो इस भूतार्थका आश्रय करनेपर भी विशेषोंसे छुटकारा नहीं रह सकता। भूतार्थका आश्रय करनेपर निर्मल पर्यायरूप विशेष होने लगा। पर्याय कहाँ जायगा? तो विशेषोंको झूठ कह दिया जाय क्या? भूतार्थका अर्थ झूठ कह दिया जाय सो तो नहीं है। विशेष है और ऐसे अभूतार्थ तो शुद्धमें भी चल रहे हैं। शुद्धमें जो केवल ज्ञानादिक शुद्ध परिणमन है वह भूतार्थका विषय है या अभूतार्थका? अभूतार्थका विषय है। शुद्ध परिणमन भी पर्याय है, अशुद्ध परिणमन भी पर्याय है। गुणभेद, पर्यायभेद ये सब अभूतार्थके विषय हैं। तो क्या केवल ज्ञानादिक झूठे हो गए? वे तो यथार्थ हैं। तो जैसे वे अभूतार्थ हैं फिर भी शुद्ध है, उन्हे मना नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार

संसार-अवस्थामें भी जो औपाधिक भाव हो रहे हैं विशेष परिणमन हो रहे हैं इन्हें भूठ नहीं कहा जा सकता। अभूतार्थ तो इसको इस कारण कहते हैं कि अनादि अनन्त अहेतुक स्वतः शुद्ध शाश्वतभाव नहीं है। जो शाश्वत भाव हो, जो स्वतः शुद्ध भाव हो, अनादि अनन्त हो उसको कहते हैं भूतार्थ। तो ऐसे भूतार्थका जब आश्रय किया जाता है तो वहाँसे ये निर्मल विशेष प्रकट होते ही हैं, पर स्वाद किसका आ रहा है ? वस्तुका सामान्य रूपसे स्वाद आ रहा है। अब वही स्वाद एक विशेष है, पर्यायरूप है तो रही आये, पर इस पर्यायको भी आश्रय प्रतीति उस सम्यग्दृष्टिके नहीं होती।

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

विशेषोपलब्धिमें भी सम्यग्दृष्टिके स्वादकी विलक्षणता एवं दृष्टिमोहके दोषसे मिथ्यादृष्टिके स्वादकी कल्मषता—सम्यग्दृष्टि पुरुष स्वाद तो वस्तुका सामान्यरूपसे लेता है, लेकिन जब जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप—ये सब पदार्थ हैं तो क्या इनको वह जानता नहीं ? और इनके जानते समयमें क्या उनकी उपलब्धि नहीं हो रही है ? क्या उपयोगमें वे विषय नहीं हो रहे हैं ? होते हैं। इन विशेषोंको जानता है अथवा भूतार्थ का आश्रय करनेपर उसमें विशेष तो होता ही रहता है, ऐसी वस्तुकी विशेषता भी हो रही है, फिर भी सम्यग्दृष्टिका स्वाद विलक्षण स्वाद है। मिथ्यादृष्टि तो इन विशेषोंमें स्वाद लेता है मलिनताका और सम्यग्दृष्टि इनमें स्वाद लेता है समीचीनताका, तो सम्यग्दृष्टिका स्वाद मिथ्यादृष्टियोंसे विलक्षण है, लौकिक पदार्थोंको भी जान रहा है सम्यग्दृष्टि जो घरमें रह रहा हुआ अविरत सम्यग्दृष्टि है वह घरको, कुटुम्बको जान नहीं रहा क्या ? जानता है, पर जानता हुआ भी चूँकि अन्तःप्रकाश विशुद्ध हो गया है, यथार्थ निर्णय हो गया है कि मैं तो यह हूं। बाकी सब विडम्बनायें हैं, विभाव हैं, माया हैं। तब उसके अन्तरङ्गका स्वाद कैसे आता है ? वह मिथ्यादृष्टियोंको दुर्लभ है। मिथ्यादृष्टि जीव जब इन ही विशेषोंको जान रहे हैं तो उनका मलिन स्वाद है, क्योंकि दर्शन मोहका आश्रय है। उस दोषके कारण दृष्टि उनकी मलिन है। अभिप्राय उनका और है, यों उनका चूँकि अभिप्राय बुद्धि विकल्प इनकी उपलब्धि हो रही है, इस कारण मिथ्यादृष्टियोंका स्वाद मलिन स्वाद है। अब मलिन स्वाद होनेका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप और भाँति है और वह किसलिए है उसको सही न जानकर जैसा जानता है उसे जानकर अपने विषयकषायके प्रयोजनकी ही बात उसमेंसे निकालता है। जिसे जाना या उसे इष्ट मानेगा या अनिष्ट ? उसमें कोई विकल्प बनेगा तो विषयकषायोंकी वृत्तिका प्रयोजन बना लेता है, इस कारणसे उसको क्षोभ रहता है और उसका स्वाद मिलता रहता है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ।।२२३।।

मिथ्यादृष्टिको कर्म व कर्मफलमें चेतनाका स्वाद—अथवा मिथ्यादृष्टिके स्वादके सम्बंध में यह निरखिये कि चूँकि उनकी चेतना, उनका उपयोग निश्चयसे कर्मफलमें और कर्ममें लगा रहता है इस कारण उनको तो विपरीत स्वाद आता है । ज्ञानीके जो भी भाव होता है वह भाव या तो किसी कर्ममें अहंकार भाव रखे हुए है या कर्मफलमें भोगनेका भाव रखे हुए है । जब मूलमें यह बुद्धि विपरीत है तो स्वाद तो विपरीत होगा ही । जैसे कोई लौकिक बड़ा पुरुष है; वह किसी भी समय अपना अहंकार प्रकट नहीं करता, बल्कि चार सज्जनोंके बीच इस प्रकार बोलता है कि मैंने क्या किया, यह तो सब ऐसा ही होना था, आपका प्रताप था, ऐसा ही होना था, सो हो गया····इतने शब्द बोलनेपर भी भीतरमें उस कार्यके प्रति 'मैंने किया' यह बुद्धि उसकी बनी हुई है । वह बुद्धि मिटी नहीं है । किन्तु अपने उस कर्तव्यको इस तरहसे पेश कर रहा है कि सज्जनोंके बीच एक शोभा बन जाय और एक श्रृङ्गारसा हो जाय । यह एक बोलनेकी पद्धति है, मगर भीतरमें यह क्रियाविष हट गया हो सो बात नहीं है । इसी प्रकार सुख दुःख भोगनेमें भी कोई पुरुष यदि ऐसे शब्द कहे कि यहाँका सुख तो कल्पित है, भूठा है, सुखाभास है आदि, इतनेपर भी सम्भव है कि यहाँके सुखोंको ही वह सुख समझ रहा हो, लेकिन उसने ऐसा समझ लिया कि इस तरहका बोलना यह भी एक सुखकी ही चीज है, इन सुखोंके ही भोगनेकी उसमें वाञ्छा लगी हुई है । तो क्रियाविष और भोगविष इन दोनोंको दूर किया जाना एक बहुत पौरुषसाध्य बात है । बल्कि इतना तक हो जाता है सम्यग्दृष्टिके कि वह समझता है कि मैं सब जीवोंके लिए एक फालतू हूं, मैं किसीसे भी परिचित नहीं हूं, मेरा किसीसे भी कुछ वास्ता नहीं है, इस तरहसे वह सबसे अपनेको एक निराला ही समझता है, और इस तरहसे निराला समझता है कि सारा जगत भी यदि विपरीत हो जाय, निंदा करे, अपयश करे तिसपर भी वह अपनेको अक्षुण्ण निरखता है । यहां अक्षुण्ण हूँ, परिपूर्ण हूं, सन्तुष्ट हूं, इस तरहका चिन्तन ज्ञानी पुरुषके होता है, लेकिन यह चेतना मिथ्यात्वके उदय में असम्भव है । वहां तो कर्ममें और कर्मफलके विषयमें ही चेतना लगी हुई है । ज्ञानके अन्य पदार्थमें 'मैं इसे करता हूं' इस प्रकारके वेदनको, चेतनको कहते हैं कर्मचेतना । जैसे किसी परपदार्थको, मकानको, पुस्तकको या अन्य किसी चीजको मैंने किया अथवा भीतर उत्पन्न सिवाय अन्य भावमें हो रहे इस विकल्पको, विकारको मैंने किया तो इस प्रकार परमें और परभावमें क्या जीवने (मैंने) किया, इस प्रकारका विकल्प होना यह है कर्मचेतना ?

स्वभावमें कर्म व कर्मफलका अभाव—जब अपने आपकी शुद्ध शक्तिपर दृष्टि की जाती

है तो प्रतीत होता है कि मेरी शक्ति विकारके लिए नही है। मेरा स्वभाव तो अपने सहज स्वभावरूप परिणमनोंका रख रहा है। तो मेरा विकार कार्य न बने, मैंने विकारको नहीं किया किन्तु विकार हो गया, उसे भूमि मिलती है इस चेतना की। अन्यत्र यों विकार नहीं होते। जैसे दर्पणमें सामने कोई चीज आयी तो छाया बन गई तो दर्पणमें इस प्रकारका प्रतिविम्ब हो जाना ऐसा दर्पण अपनी स्वच्छतामें स्वभाव लिए हुए नहीं है। दर्पणमें छाया प्रतिविम्ब हो रहा, मगर जब सन्निधान उपाधि सामने आयी तव दर्पण प्रतिविम्वित हुआ। दर्पणमें ऐसी योग्यता है कि उसमें प्रतिविम्ब आ जाता है। कहीं भींत आदिकमें तो प्रतिविम्ब नहीं आता। तो दर्पण प्रतिबिम्बित हो गया इतनेपर भी वह प्रतिविम्ब उस दर्पणका नहीं है। हो गया ऐसा। तो भूमिका दर्पणकी है, फिर भी दर्पणकी ओरसे दर्पणकी शक्ति मात्रने किया नहीं है ऐसा अगर शक्तिमात्र करती होती प्रतिविम्ब तव तो फिर प्रतिविम्ब सदा रहना चाहिये था। इसी प्रकार ये विकार मुझमें हुए हैं, कर्म विपाक आया है, उदय आया है, विकार हुआ है उस विकारकी भूमिका मात्र होनेपर मैंने इस शक्तिसे विकार किया नही। ये विकार और जगह उछल नहीं सकते, क्योंकि विकारकी भूमिका अचेतनमें नहीं मिल पाती है। तो हुए हैं विकार लेकिन इन्हें मैंने किया नहीं, ज्ञानीका ऐसा संचेतन होता है। मैं हूं शक्तिमात्र, स्वभावमात्र तो स्वभावसे, शक्तिसे स्वयं जो कुछ बना वह है मेरा कार्य। तो ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें अथवा परपदार्थमें करनेकी बुद्धि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके कर्मफल के भोगनेकी भी बुद्धि नहीं होती। जैसे उसकी शुद्ध शक्तिमें केवल शक्तिमें निरपेक्षतया यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं विकारोंको कर लूं, इसी प्रकार मेरी शुद्ध शक्तिमें, स्वभावमें यह सामर्थ्य नहीं है कि मैं क्षोभको भोग लूं, पर जैसे विकार आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बन जाती आत्मा बनती है, ऐसे ही ये सुख दुःखके भाव आते हैं और मेरी भूमिका यह आत्मा बन जाती है। ज्ञानी पुरुषने अपने आपके अन्तः ऐसा प्रकाश पाया है कि ये सारे औपाधिक भाव मेरे लिए बोझ लगते और उनके करने भोगनेको भीतर बुद्धि नहीं जगती है, तो ऐसी चेतना जहां नहीं है और कर्मफलमें भोगनेकी बुद्धि चल रही है——मैं भोगता हूँ, मैं कैसा महान् हूं, मुझे कितना आराम है, कैसा सुख है, कैसा मेरा महत्त्व है, मेरी कैसी इज्जत है? इस प्रकारसे अपनेको परिणामन रूप भोगनेका परिणाम मिथ्यादृष्टि जीवके होता है।

> दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम्।
> व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

दृष्टान्तपूर्वक मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका कथन——यहां मिथ्यादृष्टियोंको वस्तुका स्वाद किस प्रकार आता है, उसका यहां दृष्टान्त दिया जा रहा है? जैसे नमकका टुकड़ा भोजन सामग्रीमें मिला दिया जाय तो उस भोजनको फिर अज्ञानी अविवेकी पुरुष जीवें तो उन्हें ऐसा

ही भान होता है कि यह भोजन खा रहा हूं जो यह पिण्डरूप दिख रहा है। कचौड़ी, पूड़ी आदिक जो भी वस्तु सामने है उसे ही समझता कि मैं खा रहा हूं, केवल नमककी तो उसे सुध ही नहीं है। यद्यपि भोजन रुचता है नमककी वजहसे। जैसे दालमें नमक न पड़ा हो तो वह दाल भसभसीसी लगती है। उसमें स्वाद नहीं आता। तो जिस नमककी वजहसे स्वाद आया। जिसकी कृपासे भोजनमें मधुर स्वाद आया उसकी तो वह सुध ही नहीं लेता। वह तो समझता है कि यह जो व्यञ्जन मेरे सामने है इसीको मैं खा रहा हूं। इसी तरह जो इन्द्रिय और मनके विषयमें आसक्त पुरुष हैं उन पुरुषोंको उस वस्तुका परिचय स्वाद अनुभव विपरीत रूपमें आता है। प्रत्येक पदार्थ है और वह अपनी सत्ता रखनेके लिए है। उसका इतना ही प्रयोजन है। कोई पूछे कि यह पदार्थ क्यों है तो उसका उत्तर यही होगा कि यह पदार्थ है अपना सत्त्व बनाये रखनेके लिए। अज्ञानी जन तो ऐसा कह डालते कि ये पदार्थ तो हमारे उपयोगके लिए हैं, और कोई कोई लोग तो ऐसा स्पष्ट कहते हैं कि प्रभुने ये सब चीजें हमारे उपभोगके लिए ही बनाई हैं। इसीलिए तो वे लोग जीवोंकी हिंसा करते हुएमें रंच भी नहीं हिचकते। वे जानते हैं कि ये पदार्थ तो हमारे उपभोगके लिए ही ईश्वरने पैदा किये, किन्तु उनकी यह धारणा गलत है। अरे प्रत्येक पदार्थ है, अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए। अन्य कोई उनका प्रयोजन ही नहीं है। पर मिथ्यादृष्टि जनोंने इन बाह्य पदार्थोंका प्रयोजन ठीक-ठीक निगाहमें न रखा, इसी कारण वे उनका दुरुपयोग करते हैं, उनके पीछे क्षुब्ध होते हैं। उनके ऐसा मोह पड़ा है, मुग्ध पड़ा है कि अपने आपके शुद्ध सहज स्वरूपकी उन्हें खबर ही नहीं है। तात्पर्य यहाँ यह है कि जिन्हें भूतार्थ स्वरूपकी सुध नहीं है वे आकुलित रहते हैं, जन्म मरण करते हैं और संसारमें दुःखी होते रहते हैं।

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥२२५॥

दृष्टान्तपूर्वक सम्यग्दृष्टियोंके एकत्व स्वादका कथन—सम्यग्दृष्टिको अपने आपमें किस प्रकारका स्वाद आता है? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है, दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे व्यञ्जनोंमें भोजनोंमें नमक डाला हुआ है तो उस नमककी वजहसे वह भोजन स्वादिष्ट लग रहा है। अगर नमक न पड़ा हो तो वह भोजन पृथ्वी जैसा (फीकासा) लगेगा। तो उस स्थितिमें जैसे कोई विवेकी पुरुष हो तो वह यह जानता है कि इसमें जो खारापन है वह नमक का ही है, अन्नका नहीं है। तो जैसे अन्नमें नमक मिला रहनेपर भी विवेकी पुरुष खारापन नमकका ही समझता है और इस तरह समझता है कि जैसे यदि नमक केवल डलीमें होनेपर उसमें जैसे खारापन होता है उसी प्रकार भोजनमें मिले हुए नमकका खारापन समझता है जब कि अज्ञानी जन जिन्हें विवेक नहीं है वे उस भोजनको करके उसको ही स्वाद समझते हैं और

जो खारापन हो रहा है सो भोजनका ही समझते हैं, पर ज्ञानी जन वहाँ खारापन उस तरह अलग समझते हैं। जैसे कि केवल नमककी डली खानेपर खारापन अनुभवमें आता हो, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सुख शान्ति और अपने आपके गुणोंका विकास परिणमन सब कुछ अपनेमें ही अनुभवन करता है जब कि अज्ञानी जन पुत्र, घर, मित्रादिकसे सुख मिला, इस तरह बाह्य पदार्थोंका स्वभाव है सुख देनेका, इस तरह अनुभव करता है। वहाँ इन ९ तत्त्वों में एक मूल सद्भूत कोई शुद्ध आत्मद्रव्य है, उसका निरीक्षण कर लेवे तो विवेक बलसे, इस विकार अवस्थामें भी इन ९ पदार्थोंमें से शुद्ध आत्मद्रव्यकी परख की जा सकती है, और उसी की मूल दृष्टिसे यह सम्यग्दृष्टि निराकुल रहता है।

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥२२६॥

मिथ्यादृष्टियोंके मात्र अज्ञानचेतनाका भाव—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि मिथ्यादृष्टियोंके केवल एक अज्ञानचेतना है, अर्थात् कर्मचेतना, कर्मफलचेतना ये दो चेतनायें है। इन दोनोंको अज्ञानचेतना ही कहते हैं, क्योंकि किसी कामको करते हुए यह अनुभव करना कि मैं कर रहा हूं, दूकान, मकान, व्यवस्था आदिक मैं कर रहा हूं, इस प्रकारका जो भीतरमें अभिप्राय है वह अज्ञानसे है। मैं इस प्रकारसे सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं, यहाँकी इज्जत भोगता हूं, इस प्रकारके भोगनेका जो परिणाम है वह भी अज्ञानसे होता है। इस कारणसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनोंको अज्ञानचेतना कहा गया है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा तो सर्व अन्य वस्तुओंसे निराला केवल अपने चैतन्यस्वरूपमें है, तो ऐसा चैतन्यस्वरूपा-त्मक आत्मा क्या कर सकेगा? अपने आपमें ही कर सकेगा कुछ और वह अपने गुणोंरूप परिणमेगा, यही उसका कार्य है। तो बाह्य वस्तुओंमें मैं इसे करता हूं ऐसा विकल्प करना अज्ञान ही तो हुआ। जो बात जैसी न हो अथवा उस उसको उस प्रकारसे मानना इसीको अज्ञान कहते हैं, इसी प्रकार फल-भोगनेमें इसका अज्ञान है। मैं सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं, अमुक पदार्थको भोगता हूँ, इस पदार्थको भोगता हूं। अरे किसी पदार्थसे मुझमें सुख परिण-मन आ ही नहीं सकता, क्योंकि जो कुछ मेरेमें ही हो, सो ही मेरेमें होगा। तो बाहरी पदार्थों से सुख मानते हुए उनको मैं भोगता हूं ऐसा अपनेको समझना अज्ञान है। तो यह भी अज्ञान-चेतना है तो ऐसी अज्ञानचेतना मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है, सम्यग्दृष्टियोंके अज्ञानचेतना नहीं होती है।

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥२२७॥

सम्यक्त्व और ज्ञानचेतनाकी शुद्धोपलब्धिके साथ अविनाभाविता—उक्त विवेचनका

सारांश दूसरा यह भी है कि जब तक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तब तक सम्यक्त्व है और तब तक ही ज्ञानचेतना है। सम्यक्त्व होनेपर भी कभी किसी भूमिकामें इसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, मिथ्यात्वमें आ जाता है तो उस जीवके और उस ही भवमें सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर उसके ज्ञानचेतना नहीं रहती। सम्यक्त्व छूटा; इसकी पहिचान है कि शुद्धकी उपलब्धि नहीं रही। शुद्धकी उपलब्धि दो प्रकारसे है—एक प्रतीतिके रूपमें, एक उपयोगके रूपमें। तो प्रतीतिके रूपसे भी शुद्धको उपलब्धि न रही। मैं आत्मा सबसे निराला केवल एक शुद्ध चैतन्य-स्वरूप हूं, इस प्रकारकी प्रतीति न रहे तो वहाँ शुद्धोपलब्धि नही रहती। ऐसी शुद्धोपलब्धि होनेपर भी उपयोगमें ६ पदार्थ आये या अन्य कुछ आये तो ऐसी स्थितिमें भी उपयोगमें शुद्ध की उपलब्धि नहीं है, फिर भी उसकी प्रतीतिमें शुद्धकी उपलब्धि है और भान भी उसे अपने आपको सबसे विविक्त चैतन्यस्वरूपको समझनेका बना हुआ है। इस कारणसे ज्ञानचेतना है, सम्यक्त्व है, लेकिन जहां प्रतीतिसे ऐसी शुद्धोपलब्धि न रहेगी वहाँ न सम्यक्त्व रहेगा, न ज्ञान-चेतना। यह दूसरा सारांश भी उक्त प्रकरणसे निकला।

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानवत्त्वकी सिद्धि—एक सम्यग्दर्शन वाला यह आत्मा ही ज्ञानवान कहा जाता है और बाकी शेष सभी सम्यग्दृष्टिपनेसे रहित अज्ञानी कहा गया है। लोकमें सम्यग्ज्ञान इस ज्ञानीका भी कहा जाता। जैसे कि लोग घरको घर जानते, चौकीको चौकी जानते। जो वस्तु है बाल्टी, बर्तन वगैरह इन सबको उसी प्रकार जाने, इसे भी लोकमें सम्य-ग्ज्ञान कहते हैं और जहाँ बताया गया है संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय न हो तो वह सम्यग्ज्ञान है। जो चौकी है, उसे चौकी ही जान रहे। उसमें कोई कोई सन्देह नहीं कर रहा कि यह चौकी है या और कुछ तो यह संशयरहित ज्ञान हुआ, चौकी ही है अन्य चीज नहीं है, उसे और चीज नहीं मान रहे तो यह विपर्ययरहित हुआ और जान ही रहे हैं तो अनध्यवसाय का वहाँ काम ही नहीं है, तो संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित यह ज्ञान चल रहा है इसे लोकमें सम्यग्ज्ञान कहते हैं। लेकिन मोक्षमार्गमें सम्यग्ज्ञान कहेंगे आत्माके स्वरूपके सम्बंधमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न होनेको। जैसे आत्मा है या नहीं, आत्मा रागी है अथवा शुद्ध है आदिक किसी प्रकारके संशय करना यह संशय ज्ञान है, और इस शरीरको ही समझना कि यह मैं आत्मा हूं—यह विपर्ययज्ञान है। नहीं है यह आत्मा और उसे समझ रहे कि यह आत्मा है तो यह हुआ विपर्ययज्ञान और आत्माके सम्बंधमें कुछ जाननेकी इच्छा भी न होना, कुछ समझ सी भी न रहना, ऐसी स्थितिको कहते हैं अध्यवसाय। तो आत्माके विषयमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय न हो तो वह सम्यग्ज्ञान है। कारण यह है कि जिसके आधारसे आत्मा

का उद्धार होगा ? कौनसा साधन है जिससे उद्धार हुआ है । जब इस ही बातका पता नहीं है तो वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं कहा गया है । दूसरी बात यह है कि लोकमें चौकी, पुस्तक, चटाई आदिक पदार्थोंको जान रहे हैं, चटाईको चटाई ही जानते, चौकीको चौकी ही जानते तो लोक के हिसाबसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये नहीं हैं लेकिन ऐसा जानकर भी इसका तथ्य तो नहीं समझ पाया । चौकीमें क्या बात है, किस स्वरूपसे बनी है, क्या गुण है, क्या शक्ति है, क्या इसका शुद्ध रूप है अथवा यह द्रव्य क्या है, इन बातोंका पता नहीं है । इस कारण लोक में इन पदार्थोंको ऐसी पर्यायोंके रूपसे जानकर भी वास्तविक ज्ञान इन पदार्थोंका होना नहीं है, जहाँ स्वरूपमें विपर्ययपना न हो उसके भेद और अभेदके सम्बंधमें विपर्ययपना भी न हो, उनके कारणोंमें भी विपर्ययपना न हो, इस प्रकारका जो ज्ञान हो उसे ही सम्यग्ज्ञान कहेंगे । जैसे इस चटाईको अमुक पुरुषने बनाया, यहाँ उसे कारणका ही सही बोध नहीं है । यह चटाई अपने आरम्भक परमाणुओंसे (चाकू, सींक, सूत आदिकसे) बनी हुई है इसका उसे बोध ही नहीं है । तो कारणका ही इसे बोध नहीं है, स्वरूपका भी बोध नहीं है । ये एक-एक अणु भी अनन्त अणु मिलकर ये स्कंध बने हैं । इनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श शक्ति है । उसकी जो व्यक्त पर्यायें हैं वे ही हमको इन्द्रिय द्वारा दिखती हैं आदिक किन्हीं भी बातोंका भान नहीं है, इस कारण लोकमें जिन पदार्थोंको समझा गया है उनके बारेमें भी सम्यक्ज्ञान नहीं है । इस श्लोक में कह रहे हैं कि एक सम्यग्दृष्टि पुरुष ही सम्यग्ज्ञानी है, शेष सभी मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी ही माने गए हैं ।

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥२२९॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियामें साधारणता होनेपर भी बन्धाहेतुत्व और बन्धहेतुत्व—ज्ञानी और अज्ञानीकी बाहरी क्रियायें साधारण हैं अर्थात् वही ज्ञान ज्ञानी कर रहा है, वही क्रिया अज्ञानी कर रहा है, फिर भी उनकी क्रियाके साधारण होनेपर भी अन्दरमें अंतर बहुत पड़ा हुआ है । जैसे सुबह आप सभी लोग जल्दी ही शौचादिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर स्नान करते हैं, प्रायः करके सभी लोग इन क्रियावोंके लिए सुबहका समय उपयुक्त समझते हैं । तो जो ज्ञानी लोग हैं वे तो इस दृष्टिसे नहाते कि हमको मन्दिर जाना है, पूजा पाठ करना है आदि, और अज्ञानी जन ऐसी दृष्टि रखकर स्नान करते कि हमको अभी अनेक लोगोंके बीच बैठना है सो हम अच्छे लगें, उन सभी लोगोंकी दृष्टिमें साफ सुथरे जंचें, इस दृष्टिको रखकर वे तेल साबुन आदिसे शरीरको बहुत-बहुत मल-मलकर बड़ी देर तक नहाते हैं । बादमें उस शरीरका शृङ्गार करते हैं, तो देखिये—यहां ही एक कार्यमें दो पुरुषोंके भावोंमें फर्क पाया जाता है । इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानीकी हर एक क्रियामें यही बात परखी जा सकती है ।

ज्ञानी पुरुष भी श्रावक अवस्थामें घरमें रह रहा है। घरके बीच पुत्र स्त्री आदिक सभीका सम्बंध है, उनसे वार्तालाप भी है, पोषणकी भी व्यवस्था है, दूकान भी करता है पर उसका चित्त कहाँ रहता है ? यह जन्ममरणका संकट मेरेपर बड़ा संकट है, इससे छूटनेमें ही भलाई है, यह उसकी प्रतीति नहीं छूटती, वह बराबर बनी हुई है, यह विकल्प, यह कषाय, यह विषयभाव ये ही मुझपर विपत्ति हैं, ऐसा भान है और फिर भी परिस्थिति ऐसी है कि वह करना पड़ता है। तो यों ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रिया बाहरमें एक प्रकारकी हो रही है फिर भी अज्ञानीकी क्रिया तो बन्धका कारण है और ज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण नहीं है। उसका अनन्त संसार छिद गया। अब जन्ममरणकी परम्परा बनी रहे, इस प्रकारका बन्ध उसके नहीं होता है। तो ज्ञानीकी वृत्ति बाहरमें समान हो फिर भी जो बन्ध है, शान्ति है, क्लेश हैं, जो कुछ भी होता है वह सब अन्तरङ्ग भावोंके अनुसार होता है, बाहरी क्रियाके अनुसार नहीं होता। हाँ बाहरी क्रिया किसी-किसी प्रकारके भावका व्यञ्जक बन जाता है। तो बाहरी क्रिया सामान्य व्यञ्जक बन सकता है, पर वहाँ विशेष विश्लेषण कराने वाली व्यञ्जकता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी क्रिया देखनेमें एक साधारणसी लग रही है।

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥२३०॥

ज्ञानियोंकी कर्मजा क्रियामें पूर्वबद्ध कर्मनिर्जराहेतुत्व—ऊपर श्लोकमें यह बताया गया है कि ज्ञानियोंके कर्मसे होने वाली क्रिया बंधका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष किसी भूमिकामें बाहरी क्रिया ऐसी ही कर रहा है जैसी कि सभी जन करते हैं। सभी लोग नहाते हैं, यह ज्ञानी श्रावक भी प्रतिदिन नहाता है, उसने अपना एक कर्तव्य समझ रखा है इस स्थितिमें इतनेपर भी भेद तो है अन्तरमें, और इतना ही क्या ? कर्मविपाकवश कर्मोदयकी प्रेरणासे इसे अनेक कार्योंमें भी लगना पड़ता है, दूकान है, घर है और भोगोपभोग हैं, इनमें भी प्रवृत्त होना पड़ता है। इतनेपर भी भीतर जो उसके विविक्त शुद्ध ज्ञानकी प्रतीति हुई है उसके बलसे वह पृथक् रहता है। तो ज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण नहीं है, सो यह बात ठीक है, पर इसके आगे और भी देखिये—आश्चर्य तो इस बातका है कि ज्ञानीकी वह क्रिया केवल पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंकी निर्जराका ही कारण है। यह बात कैसे बनी ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थावस्थामें रहकर उपभोग भी कर रहा है, फिर भी उसके उपभोग निर्जराके लिए ही हैं, ऐसा कथन इस तरह बनता है कि चूँकि कर्मविपाक है, उस प्रकारका परिणमन हुआ है, उपभोग परिणाम बना है, इतनेपर भी उस उपभोगसे वह विरक्त है, उससे पृथक् अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका उसे भान है, इस कारणसे जो उदय आया है वह तो निर्जराके लिए ही आता है, हर एकके आता है। अज्ञानी जीवके भी जो कर्मोदय होता है वह भी तो निर्जराके लिए ही

होता है, अर्थात् जो उदयमें आया उस कर्मकी तो निर्जरा ही है और निर्जराका ही नाम उदय है। उदयका अर्थ है अपना समय पाकर कर्मका खिरना। कर्मप्रकृतिकी जब स्थिति पूर्ण होती है या उदीर्णा आदिक करके जब उस स्थितिकी अन्तिम सीमा आ जाती है तो वह खिरेगा और ऐसे खिरनेके समय ये जीवमें रागादिक भाव बनते हैं। इसीका नाम उदय है। तो उदय तो निर्जराको ही कहते हैं। निर्जराके लिए ही उदय होता, किन्तु अज्ञानी जीवकी तो यह वृत्ति बनी कि उस उदयकालमें, उस विभावपरिणाम कालमें, उस विभावमें अपनेको जोड़कर उस विभावको ही आत्मीय बनाकर बेसुध हुआ है सो वह अनन्त कार्माणवर्गणाओंका बंध कर लेता है और उसका बन्ध होता है अनन्त संसारकी परिपाटी बनाने वाला। लेकिन ज्ञानी जीव उस उपभोगसे विरक्त है, निराला रहता है, इस कारण उसके नवीन बन्ध नहीं होता, इस दृष्टिसे वह निर्जराके लिए ही माना गया है। नवीन बन्ध भी जो अनन्त संसारविषयक न हो उसकी मुख्यता है, साधारण बन्धको यहाँ बन्ध नहीं माना है।

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमय भावानां नावकाशः सुदृष्टिसु ॥२३१॥

ज्ञानियोंके ज्ञानमय भावका सद्भाव व अज्ञानमय भावका अनवकाश—ऊपरके श्लोकमें यह बताया गया है कि ज्ञानियोंके कर्मोदयवश होने वाली क्रिया बन्धका कारण नहीं है सो तो बात है ही, पर आश्चर्य इस बातका है कि ज्ञानियोंकी वह कर्मजा क्रिया बँधे हुए कर्मकी निर्जराके लिए ही है, तो इस निर्णयका हेतु इस श्लोकमें बता रहे हैं। चूंकि सम्यग्ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है, क्योंकि ज्ञानियोंका जो भाव होता है वह ज्ञानसे रचा गया है। यहाँ ज्ञान लेना है भेदविज्ञान, परमोपेक्षा सहित ज्ञानसे तो जहां परम उपेक्षा भेदविज्ञानकी वासना हो, भावना हो ऐसी भावनाकी भूमिकासे गर्भित हुआ जो भाव है वह ज्ञानमय भाव कहलाता है, और मिथ्यादृष्टियोंके अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है। वहां अज्ञानमय भाव नहीं आ सकता। कहावतमें कहते है कि पंडित हो वह शत्रु भी हो तो भी भला है और मूर्ख हो वह मित्र हो तो भी भला नहीं है और मूर्ख हो वह मित्र हो तो भी भला नहीं है। पंडितके मायने जो मंद कषाय है, भेदबुद्धि वाला है, जिसको विवेक है ऐसा कोई शत्रु भी बन जाय तो भी वह दूसरेके प्राणघातके लिए न हो सकेगा। वह सम्हलेगा, क्योंकि उसके पास विवेक है। कारण-वश थोड़ा क्रोध है वह इतना फल नहीं दे सकता कि प्राणघात करे या बरबादी कर दे और कोई मूर्ख मित्र हो, वह मित्र है किन्तु उसमें मूर्खता ऐसी है कि ऐसी बात कह डालेगा मित्रताके ही कारण कि वही बात उसकी बरबादीका कारण हो सकती है। तो ऐसे ही यहां परमार्थ पथमें समझिये कि ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है। वे भाव ज्ञानसे रचे हुये ही होते हैं, उनमें अज्ञानमय भावोंका अवकाश नहीं है, इस कारण शुद्ध ज्ञानकी मात्र होनेसे सम्यग्दृष्टिकी

क्रिया निर्जराका हेतुभूत होती है।

ज्ञानीकी क्रियामें पूर्वबद्धकर्मनिर्जराहेतुत्वकी दो युक्तियां—इस प्रकरणको दो दृष्टियोंसे परखिये कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति निर्जराके लिए होती है। पहिली दृष्टि तो यह है कि चूंकि उसके सम्यग्ज्ञान है, अन्तःप्रकाश हैं, भेदविज्ञान है, अतः वह रागमें राग नहीं रखता, क्रियामें राग नहीं रखता, कर्मविपाकवश हो रहा है परिणमन, काय सम्बन्धी क्रिया भी है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भी है, रागविकार भी यथासम्भव है। लेकिन इन किसीमें भी उसका विश्वास नहीं, रुचि नहीं। इस कारण उससे हटा हुआ रहता है ऐसा हटा हुआ रहनेमें इस ज्ञानीके बंध नहीं होता और उन विकारोंके कारण जो कुछ बंध होता है वह बंध इतना अल्प है कि उसको बन्धन संज्ञा यहां नहीं दी गई है। दूसरी दृष्टिसे यहां देखना है कि सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता तो इसमें उस पुरुषको सम्यग्दृष्टिके नाते देखा है तो सम्यग्दृष्टिके नाते भाव मिला सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्ज्ञानके द्वारा वन्ध तो नहीं होता। जैसे कोई पुरुष पुजारी है, सेठ भी है, पंडित भी है तो जब उसकी दूकानपर लेनदेनका कोई व्यवहार करता है तो वहां यदि कोई यह कह बैठे कि पुजारी जी अमुक सामान लावो तो वहां वह बात अनुचित-सी लगती है। वह कह भी सकता है कि अरे यहां पुजारी लेनदेन नहीं कर रहा है। यहां तो सेठ लेनदेन कर रहा है। तो वही पुरुष पुजारी भी है, सेठ भी है लेकिन उस प्रसंगमें सेठ है, पुजारी नहीं, क्योंकि सेठकी प्रक्रियामें ही वह व्यवहार चल रहा है। तो एक पुरुष सम्यग्दृष्टि भी है, रागी भी है, राग परिणाम होनेसे वह सकर्मा भी है, बन्धनबद्ध भी है, लेकिन जब उसे रागी है इस नातेसे देखेंगे तो वह दिखेगा और उतना ही राग दिखेगा जितने अंशमें है, जितने अनुभागमें है। वहां उसकी बात करे और जब उसको सम्यग्दृष्टि कहकर उसकी बात बता रहे हो तो सम्यग्दृष्टित्व के नाते ही जीभ हिलाना, रागके नातेसे जीभ न हिलाना, क्योंकि यहां सम्यग्दृष्टिकी चर्चा है। तो इस दृष्टिसे देखा जाय तो यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टिके कतई बन्ध नहीं होता। इस तरह दोनों ही दृष्टियोंका समन्वय करते हुए यहां यह निर्णय करना चाहिए कि सम्यग्ज्ञानियोंके ज्ञानमय ही भाव होता है, क्योंकि वे सब भाव ज्ञानसे रचे गए हैं और उनमें अज्ञानमय भावका स्थान नहीं है।

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥२३२॥

ज्ञानियोंके मुख्य दो लक्षण—सम्यग्ज्ञानी पुरुष चूंकि स्वयं वैराग्यरूप है और स्वानुभव रूप है। वैराग्य क्या है? परमउपेक्षारूप ज्ञानपरिणमन, और स्वानुभव अपने आपके उस शुद्ध ब्रह्मस्वरूपकी प्रतीति और यथासमय अनुभूति यह भी सम्यग्दृष्टिके है। तो ज्ञानीके जब वैराग्य और स्वानुभव दोनों उत्तम तत्त्व हैं तो समझना चाहिए कि वह तो जीवनमुक्त ही है,

अर्थात् उसको अब कोई शंका नहीं है। किसी प्रकार उसे क्षोभका स्थान नहीं है। वह निराकुलतासे प्रीति रख रहा है, तो वह तो जीवनमुक्त है। जीता हुआ भी इन विपदाओंसे वह मुक्त है। वह जीवनमुक्ति सापेक्ष है। जैसे अज्ञानी जन रम रहे हैं तो वे बन्धनबद्ध हैं। उनके मुकाबले देखा जाय सम्यग्दृष्टिको तो वह मुक्त ही है, अर्थात् उन सर्व बंधनोंसे विषयोंसे, कषायोंके जालसे छूटा हुआ ही है। इस श्लोकमें वैराग्यका विशेषण दिया है परमोपेक्षा ज्ञान। यह विशेष एक दार्शनिक विषयका स्मरण कराता है। जहाँ यह पूछा गया कि ज्ञानका फल क्या है? तो उत्तर मिला कि ज्ञानका फल है हान, उपादान और उपेक्षा। साक्षात् फल तो अज्ञाननिवृत्ति है और साक्षात् फलसे सम्बंधित फल है हेय पदार्थोका त्याग करना, उपादेय पदार्थका ग्रहण करना और उपेक्षा होना। तो उपेक्षा होना यह ज्ञानका अभिन्न फल है। क्योंकि अन्य दार्शनिक ज्ञानका फल ज्ञानसे अतिरिक्त ही मानते हैं, ज्ञानरूप ज्ञानका फल नहीं मानते। जैसे ज्ञानका फल है घड़ा बना लिया, और कुछ कर लिया, इस तरहसे ज्ञानके फल अन्य-अन्यरूप माना करते हैं, लेकिन वस्तुतः ज्ञानका फल ज्ञानसे भिन्न नहीं हो सकता। हेय पदार्थका त्याग वह भी ज्ञानसे अलग चीज नहीं है। बाह्य वस्तुको एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें फेंक देना यह अध्यात्ममें त्याग नहीं बताया। अध्यात्ममें त्याग तो तत्सम्बंधी विकल्प था, उस विकल्पका परिहार कर दिया तो वह ज्ञानरूप ही तो पड़ा। बाहरमें उपादेय चीजको ग्रहण कर लिया। दूर किसी अन्य क्षेत्रमें चीज रखी थी, वहाँसे हटकर निकट क्षेत्रमें रख ली, इसको अध्यात्ममें ग्रहण नहीं बताया, किन्तु उस पदार्थके विषयमें यह अच्छी है, सुहावनी लगे, उसको भीतरमें ममता रूपसे या अपने प्रयोजनरूपसे ग्रहण कर लिया इसको उपादेय कहा है। तो यह भी ज्ञानस्वरूप है, और जो परम उपेक्षा है, न रागमें, न द्वेषमें, न हेयमें, न उपादेयमें। जैसा जो कुछ है वैसा ही ज्ञान रहना इसीको तो परम उपेक्षा कहते हैं। तो यह परम उपेक्षा अथवा वैराग्य ये ज्ञानस्वरूप ही हैं। तो जितने भी हमारे सम्वरके उपाय हैं, कल्याणके उपाय हैं वे सब ज्ञानस्वरूप ही पड़ते हैं, उनको भेददृष्टिसे, नाना व्रतोके रूपमें बना दिया गया है लेकिन वस्तुतः वे सब काम ज्ञानरूप ही पड़ते हैं। तो सम्यग्दृष्टिके ऐसा वैराग्य और ज्ञान वर्तता रहता है, इस कारण वह तो जीवनमुक्त है। उसको बद्ध बताना, उसका बंधन बताना यह इस दृष्टिमें उचित नहीं बैठता है। जब जिस आत्माकी जिस गुणकी मुख्यता लेकर स्तुति की जा रही हो उस समय उस गुणके नातेसे ही उसमें सब निरखनेकी बात होती है। इस तरह ज्ञानीका चिह्न बताते हुए पूर्वोक्त विवेचनसे ही यह पुष्ट किया है कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है और निर्जराके लिए है वह किस कारणसे है, इसका जो कारण उक्त श्लोकमें बताया है उसीकी पुष्टिमें ज्ञानके इन दो लक्षणोंको कहकर उसका ही समर्थन किया गया है।

ज्ञानी ज्ञानैकमात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥२३३॥

ज्ञानीकी ज्ञानैकपात्रता, आत्मवेदिता व बद्धस्पृष्टादिभावानास्पदता—ज्ञानी तो ज्ञानैकमात्र है अर्थात् ज्ञानका ही अद्वितीय पात्र है । ज्ञान इस ज्ञानीके आधारमें ही तो हैं और जिस जीवने एक ज्ञानको ही अपना आधार समझा, ज्ञानमय आत्मस्वरूपका ही आश्रय लिया, अन्य आश्रय नहीं लिया जा रहा है तो वह तो ज्ञानका ही एक मात्र पात्र बन रहा है । जो परिणमन किसी परका विषय लेकर, आश्रय लेकर हुआ करता है उस परिणमनको केवल एक ज्ञानके ही आधारसे हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु जिस परिणमनको किसी परका आश्रय नहीं है ऐसे ही परिणमनमें शुद्ध वस्तुके आधारसे हुआ है यों कहा जायगा । यद्यपि विकारपरिणमनमें भी आत्माका आधार कुछ न हो ऐसा नहीं है, हुआ तो उसी भूमिकामें, लेकिन केवल आत्माके ही आधारसे हुआ, रंचमात्र भी परका किसी भी ढंगसे, विषयरूपसे, निमित्तरूपसे, किसी भी प्रकार से आश्रय नहीं हुआ । तब तो उसका आधार मानना ठीक है किन्तु यह रागपरिणमन अनेक विकार ये आत्मभूतिमें होते हैं । उनकी निष्पत्ति परका आश्रय करके, निमित्त करके, विषय बनाकर इन सब स्थितियोंमें होती है, इस कारण उसे ज्ञान एक पात्र न कहेंगे, पर ज्ञानीका जो ज्ञान है वह तो ज्ञानैक पात्र है वही आत्माको जानने वाला है । जाननेका काम कर रहा है ज्ञानगुण । ज्ञानोपयोगमें जाननेकी वृत्ति जग रही है । यही ज्ञानोपयोग जब अन्य पदार्थोंके जाननेकी वृत्ति न करके ज्ञानके ही स्वरूपको जाननेकी वृत्ति करे ऐसी स्थितिमें यह ज्ञानी वास्तवमें आत्मरहस्यको जान रहा है । तो ऐसा ज्ञानी आत्माको जानने वाला है वही आत्माको देखने वाला है । ऐसा ज्ञानी बद्ध स्पष्ट आदिक भावोंके स्वरूपको पानेका साधनभूत नहीं है, अर्थात् वह अपनेको न बद्ध देख रहा है, न स्पष्ट देख रहा है । तो ये बद्ध स्पष्ट आदिक भाव आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते । जब यह ज्ञानी ज्ञानको ही भोग रहा है, स्थिति हुई इसकी स्वानुभूतिकी, जहाँ उपयोगमें ज्ञानोपयोगमें उस ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान हो रहा है वहाँ ज्ञान ही ज्ञात हो रहा या उस बँधा या छुवा या अन्य क्षेत्र, काल, पिण्ड आदिक ये उस ज्ञानमें नहीं हैं, जहाँ तो केवल एक ज्ञायकभावमय स्वकी अनुभूति है, बद्ध स्पष्टत्वभावका वहाँ स्थान नहीं है । ऐसी ज्ञानीकी स्थितिको देखकर अन्य ज्ञानी इसका विवरण करता है कि बद्धत्वभाव स्पष्टत्व भाव ये जहाँ स्वरूपमें प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं, ये सब ऊपर ऊपर ही तिर रहे हैं अर्थात् है आत्मामें बंधन, स्पर्श आदिक भी हैं, ये सब होते हुए भी चूंकि इनका उसमें प्रवेश नहीं है अर्थात् ये स्वभावमय नही बन जाते हैं तो उस अन्तरङ्गकी दृष्टिसे इनको कहते हैं कि ये ऊपर ऊपर तैरते हैं ।

विकारोंका उपरितरण व स्वभावाप्रतिष्ठितत्वका तात्पर्य—ऊपर तैरनेका अर्थ यह न

लेना कि आत्मा परिपूर्ण जितना प्रदेशवान है वह तो नीचे ज्योंका त्यों स्वरक्षित है, वहाँ कोई आँच नहीं, वे तो ऊपर ही ऊपर तैर रहे हैं। ऐसा नहीं है जैसे पानीमें तेल डाल दिया जाय तो तेल पानीके ऊपर-ऊपर ही तैरता है और पानी गर्म कर दिया जाय तो गर्मी भी पानीके ऊपर-ऊपर तैरती है। बात दोनों हैं लेकिन तेलका ऊपर-ऊपर तैरना तो बिल्कुल बाहरी बात है। उस तरहकी बात न समझिये कि ज्ञानीपर राग ऊपर-ऊपर तैरते हैं या आत्मापर राग ऊपर-ऊपर ही तैर रहे है, किन्तु जैसे पानी गर्म हो गया, थोड़ा गर्म हुआ या अधिक गर्म हुआ, कितना ही गर्म हो जाय लेकिन वह गर्मी पानीके स्वभावमें प्रवेश नहीं कर गयी, इसका सबूत क्या ? यदि गर्मी पानीके स्वभावमें प्रवेश कर गई हो, जैसे कि गर्मी अग्निके स्वभावमें प्रवेश किए हुए है तो वह पानी कभी ठंडा हो ही नहीं सकता, और यदि गर्मी निकल जाय पानीमें से तो पानीका अस्तित्त्व समाप्त हो जायगा, क्योंकि अब तो गर्मीका पानीके स्वभावमें प्रवेश मान लिया गया है, तो उस मामलेमें जैसे हम यह कह सकते हैं कि गर्मी पानीके ऊपर तैर रही है पर उस ऊपरका कितना अर्थ है ? यदि कोई भूलमें इसका उन्हीं शब्दोंमें अर्थ मान ले कि गर्मी तो पानीके ऊपर तैरती है तब तो हम उस पानीके भीतर घुस जायें, ऊपर न रहें तो जलेंगे नहीं। तो उसका यह अर्थ नही है, किन्तु स्वरूपमें प्रवेश नहीं है उस दृष्टिसे यह बात कही है कि यह गर्मी पानीके ऊपर तैर रही है, और ऐसी बातपर ज्ञानी जीवके लिए ही क्या देखें—सर्व जीवोंके लिए देख सकते हैं, उनके प्रत्येक विकार उन सबके ऊपर तैर रहे हैं। किसीके स्वरूपमें प्रतिनियत नही हैं। तो इसी तरह ये बद्धभाव, स्पष्टभाव इनका भी इस आत्मामें स्थान नही है। यहां आत्मा ज्ञानमात्र स्वीकार किया जा रहा है, चैतन्यस्वरूप स्वीकार किया जा रहा है। तो उस स्वरूपमें किसी अन्यका, भावका, परभावका प्रवेश नहीं है। इस कारण यहाँ अब कर्मविपाकवश कर्मजा क्रिया हुई हो या कर्मजभाव हुआ हो; मन, वचन, कायकी चेष्टा हुई हो, वह सबका सब इस आत्माके स्वरूपसे बाहर है। इसके स्वरूपमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं है। तो ऐसे ज्ञानीके जो स्वरूपदृष्टिसे अपनेको निरख रहा हो उसका बंधन कहना अथवा कर्मभारसे बोझल बताना या आकुलतामय बताना यह फबता नहीं है। ज्ञानके नातेसे ज्ञानीका वर्णन हो रहा है। वहाँ न बन्धका हेतुपना है और न कर्मभारका बोझ है।

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ।।२३४।।

सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनानुरूप स्वाद (अनुभवन)—सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको जिस प्रकार प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकार वह स्वाद लेता है। यद्यपि वह बात सभीके लिए कही जा सकती है कि प्रत्येक प्राणी अपने आपको जिस स्वसम्वेदन प्रत्यक्षमें उपलब्ध करता है वह उस प्रकारका स्वाद लेता है किन्तु इस सामान्य कथनमें सुसम्वेदनका अर्थ स्वानुभव नहीं

अर्थात् शुद्ध चैतन्यमात्र रूपसे अपने आपका सम्वेदन नहीं करता, किन्तु जिस किसी भी प्रकार से अपने आपकी उपलब्धि होना सुसम्वेदन है, इस रूपसे तो प्रत्येक प्राणीका प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रत्यक्षका अर्थ स्पष्ट शुद्ध रूपसे जाना जा रहा है यह नहीं, किन्तु 'मैं' के रूपसे सबको अपनी प्रतीति बनी है। कोई शरीरको ही 'मैं' समझ रहा, विषयकषायके भीतर परिणाम होता है उन्हें "मैं" समझ रहा। कैसा भी समझे कोई, ज्ञानी पुरुष अपनेको अबद्ध, अस्पृष्ट, चिन्मात्र को 'मैं' समझ रहा। तो "मैं" की समझ सबमें है, इस कारण सब जीवोंमें जिस प्रकार "मैं" को अनुभवमें किया उस प्रकारका स्वाद आता है। जिसने विपरीत रूपसे "मैं" का अनुभव किया उसको विपरीत स्वाद आता है। अतः यह तो एक साधारण कानून है कि जो जिस प्रकार अपनेको अनुभव करता है उसको उस प्रकारका स्वाद आता है, पर ऐसी साधारण बात पर्यायाश्रित रूपसे यों नहीं कही गई है कि अपने आपका प्रत्यक्ष होना उसीमें रूढ़ है कि जो अपने आपका सही रूपसे प्रत्यक्ष करे, इस आधारसे यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको किस प्रकार प्रत्यक्षमें अनुभवता है, ग्रहण करता है, उस प्रकारका स्वाद आता है। अपने आपको किस तरह अनुभव करता है—इसका विशेष विवरण तो आगेके श्लोकोंमें कहेंगे पर संकेत रूपसे यहाँ ही कहा जा रहा है कि अपनेको अविशिष्ट विशेषतासे रहित असं-युक्त परके मेलसे रहित और नियत एवं अनन्य अभिन्न रूपसे अपनेको प्रत्यक्ष पाता है तो उसको स्वाद इस ही प्रत्यक्षके अनुरूप आता है। अब बतलाते हैं कि इस सम्यग्ज्ञानीको अपने आत्माका अवलम्बन किस प्रकार आता है ?

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसङ्गं व्योमवत् सदा ॥२३५॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥२३६॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान ।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥२३७॥

ज्ञानी पुरुषका अबद्ध व अस्पृष्टके रूपमें स्वात्मावलोकन—सम्यग्ज्ञानी पुरुष अपने आपको इस प्रकार देखता है कि "मैं" अबद्ध हूं। "मैं" के कहते ही जो असंख्यातप्रदेशी अपनी गुण पर्यायोंका आधारभूत आत्मवस्तु है वह संकेतमें आया है और उसको ही लक्ष्यमें लेकर यहां ज्ञानीका चिन्तन चल रहा है कि मैं अबद्ध हूं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपके आधार में है, अतएव सभी पदार्थ दूसरेसे अबद्ध हैं, किसीका स्वरूप किसी अन्यसे बँधा हुआ नहीं है, ऐसा यह मैं अबद्ध हूं। यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे जीवोंके कर्मका बन्धन देखा जा रहा है, अर्थात् बँधे तो हैं जीवके साथ, वे असत्य नहीं हैं, सम्बंध है लेकिन व्यवहारनयसे यह परखा जाता है।

यह इसलिए कहा गया कि निश्चयनयका विषय दो पदार्थोंका निरखना नहीं होता और बंधन दो पदार्थोंके अथवा द्वैतके बिना होता नहीं है, इस कारण कहा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बन्धन झूठ है, है बन्धन, पर वह व्यवहारका बन्धन है, अर्थात् भिन्न द्रव्यका। इस द्रव्यके साथ निमित्तनैमित्तिक भाव है, किन्तु यहाँ तो स्वरूपको देखा जा रहा है। मैं अबद्ध हूं कर्मबन्धनसे, शरीरबन्धनसे, अन्य बंधनसे रहित हूं। ज्ञानी पुरुष अपने आपको निरख रहा है कि मैं अस्पृष्ट हूं, किसीसे छुवा हुआ नहीं हूं, एक तो स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो कोई पदार्थ किसी पदार्थसे छुवा हुआ नहीं रहता है। यद्यपि सभी अपने आपके स्वरूपमें तन्मय हैं, किसी का अन्य स्वरूपसे स्पर्श नहीं है। फिर दूसरा प्रकार यों भी देखा जा सकता है कि आत्मा अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। उसमें पिण्ड नहीं है, आकाशवत् अमूर्त है, तो ऐसा आत्मा जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है वह किसी दूसरी वस्तुसे छुवा कैसे जायगा? अमूर्त पदार्थ किसी दूसरे अमूर्तसे तो छुवा ही क्या जायगा? वहाँ तो स्पर्शकी बात ही नहीं है। स्पर्श गुण, स्पर्श पर्याय पुद्गल द्रव्यमें होता है, सो अमूर्तका अमूर्तके साथ स्पर्श होता नहीं और अमूर्तका मूर्तके साथ भी स्पर्श होता नहीं, क्योंकि दोनों मूर्त हों, दोनों स्पर्शवान हों तो उनमें परस्पर छूनेकी बात आयी तो इस स्थूल दृष्टिसे भी यह समझा जा सकता है कि आत्मा उत्कृष्ट है। तो स्वरूपदृष्टिसे और बाहरकी सम्बंधदृष्टिसे भी आत्मा अन्यसे असम्पृष्ट है। यद्यपि कर्मका जीवके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, पर जैसे कोई स्पर्शवान पदार्थ स्पर्श वाले पदार्थसे छुवा रहता है, जैसे कि चौकीपर पुस्तक रखी है, यह छुई हुई है, इस तरहसे मोटी दृष्टिका छूना भी नहीं है और स्वरूपदृष्टिसे भी छूना नहीं है। तो अन्तःस्वरूपको जब निरख रहा है ज्ञानी तो उसका यह निर्णय यथार्थ है कि मैं असम्पृष्ट हूँ।

ज्ञानी पुरुषका शुद्ध व सिद्धपदोपमके रूपमें स्वात्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष अपने आपको शुद्ध निरखता है। शुद्धका अर्थ है केवल। अपने स्वरूपमात्र, सर्व परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न अपने एकत्वमें तन्मय अपने आपको निरख रहा है। ऐसा निरखनेमें जहां कि केवल स्वरूप ही देखा जा रहा हो तो उपयोग भी मलिन पर्यायमें आसक्त व्यामुग्ध रूप नहीं रहता है और उस स्थितिमें यथासम्भव पर्यायरूपसे भी शुद्धका अनुभव होता है। तो ज्ञानीका चिन्तन है कि मैं शुद्ध हूं, और इस तरह भी चिन्तन करता है कि मैं शुद्ध पदकी उपमा वाला हूं अर्थात् सिद्ध समान हूं। जब पहिले केवल देखा, अपनेको केवल एकत्वगत निरखा तो इस स्थितिमें कुछ उपयोगकी निर्मलता हुई और उस एकताकी दृष्टिसे भी सिद्धमें समानता दृष्टगत स्थितिमें इसका चिन्तन है कि मैं सिद्ध समान स्वरूप वाला हूं। जैसे सिद्धप्रभु सबसे एकत्वगत हैं इसी प्रकार मैं भी सबसे विविक्त और अपने एकत्वमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनंद-

रूप समृद्धिसे सम्पन्न हैं उसी प्रकार मैं सहज अनन्त ज्ञान, सहज अनन्त दर्शन, सहज अनन्त आनन्द और सहज अनन्त शक्ति समृद्धिसे हूं, अर्थात् सही स्वभाव मेरेमें भी है। स्वभावसे मैं उस ही समान हूं इस तरह अपने आपको सिद्धकी उपमा रूपमें चिन्तन कर रहा है। एक यह भी यहाँ निरखा जा सकता है कि जैसा मुझे आगे होना है उस रूपसे अभी भी तो अपनेमें निरखा जा सकता है। जैसे कि मनुष्य जिस पदपर पहुंचेंगे, जिस स्थितिमें पहुंचेंगे या गृहस्थी में पहुंचेंगे या किसी अफसरके रूपमें पहुंचेंगे। जिस स्थितिमें पहुंचनेकी उनकी आशा हो जाती है और निर्णय भी हो जाता है, पक्का भी मालूम हो जाता है तो भविष्यमें उन घटनाओंमें जिस प्रकार अपनेको अनुभव होगा उस प्रकारकी अनुभूति, उस प्रकारके ख्याल वर्तमानमें भी करने लगते हैं। तो यहाँ ये निकट भव्य जीव जिन्होने अपना निर्णय बनाया है और दिखने भी लगा है कि निकट कालमें ही मेरेको अनन्त ज्ञानादिक समृद्धियाँ उत्पन्न होंगी। मैं सिद्ध होऊँगा, अष्ट कर्मोसे रहित हो जाऊँगा। जैसा मैं केवल अपनेमें सत् हूं उस प्रकार मेरी अवस्था होगी, ऐसा जिनका निःशंक रूपसे दृढ़ निर्णय है उस तरहसे अभीसे ध्यान चलता है और उस रूप यहाँ भी यथायोग्य अपनेमें अनुभव उत्पन्न करता है। तो यों भी सम्यग्दृष्टि जीवने अपने आपको सिद्धोपम विचारा है।

ज्ञानी पुरुषका शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छतारूपमें आत्मावलोकन—सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपको शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ निरख रहा है, जहाँ अपनेमें एक ज्ञानज्योति प्रतिभास स्वरूप ही विदित हो रहा है। मैं ज्ञानीको छोड़कर और क्या हूं? और एक स्वच्छता है, प्रतिभास है, जानन है उसके सिवाय और मैं क्या हूं? वही तो मैं सर्वस्व हूं। इस तरह अपनी अन्तर्दृष्टिके बलसे जिन्होंने अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष शुद्ध स्फटिकके समान अपनेको स्वच्छ निरख रहे हैं। अमूर्त तो यह है ही आत्मा और अमूर्त होने पर यह किस रूपमें दृष्टिमें आयगा सो भी अनुमान कर लीजिए। यह किसी पिण्डरूपसे न आयगा। जहाँ कालिमा हो, अस्वच्छता हो, मल चढ़ा हुआ हो इस ढंगसे नहीं है यह आत्मा, किन्तु यह अमूर्त है। तो जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, अमूर्त है, ऐसा स्वरूप तो मल रहित है ही, साथ ही इसमें चेतना है। अन्य अमूर्त पदार्थोसे इस आत्मद्रव्यमें यह अधिकता है कि यह चैतन्यस्वरूप है। तो अमूर्त होकर चैतन्यस्वरूप हो ऐसे आत्मद्रव्यकी क्या सहज स्थिति होगी? इस प्रकार दृष्टिमें जब स्वरूप भानमें होता है तो वहाँ तो स्वच्छता दृष्टिगत होती है और ऐसे ही दृष्टिबलसे इस सम्यग्दृष्टि पुरुषने अपने आपका यों अनुभव किया है कि मैं शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ हूं। जैसे स्फटिक मणि अत्यन्त स्वच्छ श्वेत निर्मल रहता है, कदाचित् कोई अन्य उपाधि निकटमें लगी हो लाल पीला आदिक वहाँ प्रतिबिम्ब है। वहाँ लाल पीलापना पाया जा रहा है, किन्तु जो लोग स्फटिकके सही स्वरूपको जानने वाले हैं वे

उस समय भी यह जान रहे हैं कि यह स्फटिक मणि तो स्वच्छ ही है । इस तरह जिसने अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव किया है उस जीवके पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश रागादिक भी बने तो ऐसी रागादिक छायाके समयमें भी यह ज्ञानी पुरुष विपाकके रूपसे यहाँ जान रहा है कि मैं शुद्ध स्फटिकके समान हूं, अर्थात् स्वच्छ हूं ।

ज्ञानी पुरुषका आकाशवत् निःसङ्गरूपमें स्वात्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष अपने आपको अन्तर्दृष्टिसे निरख रहा है । वहाँ यह देख रहा है कि मैं आकाशकी तरह निःसंग हूँ । आकाश में कौनसा परिग्रह लादा जा सकता है जो आकाशके साथ घुलमिल जाय ? यद्यपि आकाशमें ही यह सब परिग्रह पड़ा है, ले कहाँ जायेंगे ? ये समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल आदिक सब आकाशमें ही तो हैं, और विशेषतया पुद्गल जिनको कि लोग संग्रहरूप कहा करते हैं वे भी आकाशमें ही तो हैं, लेकिन आकाशने क्या इन्हें संग्रहा ? चीजोंको उठाकर कहीं ले जाय तो क्या आकाश प्रदेश चिपककर संग जाते हैं ? अरे आकाश तो निरपेक्ष है, जहां है तहाँ ही अवस्थित है । वहाँ कुछ भी आये जाये मगर संग नहीं रहता है । तो आकाश की तरह यह मैं आत्मा भी अमूर्त हूं । इस अमूर्त आत्मामें संग क्या आयगा ? हाँ इतनी बात यहाँ गड़बड़ीकी भी हो जाती है व्यामोहमें कि चूंकि इसका चैतन्य है और कर्मउपाधिका अनादिसे बन्धन चला आ रहा है और वहाँ यह अशुद्ध पर्यायमें चला आ रहा है । यहाँ ऐसी योग्यता है कि अपने उपयोगको अपने स्रोतसे निकालकर अर्थात् बाह्यदृष्टि करके ये विकल्प रें तो उन विकल्पोंका संग बना, वे विकल्प संग हो गए, लेकिन वे विकल्प भी तो मेरे स्व-रूप नहीं, मेरे स्वभाव नहीं, मेरे ही आधारसे मेरे ही उपादानसे परकी अपेक्षा बिना, सम्बन्ध बिना होता हो ऐसा तो नहीं है, अतः रागादिक रूप ही मैं नहीं, वे विभाव मेरे नहीं । मैं तो एक शुद्ध चिन्मात्र हूं । उस स्वरूपको दृष्टिमें लेकर यहाँ निरख रहा है ज्ञानी कि मैं आकाशवत् निःसंग हूं । यह ज्ञानी पुरुष अपने आपका जिस रूपसे प्रत्यक्ष करता है उस रूपसे स्वाद लेता है, ऐसा उक्त श्लोकमें जो बताया है उसके ही स्पष्टीकरणमें यह सब चिन्तन बताया जा रहा है कि ज्ञानी पुरुष अपने आपको कैसा अनुभवता है, उसे अपना सम्वेदन प्रत्यक्ष किस भांति हो रहा है ।

ज्ञानी पुरुषका इन्द्रियातीत अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य सम्पन्नताके रूपमें आत्मावलोकन—ज्ञानी पुरुष निरखता जा रहा है कि मैं इन्द्रियातीत अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनन्दकी मूर्ति हूं अर्थात् अनन्त स्वाभाविक गुण वाला हूं । सिद्ध प्रभुमें जो अनन्त ज्ञानादिक प्रकट हुए हैं वे क्या कहीं बाहरसे लाकर प्रकट हुए हैं ? वे सब उन निर्मल परि-णामोंके आवरक घातक कर्मोंके अभाव होनेपर स्वयं ही अपने आपमें प्रकट हुए हैं अथवा स्व-भावदृष्टिसे यह परख लीजिए कि वे सब आत्मामें ही थे, स्वभावमें ही थे, उस ही प्रकारका

स्वरूप है लेकिन जब आवरण पड़ा है तो वह तिरोहित था। आवरण मिटा कि वह प्रकट हो गया। तो जो द्रव्य शुद्ध है, जीव है, वही द्रव्य, वैसा ही द्रव्य तो मैं हूं। वही शक्ति, वही स्वभाव मेरेमें भी है। उस ही स्वभावरूप हूँ। तो भले ही कर्म आवरणकी दशामें आवरण हो रहा है इन अनन्त गुणोंके विकासका, लेकिन आवरण होकर भी बात वही है जैसी कि सिद्ध प्रभुमें है। तो इस अन्तःस्वभावकी दृष्टिको लेकर यह ज्ञानी चिन्तन कर रहा है कि मैं इन्द्रियातीत, अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक गुण वाला हूं। जब तक अपने स्वभावकी महिमाका परिचय नहीं होता तब तक स्वभावकी ओर दृष्टि न जायगी। स्वभावकी ऐसी ही अपूर्व महिमा है कि जिस प्रकार सिद्ध प्रभुकी व्यक्त महिमा बन रही है वही महिमा मेरे स्वरूपमें है। तो ऐसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द—इन चार महागुणोंसे सम्पन्न हूं। जैसा जो जीव अपनेको निरखता है उस प्रकारसे वह अपनेमे अनुभव, स्वाद, फल प्राप्त करता रहता है। स्थूल रूपसे यहीं देख लो—यह मनुष्य सुखी भी है, दुःखी भी है। जब अपने दुःखोंकी ओर दृष्टि देता है तो उसे सुख नहीं मालूम होता कि मैं कितनी अच्छी स्थितिमें हूं, उसे दुःख ही दुःख नजर आते हैं। जरा-जरासी बातें भी दुःखरूप प्रतीत होने लगती हैं और जब वे सब अपनी सुखमय उत्कृष्ट स्थितिको निरखता है तो उसे यहाँ कोई दुःख नही मालूम होता है। और यों ही लगता है कि यह आया है, यह जा रहा है, मैं कुछ भी दुःखी नहीं हूं। मैं तो बहुत समृद्धिवान हूं। तो इसी प्रकार जब इस ज्ञानीने अपनेको अनन्तचतुष्टयसम्पन्न देखा तो यही अनुभव कर रहा है कि जिसमें उसे ऐसा ही निर्मल आनन्द जग रहा है।

ज्ञानी जीवका अतीन्द्रियसुखाद्यनन्तस्वाभाविक गुणान्वित रूपमें स्वात्मावलोकन—यह ज्ञानी जीव अपने आत्माका किस प्रकार अवलोकन करता है, यह प्रसंग चल रहा है। यह पुरुष अपने आपको अतीन्द्रिय अनन्त सुख स्वाभाविक गुणोसे युक्त अनुभव करता है। जब यह अपने विशुद्ध सत्त्वपर दृष्टि देता है तो वहां इसे यही देखनेमें आता है कि यह तो मैं निराकुल स्वभाव हूं। मेरेमें विकल्प, आकुलता होनेका स्वभाव ही नहीं है। जिसका स्वभाव नहीं है वह यहां ही से कैसे बता सकते हैं? किसी परका आश्रय करनेपर यह इसमें भूमिका बन जाती है आकुलताके लिए किन्तु आकुलता इस आत्माका स्वभाव नहीं है, और जब स्वभाव नहीं है तो इसकी निराकुल दशा हुई तो वह निराकुलता कितनी है इसकी यहां सीमा नहीं हो सकती। तब उसे यह कहेंगे कि अनन्त है। एक तो प्रकृतिरूपसे अनन्त है और दूसरे अविनाशी रूपसे भी अनन्त है, जिसके यह निराकुल दशा प्रकट हो जाती है पर्याय होनेके कारण प्रतिक्षण सदृश निराकुलता परिणमन होनेपर भी इसका कभी अभाव नहीं हो सकता। ऐसी अनन्त निराकुल स्थितिसे मैं सहित हूं। यद्यपि वर्तमानमें ज्ञानीके यह स्थिति प्रकट नहीं हुई किन्तु जब स्वभावमें निरखते हैं तब उसे आकुलता नजर न आनेके कारण इस ही ढंगसे प्रतीति

होती है, क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है। निराकुल स्थितिमें सीमा नहीं हो सकती। कारण
कि वह समस्त आकुलताओंसे रहित स्थिति है। वहां विपमता होती ही नहीं और जहां विप-
मता नहीं है वहां उसकी सीमा भी नहीं की जा सकती। सीमा जितनी भी बना करती है
विषम परिणतियोंमें बना करती है। जो शुद्ध स्वाभाविक समपरिणमन है उसमें अनुभागकृत,
शक्तिकृत सीमा नहीं की जा सकती है। यों ज्ञानी जीव अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द नामक स्वा-
भाविक गुणसे अन्वित अपने आपको देखता है।

ज्ञानमूर्ति आत्मद्रष्टा पुरुषके प्रसङ्गवश अन्येच्छा होनेपर भी अतत्परताके कारण कृतार्थताका ही अनुभवन—यह ज्ञानी जीव अपने आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट आदि रूपमें देखता
हुआ रहता है। प्रायः किसी प्रसङ्गवश प्रयोजनसे अन्य पदार्थकी भी इच्छा करता है, तो करे,
लेकिन वास्तवमें यह तो कृतार्थकी तरह है, उस पदार्थमें उसको व्यासक्ति नहीं है, क्योंकि यह
तो एक ज्ञान मूर्ति वाला हुआ है। इसे ज्ञानमें यह प्रतीति है, भान है कि मैं तो केवल ज्ञान-
मात्र हूं, इस ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वमें किसी दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं है। तब उसको आकु-
लता और क्षोभका प्रसंग ही क्या है? ऐसा अपने आपको निरखते हुए यह ज्ञानी पुरुष ज्ञान-
मूर्ति कहलाता है। ऐसा ज्ञानमूर्ति सम्यग्दृष्टि जीव अविरत या देशसंयत या प्रमत्तविरतकी
स्थितिमें प्रयोजन माफिक किसी वस्तुकी इच्छा भी करे तो भी वह कृतार्थकी ही तरह है,
क्योंकि उसके अन्तः यह निर्णय है कि जगतमें कुछ भी कार्य मेरे करने योग्य नहीं है, अतएव
मैं उन सबसे निरत ही रहूंगा। इस निर्णयके कारण उसके किसीमें भी अन्तः इच्छा नही
उत्पन्न होती है।

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥२३८॥

ऐहिक वैषयिक सुखकी सुखभासता व दुःखरूपताका स्मरण—सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसा
विचार कर रहा है कि सांसारिक जितने भी सुख हैं वे वैषयिक हैं। किसी परविषयका
आश्रय करके उत्पन्न हुए हैं, इस कारण सुख नहीं हैं, किन्तु सुखाभास हैं और सुखाभास भी
क्या कहें, निःसंशय वह सब दुःखरूप ही हैं। सर्व परपदार्थोंमें विविक्त अपने आपके स्वरूप
एकत्वमें यह गत आत्मा किन्हीं भी बाह्य वस्तुओंपर दृष्टि करे और वैसे ही रागद्वेषकी बात
करके अपने आपमें क्षोभका परिणमन पाये और उस स्थितिमें समझे कि मैं दुःखी हूँ, मेरे मौज
है तो उसकी ऐसी दशा है कि जिससे बरबादी तो हो रही है किन्तु अपनी बरबादी नहीं सम-
झते और उसी बरबादीसे मोह किया जा रहा। यों समझिये कि जैसे कोई अपने ही घातका
साधन खुद जुटाये ऐसा कोई लोकमें हो तो उसे विवेकी नहीं कहते, इसी प्रकार ये संसारी
प्राणी खुदके घातका साधन खुद जुटाते हैं तो इन्हें विवेकी कैसे कहा जायगा? तो जितने भी

ऐहिक सुख हैं वे सब वैषयिक हैं, सुखाभास हैं । और इतना ही नहीं, किन्तु वे निःसंशय दुःखरूप ही हैं । किस तरह वे दुःखरूप हैं—इस सम्बन्धमें आगे विवरण आयगा, पर संक्षेपतः यहाँ यह निर्णय रखना कि जैसे दुःख दुःखरूप है इसी प्रकार संसारका सुख भी दुःखरूप है ।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥२३६॥

दुःखरूप, दुःखफलरूप सुखाभासकी हेयता व अनिष्ट सुखाभासके हेतुभूत कर्मकी भी हेयता—चूंकि वह सुखाभास है, दुःखरूप है, दुःखका कारण है, इस कारणसे वह सारा सुखाभास हेय है, त्यागनेके योग्य है । सुखाभास ऐहिक सुख दुःखरूप है । यह बात तो उस सुखके भोगते समय कुछ विवेक जगायें तो स्वयं भी परिचय कर सकते हैं, पर पर है, ऐसा भान रखते हुए फिर उस सुखकी मीमांसा की जाय तो वहाँ विदित होगा कि सिवाय क्षोभके यहाँ और कोई फल नहीं है । वैषयिक सुखोंमें अनन्त काल बिता दिया लेकिन किसी सुखसे यहाँ अब तक अघाया नहीं जाता । जैसे कि ज्ञान प्रकाश नहीं होता है । तो यह इन सांसारिक सुखोंको भोगकर अपना कौनसा काम निकाल लेगा, अपना क्या पार पा लेगा ? इन सुखों मौजोंमें यह रीता ही रहता है, भरा पूरा नहीं रहता । तृप्ति हो, अनाकुलता हो, धीरता हो, ऐसी स्थिति आये उसीको ही तो कहेंगे कि यह भरा पूरा आत्मा है और जहाँ क्षोभ है, आकुलता है उसे कहेंगे कि यह रीता पुरुष है । तो इन सुखोंको भोगकर भी कोई भरपूर नहीं बन सकता, किन्तु रीता और दीन हीन ही रहा । तो यह सांसारिक सुखाभास हेय है । यह हेय है इतना ही नहीं, किन्तु इसका जो कारणभूत कर्म है वह भी हेय है । ये विषयसुख सर्व ओरसे अनिष्ट करने वाले हैं और इन विषय सुखोंका कारणभूत कर्मबन्धन भी अनिष्टका ही हेतु है । इस कारण ये सब कर्म भी हेय हैं । कर्मका कैसा आच्छादन है कि मूर्त होनेके कारण इनका आत्माके साथ गठजोड़ा भी नहीं बनता कि काठ बन जायें या ये छू लें, पकड़ लें, फिर भी ये कर्म इस जीवके साथ ही रहते हैं । एक क्षेत्रावगाही हैं, इनका निमित्तनैमित्तिक भाव है, सो कर्ममें इस तरहके विपाकके सम्बन्ध बनाये रहनेकी प्रकृति कब तक है जब तक कि कर्मके फलमें इस जीवकी रुचि है । जिस क्षण कर्मके फलमें राग न रहेगा, कर्मफलसे उपेक्षा बन जायगी, समस्त वैषयिक सुखोंमें वैराग्य बनेगा तो जैसे धूलभरी गीली धोतीमें जब गीलापन न रहेगा, सूख जायगी तो वह धोती रजकणमें कहाँ तक चिपटेगी ? थोड़ासा झड़का कि वह सब गिर जायगी । तो जैसे उन रजकणोंके चिपकानेका, बन्धनका, लगाये रहनेका कारण है धोतीकी गिलाई, इसी तरह समझना चाहिए कि इन कर्मोंके विपाकका, बन्धनका, साथ बने रहनेका, कर्मफल देते रहनेका सबका साधन है कर्मफलमें रागका होना । सम्यग्दृष्टि जीवको न कर्ममें राग है और न कर्मफलमें राग है । इस वैराग्यके बलसे पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा वहाँ भी

होती है और शारीरिक क्रिया भी बनें तो वह भी निर्जराका ही कारण बनती है ।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ।।२४०।।

विपरीत विपाकमय, दुःखफलरूप पौद्गलिक कर्मकी अष्टविधता—ये समस्त कर्म पौद्गलिक हैं और ८ प्रकारसे कहे हैं । कार्माणवर्गणा जाति नामके पुद्गल स्कंध जिनमें यह योग्यता है कि जीवके कषाय भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणम जाय और और जीवके साथ वन्धनको प्राप्त हो, ऐसे ये कर्म जीवके सुख दुःखके कारणभूत होते हैं । कर्मके पर्यायवाची अनेक शब्द लोकरूढ़िमें प्रचलित हैं, भाग्य, तकदीर, दैव, किस्मत आदिक, लेकिन इनके सम्बंध में इनका सही स्वरूप क्या है—यह निर्णय लोगोंके नहीं है । भाग्य क्या है, तकदीर क्या कहलाती है ? किसीका ख्याल बनता है कि कोई ईश्वर मस्तकमें रेखायें खींच देता है तकदीरके रूपमें, किसीका ख्याल है कि यों तकदीर दे देती है । क्या भाग्य है, क्या तकदीर है, इसका निर्णय अन्य लोगोंके यहाँ नहीं पाया जाता, किन्तु जैनदर्शनने इसका स्पष्ट निर्णय किया है कि वह कर्म, किस्मत, तकदीर, भाग्य दो प्रकारका है—१—भावरूप २—द्रव्यरूप । तो भावरूप तो जीवके विभाव कहलाते हैं और द्रव्यरूप ये पौद्गलिक स्कंध हैं कार्माणवर्गणा जातिके । जीवके कषाय भावका निमित्त पाकर ये सूक्ष्म कार्मावर्गणा स्कंध जो अप्रतिघात हैं, इतने सूक्ष्म हैं कि जिन्हें यों अमूर्तवत कह लीजिए । जब पहाड़से, वज्रसे, किसीसे इनका प्रतिघात नहीं हो सकता तो इन्हें सूक्ष्म तो कहेंगे ही । जहाँ स्कंधोंका प्रकरण आया है वहाँ इन कार्माणवर्गणाओं को सूक्ष्म बताया गया है । तो ऐसे सूक्ष्म पौद्गलिक स्कंध स्वतः ही कर्मरूप परिणम जाते हैं जब तक कि जीवके कषायभावका निमित्त प्राप्त होता है । ऐसे ये पौद्गलिक कर्म ८ प्रकारके कहे गए हैं—इनकी मूल प्रकृति ८ प्रकारकी है । प्रकृति कहते हैं स्वभावको । किस रूप फलके ये कारण बनेंगे उस स्वभावके नातेसे इसकी प्रकृतियाँ कहलाती हैं । इसी कारण कर्मका दूसरा नाम प्रकृति भी है । ये कर्म आठ प्रकारके हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । इनकी प्रकृति नामके अनुरूप है । ये सभी कर्म दुःखफल वाले हैं ।

कर्मकी विपरीत विपाकताका दिग्दर्शन—जैसे कि कुछ दार्शनिक मानते हैं कि दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष । और जितनी विषमता है लोकमें ठाटबाट है, जीवकी विषमता, अचेतनकी विषमता इन सबका कारण वह प्रकृति है । और दृष्टि समन्वयसे यह बात तथ्यमें भी आती है कि कितनी विषमतायें हैं जीवमें अथवा अचेतनमें, ये सब कर्मप्रकृतिके निमित्तसे हुई हैं । जो सचेतन है प्राणी अथवा कर्मप्रकृतिके उदयसे यह बात हुई यह तो स्पष्ट है, पर जो पत्थर, भींत, चौकी, कलम आदिक दिख रहे हैं अचेतन पदार्थ, इनके कायका, शरीरका

निर्माण भी तब हुआ जब वहाँ जीवका सम्बन्ध था, और उस उस प्रकारकी प्रकृतिका उदय चल रहा था, तब शरीरका ढांचा आदिक ये सब चीजें बनीं। तो इस तरह भी ये सब प्रकृति के उदयके कारण हैं। तो प्रकृतिका इतना बड़ा प्रताप है, फैलाव है तो ऐसे ये पौद्गलिक कर्म ये सभीके सभी विपरीत फल देने वाले हैं, क्योंकि चेतनासे विपरीत हैं। इनकी प्रकृति विपरीत है, इनका फल भी विपरीत है। सो जब इतना उल्टा विपाक होता है, उदयकालमें आता है तो सभी फल दुःखरूप ही होते हैं। बताया गया है कि तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उस सम्यग्दृष्टिकी सीमामें हो सकने वाले संक्लेश परिणामयुक्त सम्यग्दृष्टिके होता है। उसका अर्थ यह है कि वह बहुत काल तक अभी संसारमें रहेगा। तीर्थंकरकी स्थिति अधिक बँध गई, वह सूचना है कि इस सम्यग्दृष्टिके दर्शनविशुद्धि आदिक परिणाम तो तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके अनुकूल हुए, सो तीर्थंकर प्रकृति तो बँध गई, किन्तु परिणाममें, अवस्थामें जितना संक्लेश रूप हो सकता उतना संक्लेशरूप कर डाला। उसका फल यह है कि यह जल्दी मुक्त न होगा। तो जब ऐसी शुभ प्रकृतियोंमें भी स्थितियोंकी अधिकता होनेकी सूचना जब किसी रूपमें ही मिल रही है तब सब प्रकृतियोंकी बात तो स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उनका विपाक हैं वे दुःखरूप ही होते हैं।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥२४१॥

चतुर्गतिमय संसारमें प्राणियोंकी अपदस्थता व कर्मपदस्थता—चतुर्गति संसार रूप चक्रमें पर्यटन करते हुए, घूमते हुये ये जीव अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हैं; किन्तु कर्मस्वरूपमें स्थित हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जो अपना स्वरूप है उस स्वरूपमें स्थित नहीं हैं, वहाँ इसकी दृष्टि और परिणति नहीं है, वहाँ यह तृप्त नहीं हो पाता है; किन्तु कर्मके उदयसे प्राप्त हुए जो रागद्वेष और अन्य साधन इन ही में वह तृप्त रहता है, इन ही में एकाकार अभेद रूप से अपनेको लगाये रहता है। इस तरह यह जीव कर्मपदमें स्थित है। कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये जो पद हैं उन पदोंमें रम रहा है, इस कारण इसे परसमय कहा। जो परसमय हैं वह संसारमें भ्रमण करता है, तो यह स्थिति इस जीवकी जो बनी है इसके होनेमें उपादान तो वह स्वयं है, स्वयं ही उस प्रकार परिणम रहा है और निमित्त वहाँ कर्मका उदय है। कर्म के पदमें यह जीव कब तक स्थित रहेगा? जब तक कि यह विदित न कर ले कि यह स्वपद नहीं है यह पर पद है, इस पर पदमें न रमना चाहिये। स्वपद ही रमणके योग्य है। तो स्व-पदका भान न होनेसे यह जीव कर्मपदमें रम रहा है। जैसे किसी सेठके पुत्रकी जायदाद सर-कारने कोर्ट कर ली हो और उस लाखोंकी जायदादके एवजमें ५००) रु० मासिक भेजती हो तो वह बालक ५००) रु० मासिकमें कब तक रमेगा, जब तक कि उसे अपनी जायदादका

भान न हो। यो ही इस स्वपदका भान न होनेके कारण यह जीव इस कर्मपदमें (परपदमें) रमता है।

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान्।
नाना दुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥२४२॥

अलब्धस्वरूप स्वरूपच्युत जीवका संसारभ्रमण—यह जीव नाना दुःखोंसे भरे हुए संसारमें भूलते हुए अपने स्वरूपसे च्युत हो रहा है और अपने स्वरूपको नहीं पाया है, इस प्रकारकी स्थितिमें बना हुआ है। इस श्लोकमें ३ बातें कही गई हैं—(१) यह जीव दुःखमय संसारमें घूम रहा है। (२) यह अपने स्वरूपसे च्युत है, (३) इसने अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं किया। दार्शनिक पद्धतिसे इसमें कार्यकारणभाव बताया जाय तो इनका उल्टा विशेषण हो जायगा। (१) इस जीवने अपने स्वरूपको नहीं पाया। (२) अपने स्वरूपसे च्युत हुआ, (३) नाना दुःखमय संसारमें घूम रहा। अब इसमें पूर्व बात कारण है और उत्तर बात कार्य है। यद्यपि ये तीनों बातें एक साथ हो रही हैं फिर भी एक साथ होते हुएमें भी कार्य-कारणभाव परखा ही जाता है। जैसे एक साथ दीपक और प्रकाशकी निष्पत्ति हुई लेकिन दीपक कारण बताया गया, प्रकाश कार्य बताया गया। एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान निष्पन्न होते हैं लेकिन सम्यग्ज्ञान कारण बताया गया और सम्यग्ज्ञानको कार्य कहा गया। तो इस जीवने अपना स्वरूप नहीं पाया। यही कारण है कि अपने स्वरूपसे च्युत हो गया। जब अपनेमें अपना आनन्दधाम, विश्रामधाम हमारी दृष्टिमें नहीं है तब यह स्वरूपसे च्युत हो गया, तो पहिला विशेषण कारणरूपी है और दूसरा यह विशेषण कार्यरूप है, और जब इस जीवने अपना स्वरूप नहीं पाया और स्वरूपसे च्युत हो गया तो यह संसारमें घूमता रहा है। इससे यह भी शिक्षा निवृत्तिकी लेना कि हमें यदि यह चाहिये कि संसारमें घूमना बन्द हो जाय, जन्ममरणकी परम्परा हमारी दूर हो जाय तो उसका जो कारण है उस कारणको मिटा दीजिये। संसारमें परिभ्रमणका कारण है अपने स्वरूपसे च्युत मत हो, परिभ्रमण मिट जायगा। अपने स्वरूपसे च्युत न होनेकी बात बनेगी अपनी स्वरूपच्युतिका कारण मिटानेसे। स्वरूप च्युति का कारण हैं, इसने अपने स्वरूपको नहीं पाया। तो अपने स्वरूपको पा लिया जाय तो वे बाधायें दूर हो जायेंगी और अपने स्वरूपको हम पायें, इसके लिए यही प्रयत्न करना है कि वस्तुस्वरूपका अभ्यास करें और जिस प्रकार जो पदार्थ है उस तरहका चिन्तन रखें। निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान। अर्थात् स्वको स्व और परको पर जान लेना यही उपाय है स्वरूपप्राप्तिका, और स्वरूप प्राप्त होनेपर स्वरूप उष्टता समाप्त हो जायगी और स्वरूप प्राप्त हो, स्वरूप च्युति हमारी समाप्त हो तो संसारका परिभ्रमण दूर हो जायगा।

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किञ्चित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम् ॥२४३॥

शुभ अशुभ कर्मके कारण सुख दुःख दोनोंके होनेपर भी केवल दुःखके ही बतानेके कारणकी जिज्ञासा—शंकाकार कहता है कि कोई कर्म तो शुभ बताये गए हैं और कोई कर्म अशुभ बताये गए हैं। तो कर्म दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) पुण्यरूप याने शुभकर्मका उदय होता है तब जीवको सुख प्राप्त होता है और जब अशुभ कर्मका उदय होता है तो जीवको दुःख मिला करता है, और मनुष्योंमें दोनों ही कर्म पड़े हुए हैं—शुभ कर्म भी हैं और अशुभ कर्म भी हैं। तब यहाँ दोनों ही हैं, इनका एकान्त क्यों कहा जा रहा है? और किन्हींको सुख भी है किन्हींको दुःख भी है। जब शुभ अशुभ कर्म सभीमें पाये जा रहे हैं तो उनमें यह विभाग कैसे बनाया कि दुःख ही दुःख है, सुख नहीं है? अरे किन्हींको सुख है और किन्हींको दुःख है। यह ग्रन्थकारके उस मूल कथनके विरोधमें शंका की जा रही है जहाँसे यह बात उठायी कि पौद्गलिक कर्म सभीके सभी चूंकि वे विपरीततासे अपना विपाक किया करते हैं इस कारण दुःखरूप ही हैं, इसके विरोधमें यहाँ शंका की गई है कि सारे कर्म दुःखरूप नहीं हैं, किन्तु जो पाप हैं, अशुभ हैं उन्हें ही दुःखरूप रहना चाहिये और जो शुभ हैं, पुद्गल कर्म हैं वह तो सुख के हेतुभूत हैं। इस कारण संसारी जीवोंमें दुःख ही पाया जा रहा है, यह एकान्त ठीक नहीं, किन्तु किन्हींको सुख है, किन्हींको दुःख, ऐसा कहना चाहिये। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम् ॥२४४॥

असुखहीन सुखको ही सुख बताते हुए उक्त जिज्ञासाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शंका यों संगत नहीं है कि सुखका और दुःखका सही स्वरूप नहीं जाना। सुख और दुःख ये दोनों दुःखरूप हैं—इस बातका शंकाकारने ध्यान नहीं रखा। तो शंकाके उत्तरमें कहा जा रहा है कि सुख तो नहीं कहलाता है जहां थोड़ा भी दुःख न हो। जहाँ असुख नहीं है सुख वहां ही है। अब इस परिभाषासे निरख लो कि स्वरूपसे च्युत रहनेकी स्थिति अपने स्वरूपको न पानेकी स्थिति तब तक है जब तक शुभकर्म भी बँध जाय। पुण्यकर्मके फलमें तो उसके उदय में मिलेगा क्या? कोई इन्द्रिय और मनके विषयकी साधना। उस समय यह अज्ञानी जीव जिसने अपने स्वरूपको नहीं प्राप्त किया, स्वरूपभृष्ट है तो बाह्य पदार्थोंको आश्रयभूत करके क्षोभ ही उत्पन्न करेगा, वहाँ शान्ति न मिलेगी। तो जहाँ दुःख रंचमात्र भी न हो सुख वही है। अब पहिले मोटे रूपमें भी देख लीजिये—गृहस्थीमें लोग इन्हें सुख बतलाते हैं—स्त्री भी है, पुत्र भी है, घर द्वार भी है, कमाई भी खूब हो रही है, बड़े-बड़े आरामके साधन हैं आदिक

लेकिन जरा उन धनिकोंकी २४ घंटेकी दिनचर्या तो देखो तब पता पड़ेगा कि वे सुखी नहीं हैं। तो सुख तो उसका नाम है जहाँ रंचमात्र भी दुःख न हो। पापकर्मके उदयमें दुःख होता है। वह तो सबको स्पष्ट है किन्तु शुभकर्मके उदयमें भी परको आश्रयभूत करनेकी इस जीवकी वृत्ति होती है, इसकी परमें आशा लगी है। बस दुःख यहीसे शुरू हो गया, फिर परके विषय में नाना विकल्प किया, दुःख यह हो गया। तो शुभ कर्मके उदय भी दुःखके फल वाले हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये।

अधर्महीन परिणतिको धर्म बताते हुए उक्त समाधानका पोषण—दूसरी बात इसीकी पुष्टिके लिए कही जा रही है कि धर्म भी वह है जहाँ अधर्म नहीं है। रूढ़िमें कहते ही हैं लोग कि धर्म करो तो सुख होगा। तो उनके धर्मकी परिभाषा पोचली है और उनके सुखकी परिभाषा भी पोचली है। धर्म उनका है शुभ भाव। शुभ कहते हैं मन, वचन, कायकी ऐसी चेष्टाओंको जिनमें जीवकी हिंसा न हो, अमुक प्रकारसे दूसरोंका दुःख मिटे, यही भाव उनके धर्मके अथवा पुण्यके हैं। इन स्थितियोंमें भी जब इस जीवने अपने ज्ञानानन्द घन स्वरूपकी दृष्टि नहीं कर पायी तो ऐसे अज्ञानी जीवकी जो बाह्यमें धर्मक्रिया होती है वह वास्तवमें धर्म नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जहाँ रंच भी अधर्म न हो। अधर्म है मिथ्यात्व और कषाय। जहाँ मिथ्यात्व तो भरा पूरा पड़ा ही हुआ है, क्योंकि अपने स्वरूपकी दृष्टि नहीं है, स्वरूपसे चिगकर बाह्यका ऐसा दिख रहा है तो वहाँ धर्म कहाँ रहा? जहाँ अधर्म रंच भी न हो उसका नाम है धर्म। अधर्म है रागद्वेषादिक विकारोंका परिणमन और धर्म है ज्ञातादृष्टा रहनेरूप परिणमन।

अशुभहीन तत्त्वको शुभ बताते हुए उक्त समाधानका पोषण—उक्त शंकासमाधानकी पुष्टिमें तीसरी बात कहते हैं कि शुभ भी वह कहलाता है जहाँ रंच भी अशुभ न हो। शंकाकारने यह बताया था कि कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है। यहाँ तो यह संकेत दिया जा रहा कि सारे ही कर्म अशुभ हैं, शुभ उनमें कोई है ही नहीं। शुभ और अशुभ तो उन कर्मोंमें प्रयोजनवश उपेक्षासे विभाग बनाये गए हैं। जब सभी कर्म पौद्गलिक हैं, सभी कर्म अज्ञानरूप हैं, सभी कर्म किसी न किसी प्रकारके बन्धनके हेतुभूत हैं तो किसको शुभ कहा जायगा? शुभके मायने जो मंगलरूप है, कल्याणरूप है। कहते हैं ना कि शुभ अस्तु, मायने शुभ हो, मंगल हो, कल्याण हो। तो आत्माका शुभ काम हो, मंगल काम हो ऐसे कर्मका करण कौन कर्म है? तो कर्म भी शुभ अशुभ हैं। वास्तवमें शुभ तो वह कहलाता जहाँ अशुभपना रंच भी न हो। इस तरह इस श्लोकमें यह समाधान दिया गया है कि शंकाकारका यह सोचना कि किसीको सुख है संसारमें और किसीको दुःख है, क्योंकि उनके शुभकर्म और अशुभ कर्मका बन्ध है, उदय है, सो यह बात यों सही न रही कि उन शुभ कर्मोंका जो विपाक होता

है वह विपरीत रूपसे होता है। आत्मा तो है ज्ञानस्वरूप और कर्मका फल होता है अज्ञान रूप, तो कैसे यह कहा जायगा कि कोई कर्म सुख देता है। सभी कर्म अशुभ हैं। सभी कर्म दुःखके हेतुभूत हैं, और सभी कर्मोंके भाव अधर्मरूप हैं। तब यह निश्चित हुआ कि संसारमें घूम रहा यह जीव स्वरूपसे च्युत है, अपने स्वरूपको इसने पाया नहीं है, और नाना दुःखोंको यह सह रहा है।

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम्।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥२४२॥

सांसारिक सुखकी दुःखरूपताका चित्रण—यह इन्द्रियसे होने वाला सुख पराधीन है, अब उसके सुखके विषयमें बताया जा रहा है कि वास्तवमें दुःखरूप है। उक्त श्लोकमें यह समाधान दिया गया कि सुख संसारमें कहीं नहीं। जिसे सुख समझा जा रहा हो वह सुख नहीं है, किन्तु दुःख ही है। तो सारे संसारके सुख दुःखरूप ही हैं, इस बातका समर्थन इस श्लोकमें किया गया है। ये सारे वैषयिक सुख स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय और मनइन्द्रियके विषयभूत जो भी भोगोपभोग हैं इनका आश्रय करके, इनका विषय करके जो सुख जीवके होता है वह पराधीन है। पहिले तो कर्मका उदय चाहिए। उस उदयके बिना सांसारिक, वैषयिक सुख नहीं मिलता, फिर उन कर्मोंके उदयके विपाक होनेके लिए नोकर्म चाहिए, कोई आश्रयभूत पदार्थ चाहिये। उस आश्रयभूत पदार्थका समीप रहना, न रहना, बिछुड़ना, कुछ होना यह तो इसके आधीन है नहीं। तो कितनी पराधीनतायें हैं जिनमें कि यहाँ सुख माना जा रहा है ? विरुद्ध है सुख, इतनेपर भी कोई यदि ऐसा गम खाये कि है विरोध तो रहने दो, सुख तो मिल जायगा। थोड़ा विरोध हो जायगा तो हो जाने दो, पर कुछ मौज तो मिलेगा। तो कहते हैं कि अरे ये सांसारिक सुख बाधासहित हैं। अगर ये सुख बाधारहित होते और परके आधीन होते तब भी यह कर्तव्य हो जाता कि पावो ये वैषयिक सुख, भले ही पराधीन हों, क्योंकि वे सुख मिलेंगे तो ज्योंके त्यों रहेंगे, उसमें कोई बाधा न आयगी, लेकिन ऐसा होता कहाँ है ? ये सांसारिक सुख तो पराधीन हैं और बाधासहित हैं, इन सुखोंके बीच क्षण-क्षणमें अनेक बाधायें रहती हैं। जो लोग कुटुम्बमें रहकर स्त्री, पुत्र, बान्धव आदिकका सुख मानते हैं उनको उन्हींकी वजहसे, उनके ही कारणसे कितनी प्रकारकी बीचमें बाधायें आती रहती हैं। कभी वे लोग नाराज होकर कटुक वचन कह देते हैं। कहीं किसीकी आशाकी पूर्ति न कर सके तो रूठे-रूठे रहते हैं,....। तो घर कुटुम्बमें रहकर भी जिनमें सुख माना जा रहा है उनके बीच भी देखो कितनी बाधायें भरी हुई हैं, और फिर कोई यदि ऐसा भी सोच ले कि चलो रहने दो, सुख पराधीन भी रहें और बाधासहित भी रहें, फिर जितनी देर बाधा न रहे उतनी देर तो मौज लूटनेको मिल जायगा। ये इसप्रकार

तो तीसरा विशेषण बताया है कि ये महाराज उस सुखसे हमें मना क्यों कर रहे हैं…? सांसारिक सुख शांत हैं, अर्थात् अन्तसहित हैं, विच्छुन्न होते हैं। जिस समय जो सुख मिला वह दूसरे क्षण भी न ठहर सकेगा, विनाशीक है। इस कारण ऐसे इन सांसारिक सुखोंमें रति नहीं करना चाहिये। और ऐसे सुखोंके कारणभूत कर्मको भी दुःखका हेतु ही समझना चाहिये। इतनी खराबियाँ सुखोंमें होनेपर भी और भी खराबियाँ बतला रहे हैं कि सुख मिला, पराधीनता भी सही, व्याकुल भी हुए, नष्ट भी हो गए, पर एक बाधा और दे गए, वे बंध करा गये आगेके लिए, तो ये सुख बन्धके कारणभूत भी हैं। इतनी तक भी खैर नहीं है कि चलो रच लें, पिट लें, जो बने सो बने, खेल खत्म हो गया, यहाँ तक ही बात नहीं है। वह आगेके लिए भी बन्धन करा जायगा, जकड़ा जायगा। तो यों वह बन्धका हेतु भी है। इस तरहसे वह सुख महाविषम क्लेशरूप है, और बड़े उतार चढ़ाव वाला है, सदा क्षोभको उत्पन्न करने वाला है, इस कारणसे यह सुख जो है वह दुःखरूप ही है, यह इसका सारांश निकला।

भवार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात्।
बज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥२४६॥

कर्मोदय द्वारा बज्राघातकी तरह जीवका निष्पेषण—उक्त कथनका सारांश यह है कि अशुभ कर्मोका उदय एक क्षणमात्रमें बज्रपातकी तरह आत्माको बुरी तरहसे पीस देता है। पिसना किसे कहते हैं यदि इसका ठीक स्वरूप जानना है तो जो नहीं पिसे हैं ऐसे प्रभुके स्वरूपको देखें तो विदित होगा कि इसका नाम पिसना है। जिन कर्मोसे पिस रहे उन्हीं कर्मोको अपना रहे, पर उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि हम इन कर्मोंसे पिस रहे हैं। जो स्वरूप अरहंत का है, जो आनन्दमय है, जो सर्व परसे विविक्त हैं, जिनमें जरा भी क्षोभ नहीं है ऐसी स्थिति जो प्रभुमें गुजर रही है उसको निरखिये तो ध्यान आयगा कि पिसना इसका नाम है। यह मैं आत्मा इस तरह कर्मोके वश होकर पिस रहा हूं। अथवा अपने आपकी अनुभूतिसे भी समझमें आयगा। जब स्वानुभूतिका आनन्द जिसे प्राप्त होगा तो उस आनन्दको मुकाबले रखकर समझ पायगा कि पिसना इसको कहते हैं। ये जो रागद्वेष विकल्प, विचार, क्षोभ, आकुलता आदिक हो रहे हैं इनमें उस स्वरूपकी दृष्टि नहीं हो सकती। इसीका नाम पिसना है। तो ये कर्म उदयकालमें ही क्षणमात्रमें ही उदय भी एक क्षणको होता है और फल भी एक क्षणको मिलता है। तो क्षणमात्रमें ही समस्त कर्मोका उदय बज्रपातकी तरह चोट पहुंचाता है और इसको पीस डालता है। जहाँ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति पूर्ण हो गया, यह अपने विकासमें न रह सका, विकृत हो गया, इसको पतासा ही नही चल रहा तो इससे बढ़कर पिसना और क्या कहलायेगा? तो सभी कर्म दुःखरूप हैं और ये कर्म इस आत्माको बज्रपातकी तरह पीस डालते हैं।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोवलब्धितः ।।२४७।।

अग्नियोगसे संतप्त जलकी भांति कर्मोदयसे जीवके सर्व प्रदेशोंमें व्याकुलता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि अशुभ कर्मका उदय बज्राघातकी तरह इस जीवको पीस डालता है। तो उसीकी पोषणामें यह कहा जा रहा है कि कर्मके उदयसे यह जीव सर्व प्रदेशों में व्याकुल है और इस तरह व्याकुल है, इस तरह खौल रहा है जैसे कि अग्निके सम्बन्धसे तप होकर जल खौला करता है। तो वहाँ जैसे बज्राघातकी तरह पीसनेकी बात कही गई थी तो इस श्लोकमें अग्निके सम्बन्धसे खौलते हुए जलकी बात बतायी जा रही है। जैसे गर्म करनेपर जल खलबला जाता है, उसे कहीं स्थिरता नहीं रहती है, इसी प्रकार यह जीव भी सर्व प्रदेशोंमें व्याकुल रहता है, संतप्त रहता है, सर्व प्रदेशोंमें खलबला जाता है। तो इसी तरह कर्मोंका उदय इस जीवके लिए दुःखका हेतुभूत है। यह सब प्रसंग चल रहा है शंकाकारकी उस शंकाके समाधानमें तो यह शंका की गई थी कि जब शुभकर्म भी हैं, अशुभ कर्म भी हैं और शुभकर्मके फलमें सुख होता है तथा अशुभकर्मके फलमें दुःख होता है तब केवल जीवोंके दुःख ही क्यों बताया गया है कि इन जीवोंके केवल दुःख ही है। सुख भी तो है। समाधानमें बताया जा रहा कि यहाँके ये वैषयिक सुख सुख नहीं हैं, बल्कि सुखकी स्थितिमें भी यह जीव पिसा हुआ रहता है, खलबलाता हुआ रहता है, सर्व प्रदेशोंमें व्याकुल रहता है। ऐसा ही कर्मोदयका और जीवकी व्याकुलताका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। अब यहाँ भी देख लीजिये—पानी जो आगके सम्बन्धसे गर्म हुआ तो आगकी कोई चीज पानीमें न पहुंच सकी, पानी और आगमें भिड़ंत नहीं हो पायी, लेकिन ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसके उस तरहके सम्बन्धको पाकर पानी खलबला जाता है। तो यहाँ भी देखिये—जीवमें कर्म स्पर्शको प्राप्त नहीं हो सकते, जीवमें कर्मकी गाँठ बँध जाय ऐसी बात नहीं है, फिर भी एक सम्बन्ध है निमित्तनैमित्तिक भावरूपमें कि कर्मके उदयमें यह जीव इस तरह सर्वप्रदेशोंमें व्याकुल हो रहा है।

साताऽसातोदयादुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ।।२४८।।

सर्वकर्मोदयाघातसे चिदात्माका आघात—यह जो कथन किया गया है कि सातावेदनीयका उदय हो अथवा असाता वेदनीयका उदय हो उससे दुःख ही होता है। यह तो एक सांसारिक कल्पना अपेक्षासे जीवोंको समझा गया है। साता कर्मके उदयसे जीवको दुःख होता है और असाता कर्मके उदयसे जीवको दुःख होता है, किन्तु इस दृष्टिसे देखिये कि सुखके मायने

तो हैं कि जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे और दुःखके मायने हैं कि जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे। यह सुख इन्द्रियोंको सुहावना तो लगता है मगर उस सुहावनेमें व्याकुलता, संताप कितना बसा हुआ है ? उसको अगर देखते हैं तो यह कहना होगा कि वह भी दुःख ही है। तो इस तरह स्थूलदृष्टिसे यहां बात आयी कि चाहे शुभ कर्मका उदय हो, चाहे अशुभ कर्मका उदय हो, दोनों ही स्थितियोंमें जीवको दुःख होता है। यह एक मोटा लक्षण बताया और वस्तुतः तो समस्त कर्मोंका ही उदय जीवात्माको उस तरह घात पहुंचाता है जिस तरह कि बज्रकी चोट पहुंचाती है। जो ग्रन्थोंमें वर्णन है कि साताके उदयसे सुख और असाताके उदय से दुःख प्राप्त होता है तो यह तो एक लोगोंके ख्यालके मुताबिक बात बतायी गई है। अथवा सुखका अर्थ इतना ही है कि जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, पर दुःख, क्लेश, संताप, शोक, चिन्ता आदिक तो सभी लोगोंमें हैं और सबसे कठिन दुःख तो है तृष्णाका। उसमें लगना, आसक्त होना, सो यह सब साताके उदयकी करामात है। जिन जीवोंके जिस तरह जितनी साताका उदय है मोह अवस्थामें जीवको उतनी ही तृष्णा बढ़ी हुई है व्यक्त रूपमें। अभी जंगलमें रहने वाले भीलसे कोई प्रसन्न होकर कहे कि तुम्हें जो मांगना हो सो मांग लो, तो उसकी मांग रहेगी अधिकसे अधिक एक दो माहकी भोजनव्यवस्थाकी, और अगर किसी धनिक से कोई कहे कि भैया तुम्हें जो चाहिए सो माँग लो, तो शायद वह तो यही कह देगा कि तुम्हारे पास जो कुछ हो सब हमें दे दो। तो जिन मोहियोंके साताका उदय है उनको तो तृष्णा बहुत बढ़ी हुई होती है। कैसे उन्हें कहा जायगा कि ये सुखी हैं, आराममें हैं ? तो इससे यह सिद्ध हुआ कि साता कर्मके उदयसे भी दुःख है और असाता कर्मके उदयसे भी दुःख है, [illegible]न इससे भी बढ़कर बात देखिये—केवल साता और असाताकी ही बात न समझिये—[illegible]सारे कर्मोंके उदयमें जीवको दुःख है। वज्राघातकी तरह ये कर्म उसे चोट पहुंचाते हैं जिससे यह जीव सर्वप्रदेशोंमें व्याकुल रहता है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥२४६॥

वातव्याधिसे अस्थिसन्धिपीडाकी तरह सुदृष्टियोंके प्रदेशोंमें भी आघात—उक्त श्लोक में यह सूचना दी थी कि साता और असाता इन दोनोंके उदयसे दुःख होता है, क्लेश होता है, संताप होता है, व्याकुलता बनती है। उसके बाद उस ही श्लोकमें यह बता दिया था कि केवल साता और असाताके उदय ही पीड़ाके कारण नहीं है, किन्तु जितने भी कर्म हैं सभी कर्म इस जीवको चोट पहुंचाने वाले है। यह तो कथा थी मोहियोंकी। अब इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि इतने तक ही इसकी गनीमत नहीं है कि मोहियों तक ही सारे कर्मोंसे दुःख हैं किन्तु उससे भी अन्तरङ्गमें देखिये तो सम्यग्दृष्टि जीवके भी कर्मके उदयसे प्रदेशमें घात हो

रहा है। यह यहाँ तीसरी बात कही जा रही है, और उक्त श्लोककी दो बातोंसे भी और गहरे चलकर देखना है। सम्यग्दृष्टिकी नीचली भूमिकामें जिसके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय चल रहा है, संज्वलन कषायका भी उदय चल रहा है ऐसे जीवोंके प्रदेशोंमें कर्मका आघात चल रहा है और इस तरह चल रहा है कि जैसे वातव्याधि होनेके कारण देहकी संधियोंमें घुटना आदिकमें जैसी पीड़ा पहुंचती है, अन्तर्व्यथा रहती है इस तरह अन्तः पीड़ा सम्यग्दृष्टिके उन प्रदेशोंमें भी पड़ी हुई है। सम्यग्दृष्टिके विजय तो भेदविज्ञानसे हो रही है, पर पीड़ाकी बात कहो, आघातकी बात कहो तो जिस कर्मका उदय जितने आघातका कारण है वहाँ उतना आघात हो रहा है। अब यहाँ एक भेदज्ञान बलकी बात है कि वहाँ उपयोग नहीं देते हैं, उस रूप अपनेको अनुभव करने वाला नहीं मानते हैं, स्वभाव नहीं मानते हैं, पर न मानकर भी कुछ हो ही रहा है। तो उन प्रदेशोंमें कर्मका आघात है। जिस तरह वात रोगकी वजहसे शरीरके घुटने, कमर आदिककी हड्डियाँ अन्दर ही अन्दर जो पीड़ा देती हैं उनका अनुभव वही पुरुष करता है जिसके बात रोग है। वह तो बेचारा उस दर्दकी वजहसे चिल्लाता है, हैरान होता है पर देखने वाले लोग नहीं समझ पाते हैं कि इसको कहाँ क्या दर्द है? कहीं कोई फोड़ा फुंसी आदिक हो, या और भी कोई ऊपरी रोग हो तो उसे तो देखकर जान सकें कि कहां क्या वेदना है, पर जो वेदना संधियोंके जोड़में है उसका कोई क्या अन्दाज करे, उसकी कोई क्या पहिचान करे? इसी तरहकी वेदना सम्यग्दृष्टिके प्रदेशमें भी कर्म द्वारा होती रहती है।

न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ।।२५०।।

कर्मोदयमें सुखावहताका अभाव—उक्त समाधानके सारांशमें कह रहे हैं कि ऐसा कोई भी कर्मोदय नहीं है जो जीवको सुख पहुंचाने वाला हो। १४८ प्रकारकी कर्मप्रकृतियाँ हैं, उन कर्मप्रकृतियोंका उदय इस जीवके आनंदका कारण हो सकता है क्या? जीवका आनंद तो जीवका जो शुद्ध आत्मद्रव्य है उसके आधारसे ही हो सकता है। किसी कर्मके आधारसे जीवका आनन्द प्रकट नहीं होता है। यद्यपि जितनी ही शुभ प्रकृतियां ऐसी हैं जिनका नाम सुनकर लोगोंको जो थोड़ा बहुत धर्मके नामपर लग रहे हैं, तृष्णा जग जाती है कि मेरेको तो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हो और उसके लिए जानबूझकर भावना करें, यत्न करें तो लोगोंको तृष्णा भी बन जाती है, मगर तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होनेपर क्या आनन्द गुणका विकास है? उसके उदयमें जो हो रहा है सो हो रहा है। मेरे आत्मामें क्या अभ्युदय हो रहा है, हो गए तीर्थंकर, दिव्यध्वनि खिर गई, जीवोंका भाग्य है, उनका वचनयोग है, मगर स्वरूपतः देखो कि उस उदयसे उस जीवके, जिसके उदय चल रहा है, ज्ञानमें आनंदमें, किसमें विशेषता

आती है ? ज्ञान और आनन्दमें जो अनन्तता आयी है वह तीर्थङ्करके उदयके कारण नहीं आयी। ज्ञानावरणके क्षयसे और मोहनीय कर्मके क्षयसे वे बातें प्रकट हुई हैं। तो इस तरह अन्य भी शुभ प्रकृतियोंके मर्मको देख लीजिये—साताका उदय तो प्रकट ही एक दुःखरूपको बता रहा है कि वहाँ क्लेश है, तृष्णा लगी है, चिन्ता लगी है, । जिन जीवोंको साताका उदय होनेपर भी कष्ट नहीं है, व्याकुलता नहीं है तो यह न समझना कि साताके उदयसे अनाकुलता है, उसका कारण दूसरा ही है। दूसरेका अभाव होना, भेदविज्ञानका जगना इसमें अनाकुलता चल रही है। साताका उदय अनाकुलताका हेतुभूत नहीं है। इस तरह सिद्ध हुआ कि कोई भी ऐसा कर्मोदय नहीं है जो इस जीवको सुख पहुंचाने वाला हो। जीवके लिए तो सारे ही कर्म विलक्षण, विपरीत स्वरूप वाले हैं। याने जीव तो चैतन्य है, कर्म जड़ हैं, इतना विपरीत स्वरूप है, फिर उस जड़का विपाक इस जीवकी समृद्धिके लिए कैसे हो सकता है ? चाहे शुभकर्म हों, चाहे अशुभकर्म हों, वे इस जीवके लिए दुःखदायी ही हैं। यहां तक शङ्काकारकी उस पूर्ण शङ्काका समाधान चला है कि सभी जीवोंको मनुष्योंको केवल दुःख ही है इस संसारमें कर्मके विपाकसे। इस तरह पुद्गल कर्मके विपाकसे इस जीवका संसारमें परिभ्रमण हो रहा है और उसका कारण यह है कि इसने अपना स्वरूप पाया नहीं और अपने स्वरूपसे च्युत हो गया है।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित्।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥२५१॥

कर्ममन्दोदयमें समनस्क जीवोंकी विषयरमणविपदा—उस कर्मका मन्द उदय होनेसे जिस कर्मकी चर्चा बहुत चलायी गई है कि सारे कर्म दुःखरूप हैं, दुःखका ही फल देते हैं, उन कर्मोंका मन्द उदय होनेसे कोई मनसहित जीव कर्मके वेगको न सहन कर सके तो विषयोंमें रमने लग जाता है। यहाँ कर्म बातपर प्रकाश डाला गया है, और देखा जाता है कि संज्ञी जीवोंके, मनुष्योंके नाना प्रकारके विषयभोग सामग्री होती है, विषयोंमें रमते हैं, मौज मानते हैं तो कर्म तो वहाँ बड़ी स्थितिके पाये जाते हैं और अनुभाग भी इनका बहुत ज्यादा तक हो सकता है, लेकिन यहां इस बातका निर्देश किया गया है एक भीतरी दुःखको देख करके कि तीव्र पीड़ा तो असंज्ञी जीवोंकी है। एकेन्द्रिय आदिकके तीव्र उदय है, तीव्र पीड़ा है, और इन संज्ञी जीवोंके जो इतनी तृष्णा रख रहे हैं, विषयोंमें रम रहे हैं उनके क्लेशकी अपेक्षा देखा जाय तो इनके मंद उदय है। यह बात क्लेशको मुकाबलेमें रखकर कही गई है। जैसे कुछ लोग सन्देह करने लगते हैं कि निगोदिया जीवोंको क्या क्लेश है ? वहाँ देखो मन है, विचारते हैं, विकल्प बनाते हैं, दूसरोंकी प्रतिकूल चेष्टाओंको सहन नहीं कर पाते हैं, बड़ा तीव्र क्लेश होता है, इससे बड़ा क्लेश निगोदियोंको क्या होता होगा ? तो इससे संकेत यह मिल रहा है

कि उनको इन संज्ञी जीवोंसे भी बहुत कठिन क्लेश है, और इसके लिए यह दिखानेका उपाय बताया है कि जैसे कोई पुरुष किसी संदूकमें बन्द कर दिया जाय, छिद्र न हो या जमीनमें ही गड्ढा खोदकर किसीको उसके अन्दर कर दिया जाय और ऊपरसे उसे मिट्टी डालकर बिल्कुल पूर दिया जाय तो उसे अन्तरङ्गमें जो वेदना होती है उसको देखने वाला व अनुभवने वाला कौन है ? इस तरहसे समझिये, इससे असंख्याते गुनी पीड़ा नारकी जीवोंकी होती है। इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि उस कर्मका मन्द उदय होनेसे कोई जीव संज्ञी बनता है। पहिले तो यह बात देख लीजिए कि मनसहित जीव बने तो कर्मका मंद उदय बना तब बना, तीव्र उदयमें तो नहीं बन सकता। यह प्रमाणित करता है कि सैनी जीवके मन्द उदय चल रहा है और असंज्ञी जीवोंके तीव्र उदय चल रहा है। तो जहाँ मन्द उदय चल रहा हो ऐसी स्थितिमें विवेक तो यह है कि उपाय बना लेवें कि संसारके संकटोंसे निकलनेकी स्थिति हो जाय। जैसे नदीमें से कोई निकल रहा है और नदीका वेग तेज हो रहा है तो उस समयका विवेकीका कर्तव्य है कि शीघ्र ही नदी पार कर जावे, नहीं तो तीव्र वेग आ जानेपर अपना कल्याण नहीं है। इसी तरह कर्मोंका मन्द उदय भी है हम आपके, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, अन्यथा संज्ञी मनुष्य न बन सकते थे। अच्छे कुलमें आये हैं, उत्तम जैन शासनका समागम मिला है, और क्या इससे बढ़कर बात चाहते ? हम आप मंद कषाय वाले हैं, इसका यही प्रमाण है कि जो ऐसे श्रेष्ठ समागम प्राप्त कर लिए हैं। अब हम आपका कर्तव्य है कि इन विषयोंमें न रमें। लेकिन यह जीव ऐसे उदयमें संज्ञी जीव होकर भी उस कर्मके वेगको सहन नहीं कर सकता है तो यह विषयोंमें रमने लगता है।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तु नार्थानपि क्षमाः ॥२५२॥

तीव्रोदयमें असंज्ञियोंकी दुःखवेगार्तता—जो कोई तीव्र उदय वाले हैं, जैसे मन्द इन्द्रिय वाले दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असंज्ञी ऐसे मनरहित और मन इन्द्रिय वाले जो जीव हैं वे भी सताये हुए हैं, वे मनके वेगसे पीड़ित हो रहे है। पदार्थोंमें रमण करने की भी उनके शक्ति नहीं प्रकट हुई है, उनमें संस्कार है। संज्ञायें चार हैं—(१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह। एकेन्द्रियमें भी, विकलत्रयमें भी तो संज्ञा ज्वरसे वे अन्तः पीड़ित बने रहते हैं और इन्द्रियविकास नहीं है, मन भी प्राप्त नहीं है तो वे विषयोंमें इस प्रकार रमण नहीं कर पाते, तो यह तो उनकी आन्तरिक पीड़ा हुई कि संज्ञायें बनी हैं, मलिनता बनी है फिर भी वे अपना न मन बना पाते हैं, न विषयोंमें रमण कर पाते हैं। तो ऐसे असंज्ञी जीवोंमें तो बहुत ही कठिन पीड़ा है और उनका तीव्र उदय समझना चाहिये। यदि हम आप मन्द उदयसे मनुष्य हुए, अच्छी संगतिमें आये और अब भी न चेतें तो उसका फल
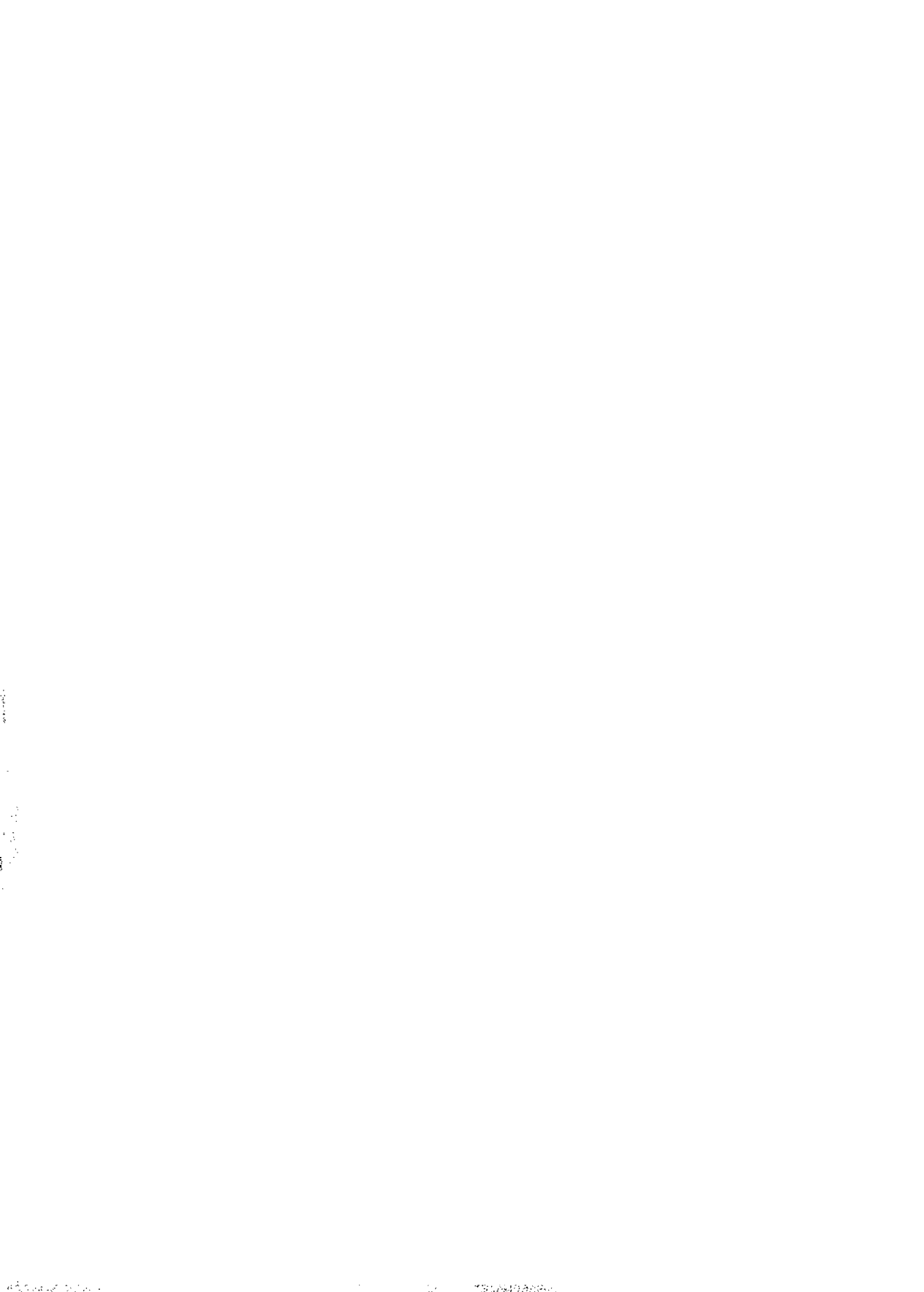
छोड़कर एक इस ही बातका विचार कर लीजिए कि अभी कुछ वर्षों बाद यह देह भी जलाकर भस्म कर दिया जायगा। धन दौलत भी सब छूट जायगी, परिजन मित्रजन आदिकके समस्त समागम भी छूट जायेंगे....। अरे जिस देहका इतना पोषण किया जा रहा है, जिन पर-देहोंको अपना कुछ सम्बन्धी माना जा रहा है वही देह जलाकर भस्म कर दिये जायेंगे। अभी जो परिजन आपसे बड़ा प्रीतिका व्यवहार कर रहे हैं वही लोग आपके मरण हो जानेपर अहंकार भावसे आपको अर्थीपर रखकर उठा ले जायेंगे और श्मशानमें ले जाकर जला देंगे। तो यहाँके दिखने वाले इन मायामयी दृश्योंसे अपनी दृष्टि हटाकर अपने आपके ज्ञानानंदस्वरूपकी ओर अपनी दृष्टि लानी होगी। हाँ यहाँ कुछ परिस्थितियां हैं ऐसी जिससे परदृष्टि रखनी होती है पर सदा निर्णयमें यही बात रहनी चाहिये कि यह मेरे लिए हितरूप बात नहीं है। जिसे संसारमें लोग सुख कहते हैं वह तो वस्तुतः दुःख ही है।

बड़े शौकसे आप पढ़ते हैं महापुरुषोंके वैभवकी घटनायें। श्री रामचन्द्रजी राज्य करने वाले थे, अथवा उनका राज्याभिषेक होनेको था, उससे पहिले भी लोगोंका विशेष आकर्षण श्री रामकी ओर था। श्री राम सभी लोगोंके बीच बड़े शोभायमान हो रहे थे। उनकी रोजकी घटनाओंको भी देखिये—उनके पुण्यका उदय था। लेकिन उस पुण्यके उदयसे उनकी आत्मा को लाभ क्या मिला? अरे लाभ तो उसे कहा जाय जिससे आत्मशान्ति मिले। अब उनके जीवनकी बात देखो—उन्हें उनके जीवनमें शारीरिक सुख भी क्या मिला? (यह तो उनके ऊपरी दुःखकी बात कह रहे हैं) बचपनके दिन यों ही गए। जब कुछ बड़े हुए, सीता स्वयंवर हुआ तबकी घटना देखो, जिसपर देवतासिद्ध है ऐसे धनुषको उठाकर तोड़नेकी बात आयी। बादमें राज्याभिषेक होनेका समय था तो हुक्म सुना दिया कि भरतको राज्य मिलेगा और श्री रामको १४ वर्षोंका बनवास करना होगा। सो वन चले गए। उसी बीच सीताहरण हो गया। फिर उसमें विह्वल रहे। रावणसे युद्ध किया। विजय भी मिली। फिर श्रीराम मित्रों को राज्य देनेके चक्करमें रहे, किस मित्रको कहाँका राज्य दें, कितना राज्य दें, क्या दें? फिर लोकापवाद हुआ, फिर सीताको जंगलमें छुड़वाया, उस समयके दुःखोंका भी ध्यान दीजिए। बादमें अपने ही पुत्र लवण तथा अंकुशसे युद्ध करना पड़ा। फिर सीताकी अग्निपरीक्षाके दुःख देखिये, और जिस समय लक्ष्मणका मरण हुआ उस प्रसंगमें लक्ष्मणके मरे हुए शरीरको ६ माह तक लादे-लादे फिरे और कितना विह्वल रहे। यों बाह्य सुखोंकी दृष्टिसे देखिये—श्री राम ने अपने जीवनमें कौनसा सुख पाया? लेकिन यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि जिसे अपने आत्मस्वरूपका भान हुआ है, जिसकी दृष्टि विशुद्ध है वह कठिनसे कठिन प्रसंगोंमें भी अंतरंगसे विह्वल नही होता। वह तो एक ऊपरी-ऊपरी दुःख उसकी दृष्टिमें रहता है। तो बात यह कह

रहे थे कि पुण्यके उदयसे पाये हुए ये सुख भी वस्तुतः दुःखरूप ही हैं। इतना ही नहीं ये सांसारिक सुख नष्ट भी हो जाते हैं, और ये सुख जितनी देर टहरते हैं उतने समयके बीच भी बीच-बीच भी अनेक दुःख आते रहते हैं। याने जितनी देरको सुख साधन निले हैं उतनी देर भी ठीक-ठीक निपट जायें सो भी बात नहीं, और ये आगेके लिए भी पापकर्म बाँधनेमें कारण बनते हैं। ये सांसारिक सुख कल्पित सुख हैं, वस्तुतः दुःखरूप ही हैं।

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥२५४॥

तृष्णारोगके कारण संसारी प्राणियोंमें दुःखकी निरन्तरता—कहा जा रहा है कि संसारमें दुःख ही है सो इतना ही नहीं कि कभी-कभी दुःख मिलें, बल्कि ये दुःख सदा बने रहा करते हैं। जब तक कर्मका सम्बन्ध है, कर्मका विपाक है तब तक किसी न किसी रूपमें दुःखका सम्बन्ध रहता है और मोहनीय कर्मका जहाँ तक उदय है वहाँ तक तो दुःख है ही, कितने ही अंशमें हो। अब यों तो किसीके बुखार चढ़ा हो, मानो १०३ डिग्री बुखार चढ़ा है तब तो बुखारका पता अच्छी तरहसे पड़ जाता है, पर यदि ८०-८५ अथवा ९० डिग्री बुखार हो तब तो बुखारका पता नहीं पड़ता, परन्तु इतने डिग्री बुखार होता नहीं है क्या? होता तो जरूर है, पर उसका पता नहीं पड़ता। होता तो १, २, ३ आदिक डिग्री भी बुखार है, क्योंकि अगर १, २, ३ डिग्री बुखार कुछ हो ही नहीं तो ये ९८, ९९, १०० डिग्री आदिक कहाँसे हो जायें? तो जैसे कुछ न कुछ बुखार रहनेपर भी यहाँ हम आप उस बुखारका मोटे रूपसे भान नही करते, इसी प्रकार ये मोही जीव मोहजन्य दुःखसे पीड़ित भी होते रहते हैं फिर भी मोटे रूपसे उसका कुछ ध्यान नहीं देते। तो ये दुःख क्यों बन रहे हैं? इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इस जीवकी लालसा लगी हुई है, तृष्णा लगी हुई है। जिसको तृष्णा है उसको तो सदा दुःख है। जैसे प्यासके दुःखकी बात देखिये—थोड़ी प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है और अधिक प्यास लगी हो तो वह भी एक दुःख ही है। भूखकी वेदनासे भी कठिन वेदना प्यासकी होती है। देखा होगा कि गर्मीके दिनोंमें थोड़ी-थोडी देरमें प्यास लगती रहती है। अभी पानी पिया, पेट बिल्कुल भरा है, फिर भी प्यास सताने लगती। प्यासकी वेदनाके चार विभाग हैं—(१) मंदतर, (२) मंद, (३) तीव्रतर, (४) तीव्र। जब कि भूखकी वेदनाके केवल दो ही विभाग हैं—(१) मंद और (२) तीव्र। तो जैसे पेटमें खाली न होनेपर भी प्यासकी वेदना सताने लगती है, तो दुःख तो वहाँ है ही, चाहे ही दुःख हो। प्यासकी वेदनाका दुःख एक बार मिटा लेनेपर भी जैसे कुछ न कुछ बना करता है इसी प्रकार तृष्णाकी वेदनाका दुःख है। जिसे तृष्णा है वह निरन्तर दुःखी। तृष्णा करके चाहे कितना ही कुछ संग्रह करता जाय, फिर भी वह कभी सन्तुष्ट

नहीं हो पाता, निरन्तर दुःखी रहता है।

आनन्दस्वभाव आत्माके लाभके लिये—अन्तर्दृष्टिसे देखा जाय तो यहाँ मनुष्योंको कोई क्लेश नहीं है। सभीके पास आजीविका चलानेके लिए साधन मिले हुए हैं। आज आप सबको पुण्यके उदयसे पवित्र जैनशासन भी मिला हुआ है, आजीविका चलानेके लिए तो कोई अड़चन है नहीं, सो आप सबका कर्तव्य है कि अपना जीवन संतोषवृत्तिसे बितायें, परवस्तुओं के प्रति तृष्णा कर करके तो कुछ भी लाभ न मिल पायगा। देखिये—यहाँ आप सभी लोगों के पास कोई कमी तो नहीं है, घरपर सब प्रकारके साधन मौजूद हैं, फिर भी सुख शान्तिका अभ्युदय नहीं हो पाता तो इसका मूल कारण यही है कि तृष्णा लगी हुई है। अरे इन पर-वस्तुओंकी क्या तृष्णा करना, ये तो थोड़े ही समयमें विघट जाने वाली हैं। अच्छा तो यह है कि पुण्यके उदयसे जो कुछ भी धन दौलत प्राप्त हो उसके कुछ विभाग कर लें—जैसे उसका कुछ भाग आजीविकाके लिए, कुछ भाग ऊपरी खर्चके लिए, कुछ भाग दानके लिए, कुछ भाग बचतके लिए आदि, इस प्रकारका विभाजन बनाकर संतोषवृत्तिसे रहें, धार्मिकतासे विशेष प्रीति रखें तो यह एक लाभकी बात होगी। अगर जीवनमें शान्ति चाहिए, सुख चाहिये तो उसका सीधा उपाय यही है कि ज्ञानाभ्यासमें लग जायें। जो ज्ञानी जन हैं उन्हें भी ज्ञाना-भ्यासमें रहना चाहिये। जिनके जितने ज्ञानकी योग्यता है उन्हें उतना ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। शान्ति पानेके लिए मार्ग तो यही एक है—ज्ञान और ध्यान (ज्ञानाभ्यास)। ध्यानमें तो हम आपकी विशेष वृत्ति बन नहीं पा रही है तो ज्ञानाभ्यासमें विशेष वृत्ति तो रह सकती है। अध्ययन करें, स्वाध्याय करें, चर्चा करें, लेकिन सभी स्थितियोंमें उद्देश्य यही रहना चाहिये कि मुझे तो वीतराग बनना है, आनन्द वहाँ ही है, उस वीतराग विज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही हमारा प्रयास है, अन्य उद्देश्य नहीं है। बात यह रहनी चाहिए। अगर यह बात न रहेगी तो उससे पद-पदमें झगड़ा भी होगा इस धर्मचर्चाके नामपर। इस पर्यायमें आत्मी-यताकी बुद्धि होनेके कारण चैन न मिलेगी। तो ज्ञानाभ्यास करके वस्तुका स्वरूप जानकर, सबसे निराला अपने आपको पहिचानकर अपने आपमें तृप्त होओ।

अपने आत्माको प्रभुसम ज्ञानानन्दघनस्वभाव जानकर स्वभावका आश्रय लेकर आत्महित करनेका अनुरोध—अपने आत्मामें क्या विधि नहीं है? जो बात अरहंत और सिद्ध में है, जिनकी हम पूजा उपासना करते हैं, जिनके नामपर हम बड़े-बड़े उत्सव किया करते हैं वे तो यहाँ आते नहीं, वे तो आपसे मिलते नहीं, लेकिन उनका नाम ही इतना प्रभावक है, उनका स्मरण ही इतना प्रभावशाली है कि कल्याणार्थी पुरुष इस प्रयोगमें लगे रहते हैं। तो जो बात अरहंत और सिद्ध भगवानमें है वही बात, वही स्वरूप, वही स्वभाव हम आपमें प्रत्येकमें है, क्योंकि द्रव्य वही है, जाति वही है, चेतन। चेतन होता है ज्ञानदर्शनात्मक।

आनन्दस्वरूप वह स्वभाव मेरा वही है जो अरहंत और सिद्धका है । उन्होंने दी अपने आपपर
दृष्टि, उन्होंने अपना ही आश्रय लिया, तो वे हो गए प्रभु । वे हो गए सदाके लिए संकटमुक्त,
आनन्दमय । और यहाँ हम आपने लिया है या मोहियोंने लिया है आश्रय परपदार्थोंका, सो वे
दुःखी होते हैं । तो करनेका काम यह ही है और इसके लिए तो बड़ा यत्नशील होना चाहिए ।
अगर एक ओर तो हजार रुपयोंका या लाख रुपयोंका नुक्सान हो रहा हो और एक ओर
आत्मदृष्टि न रहती हो तो बताओ इन दोनोंमें अधिक टोटेकी बात कौनसी रही ? अरे यहाँ
की यह बाह्यविभूति तो एक असार चीज है, उसकी हानि होनेमें अपनी हानि न समझें,
अपनी हानि समझें अपने आपकी ओर दृष्टि न रहनेमें । यह बात तो तत्त्वज्ञानका रुचिया पुरुष
ही भली भाँति समझ सकेगा कि हानि किसमें अधिक है ? अगर आत्माके अकल्याणमें हानि
अधिक न होती तो सुकुमाल, सुकौशल जैसे पुरुष या बड़े-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्ती आदि
अपने अटूट सांसारिक वैभवको छोड़कर वीतरागताका आलम्बन क्यों लेते ? तो अपनी हानि
समझें आत्माके अकल्याण होनेमें, न कि यहाँके धन वैभवके नुक्सान होनेमें । बड़े प्रयत्नपूर्वक
सारा बल लगाकर अपने आप इस आत्मकल्याणकी ओर आना चाहिए, इसीसे ही जन्ममरण
की ये परम्परायें मिट सकेंगी अन्यथा तो अभी तक जैसा संसारमें परिभ्रमण करते चले आये
वही चलता रहेगा ।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ।।२५५।।

इन्द्रियविषयोंमें लुब्ध प्राणियोंके अन्तर्दाहकी विषयरतिबीजरूपता—उक्त गाथामें कह
रहे हैं कि यहाँ जीवोंको दुःख क्यों है ? तो जीवोंको जो यहाँ सर्वदा दुःख बना रहता है,
उसका कारण यह है कि इन्द्रियसम्बंधी विषयोंमें लोभ बना हुआ है, और जो जीव इन्द्रियके
विषयोंके लोभी हैं उनके अन्तरङ्गमें दाह निरन्तर बनी रहती है । क्योंकि विषयसम्बंधी इच्छा
है । उसकी ओर ध्यान गया है, वही चित्तमें रहता है, तो वह अन्तर-दाह पैदा किया करता
है । अब वह अन्तर-दाह जब हुआ तो उसको सह न सके । उस दाहको मेटनेका उपाय यही
सूझा कि भोगोपभोग करो । सो अब ऐसी कुछ दाह होनेपर विषयोंमें लीनता हो जाती है ।
यदि यह अन्तर्दाह न होती तो विषयोंमें लीनता क्यों होती ? जैसे किसीके शरीरमें यदि फोड़ा
फुंसी आदिकका कोई रोग न हो तो वह मलहम पट्टी वगैरह क्यों करेगा ? तो जैसे फोड़ा
फुंसी आदिकके होनेपर उसका वेदन न सह सकनेके कारण वहाँ जरूरी काम करने पड़ते हैं
इसी प्रकार इन्द्रियविषयोंके लोभी व्यासक्तिके कारण यह अन्तर्दाह सहते हैं और उनकी विषयों
में प्रीति होती है और इसी कारणसे विषयाभिलाषी पुरुषोंको निरन्तर अन्तर्दाह बनी रहा
करती है ।

दृष्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥२५६॥

जोकोंके दुष्टरुधिरपानरति होनेकी तरह विषयलुब्धोंका तृष्णावश विषयोंमें रमण—जो इन्द्रियके विषयोंके सेवनहार हैं ऐसे पुरुषोंके जो विषयोंमें प्रीति देखी जाती है सो वे इस तरहसे उनमें आसक्त होते हैं कि इस ही में वे अपना हित समझते हैं। अपना हित, अपना बड़प्पन, अपना सौभाग्य, इन इन्द्रियविषयोंके सेवनमें मानते हैं। इसीसे उन विषयोंसे अधिक प्रीति करते हैं। सो इसका कारण एक तृष्णा ही है। तृष्णाका जब वेग है तब वे हित अहित कुछ नही सोच सकते और उन अहितकारी कार्योंमें ही लीन हो जाते हैं। जैसे जोंक यदि गाय भैंस आदिके स्थानमें लग जावे तो भी वह खराब खूनको ही पीती है, दूधका ग्रहण नहीं करती है। जोंकका उस खराब खूनको ग्रहण करनेका कारण मूलमें उसके प्रति तृष्णा है। इसी प्रकार ये मोही संसारी प्राणी संसारकी इन दिखने वाली मायामयी चीजोंको निरखकर उनके प्रति उपेक्षाभाव नहीं लेते, उनसे प्रीति करते, उनको अपनानेकी बुद्धि करते, उनका सेवन कर मौज मानते, इन इन्द्रियविषयोंमें रति करके उनका सेवन करते और उनके ही पीछे निरन्तर आकुलित रहा करते हैं। इन संसारके दुःखोंसे बचना है तो इन विषयोंकी रतिका परित्याग करना चाहिये।

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२५७॥

पुण्यशाली इन्द्र चक्री जनोंके भी तृष्णावशविषयरति होनेसे सुखका अभाव—संसारके ये साधारण प्राणी विषयोंमें प्रीति कर रहे हैं तृष्णाके कारण तो इसमें आश्चर्य क्या है? उनके तो अज्ञान ही लगा है, मोह ही लगा है और इन्हें किसी बातका परिज्ञान नहीं है। इस कारण उन्होंने जहाँ अपना हित समझा उसीमें उनकी प्रीति बनी। तो इसमें आश्चर्य क्या है? पर देखो तो सही कि इन्द्र और चक्रवर्ती जैसे पुण्यवान पुरुष भी तो इस तृष्णाके कारण उन विषयोंमें रति करते हैं। तो देखिये पुण्यशालियोंके भी इस तृष्णाके कारण सुख कहाँ रहा? पुरुदेवचम्पूमें बताया है कि जिस समय श्रीमती और बज्रजंघ इन दोनोंके जीव स्वर्गमें थे जब वे लौकान्तिक देव थे तो वहाँसे मरण करके एक देशके राजाके घर श्रीमती उत्पन्न हुई और बज्रजंघ अन्य देशके राजाके घर उत्पन्न हुआ। लेकिन एक बार श्रीमतीको जाति-स्मरण हुआ किसी कबूतर कबूतरीके जोड़ेको निरखकर तो वह उदास हो गई, मूर्च्छित हो गई। सचेत होनेके बाद धाईने उसकी उदासीका कारण समझ लिया कि इसको किसी विशेष याद आ रही है। धाई द्वारा पूछे जानेपर श्रीमतीने अपनी सब बात उससे बता दी। तो धाईने ऐसा उपाय रचा कि जिससे श्रीमतीका इष्टपति इसे मिल जावे। उसने अनेक प्रकार

के चित्र बनवाये। उनमें से एक चित्र ऐसा भी बनवाया जो कि उस श्रीमतीके पूर्वभवके पति ललितांगदेवकी शक्लका था। ऐसा चित्रपटमें बनाया और भी अनेक चित्र वैसे बना दिये। उस ललितांगदेवके ललाटपर कोई एक चिह्न बना हुआ था। उस चिह्नके होनेका कारण यह था कि उस ललितांगदेवके ललाटपर उसकी ही देवीने किसी घटनामें उससे रूठकर लात मारी थी, यह चिह्न भी बनाया। उस चित्रपटको मन्दिर जी के चबूतरेपर रखकर बैठ गई। वहाँ बहुतसे लोग आये हुए थे। राजपुत्र वज्रजंघ भी उस समय आया हुआ था। धाईने ललितांगदेवका चित्र इसीलिए बनाया था कि आने वाले लोगोंमें से कोई ऐसा भी व्यक्ति आ जायगा जिसे इस चित्रको देखकर जातिस्मरण हो जायगा, तब उसीके साथ इस श्रीमतीका विवाह कर दिया जायगा। सो जब बज्रजंघने उस ललितांगदेवका चित्र देखा, उस चित्रमें ललाटपर बने हुए चिह्नको देखा तो उसको जातिस्मरण हो गया। वज्रजंघसे धाईने उस चिह्न का कारण पूछा तो धाईको बताया कि यह चिह्न इस तरह बन गया था कि मुझ ललितांग देवके ललाटपर उसकी ही स्त्रीने लात मारी थी। बस वज्रजंघको सर्व कुछ भान हो गया और श्रीमतीके साथ उसका विवाह कर दिया गया। तो इस घटनाके कहनेका प्रयोजन यह है कि ऐसे-ऐसे बड़े देव भी इस तृष्णाके कारण, इस मोहके कारण ऐसी-ऐसी विडम्बनाओंमें पड़ जाते हैं तब फिर साधारण संसारी प्राणियोंकी तो बात ही क्या है ? अगर ये मोही मलिन प्राणी ऐसी दुर्दशामें पड़ जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिन जीवोंको विषयोंमें प्रीति है उनको तो प्राकृतिक दुःख लगे हुए हैं। यदि प्राकृतिक दुःख न होते इस तृष्णाके कारण, तो विषयोंमें वे व्यापार ही क्यों करते ? जैसे कानकी दवा बताई गई है बकरेका मूत। अब जिसके कानमें फोड़ा फुंसी हो गया हो वही तो बकरेका मूत कानमें डालेगा। जिसके कानमें कोई बीमारी ही नहीं उसको डालनेकी क्या जरूरत ? अरे जब कोई पीड़ा उत्पन्न होती है तभी तो उसके दूर करनेका व्यापार किया जाता है। तो इन संसारी जीवोंको अन्तः पीड़ा है, इसी कारण इनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। अगर पीड़ा न होती तो ये इन विषयोंमें प्रवृत्त ही क्यों होते ? इन विषयोंमें इनकी आसक्ति है, प्रवृत्ति है, लीनता है, इसी कारण ये प्रकृत्या ही निरन्तर दुःखी हैं।

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥२५८॥

वैषयिक सुखकी दुःखरूपता, दुःखकी अनात्मधर्मता व सुदृष्टियोंकी अनभिलाषता— उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि संसारमें जिसे लोग सुख कहा करते हैं वह भी दुःख ही है और दुःख इस मुझ आत्माका स्वभाव नहीं, इस कारण ज्ञानी पुरुषोंके इन विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती है। आत्माका स्वभाव है चैतन्य और आनन्द ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उस

आत्मस्वभावका ही रुचिया है ज्ञानी पुरुष। जहाँ दुःखका स्वभाव नहीं है उस दुःखको यह कैसे चाहेगा ? साथ ही उसके यह निर्णय बन चुका है कि संसारमें सारी अवस्थायें दुःखरूप हैं। ये समागमके आधार बज्रकी तरह चोट पहुंचाने वाले हैं, ऐसा निर्णय होनेके कारण उनको विषयोंमें प्रीति नहीं होती। तो ज्ञानीका अन्तःनिर्णय, अन्तःवृत्ति इस तरह होती है, इतनेपर भी ज्ञानीके कदाचित् कुछ विषयवृत्ति बने तो चूंकि अभिलाषा नहीं, भीतरमें श्रद्धा नहीं, हित नहीं और वृत्ति हो गई, इसी कारण उसे अध्यात्मशास्त्रमें अकर्ता कहा गया है। जो भावपूर्वक करे उसको तो कर्ता कहते हैं और जिसका भाव और कुछ हो और करनेमें कुछ आ जाय तो उसे अकर्ता कहते हैं। तो सम्यग्दृष्टिका भाव तो स्वभावकी ओर बना है, इस कारण वह बाह्य प्रवृत्तियोंका कर्ता नहीं है।

वैषयिके सुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥२५६॥

सुदृष्टियोंके वैषयिक सुखमें रागभावका अभाव तथा अज्ञानमयता होनेसे विषय रागका मिथ्यादृष्टियोंमें सद्भाव—सम्यग्दृष्टि जीवको वैषयिक सुखोंमें प्रीति नहीं होती है। देखिये—आत्माका हित करने वाला ज्ञान और वैराग्यभाव है, अन्य भाव नहीं। ज्ञान रहे ज्ञाताद्रष्टा रहे, रागद्वेष न आये, ऐसा केवल एक मान लिया, जाननहार हो गए, प्रयोजन तो आत्माका मुख्य है अपने स्वभावमें लगनेका। बाहरी बातें कुछ प्रयोजनभूत नहीं है। यह गलती न होनी चाहिये। कहीं श्रद्धा बिगड़ जाय और अपने आपके स्वभावकी प्रीति न रहे, तो यह तो विपत्ति है, विडम्बना है। और यदि अन्तःसावधानी है तिसपर भी पूर्वबद्ध कर्मविपाकसे प्रवृत्ति बन जाय कुछ इतनेपर भी चूंकि उसका भीतरमें आशय खराब नहीं है इस कारण वह ज्ञानी ही कहलाता है, निरपराध ही कहलाता है। अपने स्वभावसे हटेगा तो वह पराधीन होगा, ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयजन्य सुखमें रागभाव नहीं करता, क्योंकि राग अज्ञानभाव है, वह भी जाना जा रहा है और उसका तथ्य यही है कि रागमें ज्ञान नहीं है। जो रागद्वेषके भाव होते हैं वे जाननहार भाव नहीं हैं, वे तो जड़वत् हैं, आत्माके चारित्रगुणके विकृत परिणमन हैं। उनमें चेतनेकी, जाननेकी समझ नहीं पड़ी हुई है, तो ऐसे इन रागभावोंको अज्ञानरूप समझता है और अज्ञानभावोंमें अज्ञानमय भाव सम्यग्दृष्टिके होता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा और एक रागभाव, यह आत्मा रागमें एकत्व करे तब कहना चाहिये कि यह अज्ञानमय भाव वाला बन गया, क्योंकि खुद तो है ज्ञानरूप और ज्ञान है अज्ञानरूप तो ज्ञान अज्ञानरूप है, होता रहे राग, पर रागमें अपनी एकत्वबुद्धि कर ले तो वह जीव अपराधी है। अज्ञानी बन गया। जो पुरुष रागके साथ एकत्व करता है अर्थात् राग है ऐसा ही मैं हूं, वही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार रागके साथ जो एकता बनाये हैं इन्हें कहते हैं अज्ञानी। और इसे कहते हैं अज्ञानमय

भाव । तो अज्ञानमयभाव सम्यग्दृष्टिके नहीं होते हैं । इस कारण यह समझना चाहिये कि रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है । यहां शिक्षा यह लेनी चाहिये कि हमारा उद्देश्य, हमारा लक्षण, हमारी दृष्टि एक इस अन्तस्तत्त्वके लिए ही होनी चाहिए । यही उसका मुख्य ध्येय है । इसका ही आलम्बन मुझे पार करेगा । यही मेरा सर्वस्व है । माता, पिता, देव शास्त्र इन सबका यही एक मेरा सर्वस्व है, इस ही में देवत्व है, इसीमें गुरुता है । मैं अपने आत्मस्वभाव का आलम्बन करूँ, अन्य-अन्य बातोंका ज्ञातादृष्टा रहूं कि हाँ ये भी चल रही हैं, ये भी हो रही हैं, तो ऐसी वृत्ति ज्ञानी जीवके जग गई है, इस कारण उसे इन विषयोंमें राग नहीं होता, प्रवृत्ति होगी मगर वह राग नहीं है । जिसे रागमें एकता होती है, जिसे रागी कहा जाय, कर्ता कहा जाय, वह भाव अज्ञानमय है, ज्ञानी पुरुषके नहीं है, इस कारण कहना चाहिये कि रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही होता है ।

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽयं कर्मणि ॥२६०॥

सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वरूप अवस्थान्तर होनेसे सामान्यजनकी तरह कर्ममें अभिलाषाका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व गुण प्रकट हो गया है । जहाँ केवल पर्देके हटने भरकी बात ही तो थी । आत्मा निष्पन्न वहींका वहीं सहज ही सत् है । एक दृष्टिकी बात है, दृष्टि न कर सका था लेकिन अब दृष्टि बन गई है तो इसके लिए एक नई अवस्था बन गई है । समयसारमें एक जगह प्रश्न किया गया कि आत्मा तो सदा ज्ञानमय है, फिर ज्ञानकी उपासना करो, ऐसा उपदेश क्यों दिया जा रहा है ? जब स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानसे अलग नहीं है, तो ऐसा उपदेश क्यों किया जाता है कि ज्ञानकी उपासना करो ? उसके उत्तरमें कहा गया है कि यद्यपि आत्मा ज्ञानमय है लेकिन इसकी इसपर दृष्टि तो नहीं है । ज्ञानकी उपासना करो—इसका अर्थ है कि ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करो । अपना वैभव, अपना निधान, अपने सुखका निदानकरण सब कुछ अपने आपमें स्वतः स्वभावतः पड़ा हुआ है, लेकिन इस ओर दृष्टि न होनेसे अज्ञानी बना हुआ है । अब देखिये—बाहरमें कहीं कुछ किसीसे लेनदेन तो नहीं है । सब जीव अपने-अपने भावके अनुसार परिणमते हैं । किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका मेरेमें प्रवेश नहीं है । स्वतंत्र बात है । इतना होनेपर भी गुजर क्या रहा है ? इस मोही जीवको अपनी तो बिल्कुल सुध नहीं है, और केवल भ्रमके कारण कुछसे कुछ मनकी बात सोचकर बाह्य पदार्थोंकी ओर ही आकृष्ट रहता है । चूंकि सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है, एक नई अवस्था प्रकट हुई है इस कारण सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्यग्दृष्टिकी क्रियामें अभिलाषा नहीं होती । साधारण जन, मोही जन, लौकिक जन जिन क्रियाओंमें आसक्त रहते हैं—यह मेरी है, यह मेरी चीज है, यह मैंने किया, मैंने भोगा आदि, जैसे वहाँ साधारण जनों

को लिप्सा रहती है वैसी लिप्सा ज्ञानी जनोंको नहीं रहती है, क्योंकि उनका यह निर्णय हो गया है कि मेरा कहीं कुछ नहीं। उनके लिए तो सारा संसार उनसे विपरीत हो गया है, उनकी किसी बाह्यसे प्रीति ही नहीं रहे, वे तो एक अपनी आत्मसाधनामें ही निमग्न रहना चाहते हैं।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥२६१॥

सम्यग्दृष्टिकी भोगोंमें उपेक्षा—सम्यग्दर्शन गुणके होनेपर जो स्वानुभूति प्रकट होती है, स्वानुभूतिका अर्थ यह मैं हूं और जो सहज ज्ञानमात्र भाव है तन्मात्र मैं हूं ऐसी अनुभूति उसके हुई है जिससे कि उस ज्ञानीने अपने आत्माका सहज सत्यस्वरूप सुसम्वेदन ज्ञानसे प्रत्यक्ष पाया है। अब उस जीवको कदाचित् जघन्न भूमिकामें सम्पर्कमें रहना पड़ रहा है, गृहस्थीमें रहना पड़ रहा है और वहाँ रहकर भोगोपभोगसे बचा तो नहीं जा सकता है। तो वहाँ उन भोगोंको रोगकी तरह समझकर उनसे उपेक्षा बनाये रहता है। जैसे कोई रोगी पुरुष रुग्ग दशामें उस रोगका इलाज भी करता है, अपना आराम भी चाहता है और आराम चाहकर इलाज चाहता हुआ भी आराममें कहीं विघ्न आये तो उसपर वह रोष भी करता है, औषधि का पान भी बड़े रागपूर्वक करता है। अगर कदाचित् दवा कड़ुवी हो तो उसको भी वह आँखें मींचकर बड़े शौकसे पी जाता है। दवा मिलनेमें कदाचित् देर हो जावे तो वह झुंझलाने भी लगता है····उस रुग्ण पुरुषकी सेवामें भी बहुतसे लोग हाजिर रहा करते हैं, अच्छे साफ स्वच्छ कमरेमें बड़े आरामसे रहता है, फिर भी जरा उसके अन्तरङ्गसे पूछो कि क्या तुम ऐसी ही स्थिति सदाके लिए चाहते हो ? तो शायद उसका यही उत्तर होगा कि हम ऐसी स्थिति सदा के लिए नहीं चाहते। हम तो इस रागको मेटने भरके लिए ये सब चीजें चाहते हैं। मान लो कोई दवा मीठी है तो क्या वह ऐसा चाहता है कि ऐसी दवा मुझे सदा पीनेको मिलती रहे ? ····नहीं चाहता। वह तो मात्र रोगको मिटानेभरके लिए उसका उपयोग करता है। ठीक यही स्थिति ज्ञानी पुरुषोंकी हुआ करती है। उन्हें कर्मविपाकवश अनेक प्रसंगोंमें लगना पड़ता है, राग भी दिखाना पड़ता है, लेकिन अन्तरङ्गसे वे उन्हें चाहते नहीं, उनसे तो सदा हटते रहने का भाव रहता है। ज्ञानी पुरुषोंको भी कर्मविपाकवश भोगसाधनोंके बीच रहकर भोग भोगने पड़ते हैं लेकिन उनको उनकी अभिलाषामें हितबुद्धि नहीं रहती है। तो यों ज्ञान और वैराग्य के कारण सम्यग्दृष्टि जीवको भोगोंसे उपेक्षा होना स्वाभाविक है।

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथमुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित् परिणामः सहेतुकः ॥२६२॥

वैषयिक सुखोंको हेय जानकर छोड़नेकी ज्ञानिवृत्तिकी सहेतुकता—ज्ञानी पुरुष सांसा-

रिक पदार्थोंको हेय जान करके छोड़ देता है अथवा छोड़ना इसी विधिसे हुआ करता है। पहिले हेय समझमें आये तब तो छोड़ना होता है, और इस छोड़नेको यदि अध्यात्मदृष्टिसे परख लिया तो वस्तुतः हेय जान लिया और उसकी उस ओर प्रवृत्ति चित्तमें न रही तो वही उसका छोड़ना हुआ। निश्चयसे वस्तुविषयक विकल्पका छूटना ही छूटना कहलाता है। कोई पुरुष इन बाहरी चीजोंको बाहरी दिखावेमें तो छोड़ दे, पर भीतरमें उन चीजोंके प्रति हेय बुद्धि न बने तो वह छोड़ना नहीं कहलाता, जैसे सम्यग्दृष्टि पुरुष इन विषयसुखोंको, सांसारिक समागमों को हेय जानकर छोड़ देता है। हेय इस तरह जाना कि यह मैं स्व हूं और ये सब पर हैं, इन विषयोंसे मेरेमें कुछ आता नहीं है और मेरा इन विषयोंमें कुछ जाता नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं, इनसे अलग हूं, ये सब बाहरी पदार्थ मेरेसे अलग हैं, यह तो जाना कि ये पृथक् हैं और साथ ही यह भी जाना कि इनके सम्बन्धमें यदि विकल्प बनाऊँ, अपना उपयोग उलझाऊँ तो इससे मेरा अहित ही है, लाभ कुछ नहीं। ऐसे निर्णयसे इस ज्ञानी पुरुषने वैषयिक सुखोंको हेय जाना है, तो वह हेय जान करके छोड़ देता है, सो यह बात तो प्रसिद्ध है, भली प्रकार बतायी भी जा चुकी है, लेकिन इसमें हेतु क्या है? तो कोई परिणाम है ऐसा सयुक्त सहेतुक जिससे कि यह ज्ञानी पुरुष इतना विवश हो जाता कि परपदार्थोंको, परभावोंको छोड़ देता है। जैसे ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूपको ग्रहण न करनेमें विवश है, कर ही नहीं सकता, इसी प्रकार वह बाह्य पदार्थोंको न अपनानेमें भी विवश है, उन्हें अपना ही नहीं सकता, तो उसमें हेतु है कोई विशिष्ट परिणाम, इसका कारण है कि ज्ञानी पुरुष विषयसुखोंको छोड़ देता है, बाहरी समागमोंको त्याग देता है।

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः।
देशतोप्यस्मदादानां रागभावस्य दर्शनात् ॥२६३॥

वैषयिक सुख रागत्यागका कारण अस्ताभिलाषता—ज्ञानी पुरुष इन वैषयिक सुखों को और परपदार्थोंको हेय जानकर छोड़ देता है, तो इसमें कारण क्या है, प्रेरणा किस बात की मिली, कौनसा अद्भुत परिणाम हुआ जिस परिणामके कारण इन सब सुखोंको छोड़ देता है? वह परिणाम है अस्ताभिलाषता, अर्थात् अभिलाषाओंका अस्त (खत्म) हो जाना। अभिलाषा तो अज्ञानी जीवोंको रहती है। जैसे मैं ऐसा मकान बनवाऊँ, मैं ऐसी दूकान बनवाऊँ, मैं अपनी ऐसी पोजीशन बनाऊँ, मैं इस प्रकारके भोग साधन जुटाऊँ आदि,....पर ज्ञानी जनोंको रंच भी इस प्रकारकी अभिलाषायें नहीं रहती हैं। ज्ञानी तो जानता है कि मेरा स्व तो मेरा आत्मा ही है, मेरा यहाँ अन्य कुछ नहीं। मैं जिस स्वक्षेत्रमें बस रहा हूं बस वही मेरा सब कुछ है, वही मेरा निजी गृह है। मेरे निजी गृहमें होने वाली परिणतियाँ बस यही मेरा कुल है, मेरे ही भाव, मेरे ही गुण, बस यही मेरी समृद्धि है, वैभव है। इस सही बोधके कारण

ज्ञानी पुरुष किसी भी परभावमें, परपदार्थमें अभिलाषा नहीं करता। सभी पदार्थोंकी अभिलाषासे ज्ञानी पुरुष परे हो गया है। यही कारण है कि वह सांसारिक विषयोके सुखको छोड़ देता है। जैसे भोजन करते-करते जब पेट भर जाता है तो वह पुरुष उस भोजनको छोड़ देता है। उसकी ओर तो फिर वह देखना भी नहीं चाहता। कोई अगर जबरदस्ती भोजन देने लगे तो वह झुंझलाने भी लगता है। क्या करे, उसके पेटमें जगह ही नहीं रही, उसको उस भोजन-विषयक अभिलाषा नहीं रहती। यों ही समझिये कि सम्यग्दृष्टि जीवको जिसको समस्त बाह्य पदार्थोंके प्रति अरुचि हो गयी है, जिसको बाह्यपदार्थविषयक अभिलाषा ही नहीं रही है, वह समस्त बाह्य पदार्थोंको छोड़ देता है। वह तो ज्ञानानुभवसे ही तृप्त है, इस कारण बाह्य पदार्थ तो उसे आफत लगते हैं। किसका सम्बन्ध, किसका विकल्प, किसमें दृष्टि ? उसके लिये ये सब आपत्तियाँसी जंचती हैं इस कारण इन्हें छोड़ देता है। यह पुरुष अनभिलाषी हो गया। कोई पुरुष भरपेट भोजन कर चुकनेके बाद कहे कि अच्छा लो हमने इस भोजनको छोड़ दिया, लो पेटमें जगह न होनेसे छोड़ना पड़ा हो थोड़ी देरके लिये तो उसने छोड़ा कहाँ ? अरे वह तो अभी भोजन करनेका संस्कार बनाये हुए है। कभी-कभी तो लोग यों कह भी देते हैं कि बस अब अधिक न परोसना, शामको ले लेंगे। तो संस्कार अभी गया कहाँ, और न भी उपयोगमें आये शामके भोजनकी बात लेकिन वासनामें वह बात पड़ी हुई है। भोजनको उसने छोड़ा कहाँ है ? किन्तु एक ऐसी स्थिति है कि पेट तो भर चुका है, पेटमें और भोजन जाये तो कैसे जाये, कोई उसका चारा ही नहीं है, लेकिन उसकी अभिलाषा समाप्त नहीं हुई है। अभिलाषा तो ज्ञान और वैराग्यके बलसे समाप्त हो सकती है। ज्ञान और वैराग्यके बिना अभिलाषा दूर नहीं होती। यों तो किसी जंगलमें रहने वाले भील वगैरहको कोई देखकर कह सकता है कि अरे यह तो बहुत सन्तुष्ट है। देखो एक साधारण झोंपड़ीमें रहकर थोड़ेसे परिग्रहके बीच रह रहा है, पर जरा बाहरी दृष्टिसे विचार तो कीजिए। अरे वह सन्तुष्ट कहाँ है ? उसकी तो यह अभिलाषा है कि मुझे अधिकसे अधिक जितना वैभव मिल सकता हो उतना मिल जावे। तो क्या उसे कह सकेंगे कि इसके अभिलाषा नहीं है ? अरे संस्कार उसके ऐसा ही बना हुआ है कि मुझे दुनियाका सारा वैभव मिल जाय। पर जो ज्ञानी पुरुष होता है वह यहाँ समस्त लौकिक वैभवको हेय जानकर छोड़ देता है।

दृष्टान्तपूर्वक अस्ताभिलाषताकी सिद्धि—यद्यपि पुण्यके उदयसे ज्ञानीको भी सुखसाधन प्राप्त होते हैं, उनके प्रति एक देश रागभाव भी उसके चलता है, पर उसके अभिलाषा पर-पदार्थविषयक नहीं रहती है। जैसे जिसने कोई एक देश व्रत लिया है—मान लो ब्रह्मचर्याणु-व्रत लिया है तो उसका एक स्त्रीके अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियोंकी अभिलाषा दूर हो गई है। और यदि अन्य स्त्रियोंकी अभिलाषा दूर नहीं हुई है तो वह अणुव्रती भी नहीं है। महा-

व्रत ग्रहण करनेपर तो तद्विषयक सर्वअभिलाषायें समाप्त हैं। आप सबके तो एक देशत्याग करनेको रह गया है, तो देखा जा रहा है कि बहुतसे रागभावका त्याग चल रहा है, एक देश-त्याग नहीं हो पाया, तो इससे सिद्ध है कि किसीके बिल्कुल भी राग न हो, और सम्यग्दृष्टिकी तो प्रतीतिमें किसी भी परवस्तुके प्रति राग नहीं है। तभी कहा है कि परमाणुमात्र भी जिसके राग है उसके सम्यक्त्व नहीं है। उसका अर्थ है कि प्रतीतिमें, श्रद्धामें एक परमाणुमात्रके प्रति भी राग है तो समझिये कि उसका भी ज्ञान ढका हुआ है, सम्यक्त्व नहीं होता है। जैसे कई लोग ऐसे देखे जाते हैं कि अपने घरमें मौजसे रहते हैं, मान लो एक ही स्त्री है, तो उसको यह कहा जा सकता है कि इसके बन्ध नहीं है या दुनियाभरका राग नहीं है अथवा इसके ज्ञानप्रकाश बना हुआ है, इसको अन्य किसी स्त्रीके प्रति राग नहीं है।……अरे एक भी स्त्री का, पुत्रका अथवा किसी भी एक वस्तुका यदि प्रीतिपूर्वक राग है, उससे अपना भला मानने की श्रद्धा सहित राग है तो सम्यक्त्व नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके सर्व अभिलाषायें अस्त हो गयी हैं, यही कारण है कि वह वैषयिक सुखोको, परपदार्थोंको हेय जान करके छोड़ देता है।

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥२६४॥

ज्ञानी आत्माके अस्ताभिलाषत्व परिणामका दिग्दर्शन—पूर्वोक्त निर्णयका यह वर्णन किया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवको इन सारे बाहरी पदार्थोंके प्रति यह निर्णय है कि ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, ये अन्य-अन्यके हैं। जैसे घड़ी, चौकी, दरी आदिक जो कुछ भी पदार्थ दिख रहे हैं ये मेरे नहीं हैं। ये जिन स्कंधोसे निर्मित हैं, इनकी जो निजी चीज है, पिण्ड है बस वही है, ये खुद खुदके स्वामी हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष जान रहा है। तो जिसने जान लिया कि ये मेरे नहीं हैं, ये परपदार्थ हैं, परके हैं तो उसे उसमें अभिरुचि ही न जगेगी और एक साधारण दृष्टिसे देखो तो जैसे जिन लोगोंका यह ख्याल बन गया है कि यह मेरा घर है और ये सब दूसरेके हैं ऐसा जब भाव मनमें बना है तो दूसरेके घरको हड़पनेकी चाह तो कभी नहीं होने लगती, क्योंकि जान रहा है कि ये सब दूसरेके हैं, मेरे नहीं हैं। तो अभिलाषा शान्त होने की पद्धति तो यही है कि यह ज्ञान बने कि ये मेरे नहीं है। ये सब पर हैं, सम्यग्दृष्टिको सर्व वस्तुओंमें यह ज्ञान बना हुआ है कि ये मेरे नहीं हैं, ये परके हैं, पौद्गलिक हैं, ऐसा ज्ञान उसके है, इस कारण उसे कभी अभिलाषा नहीं लग रही है, किन्तु अन्तः अभिलाषा शान्त हो गई है अर्थात् किसी भी वस्तुमें रुचि नहीं जग रही है, ऐसा होने पर भी कर्मविपाक ऐसा विचित्र है कि कर्मोदयमें यह सम्यग्दृष्टि जीव भी जघन्य पदमें यह किसी कार्यमें लग जाता है, परके प्रकरणमें आ जाता है और वहाँ आकर कभी तृप्त भी होता है लेकिन वह तृप्त होता हुआ भी तृप्त नहीं है। जैसे विवाहके अवसरपर गानेके लिए पास

पड़ौसकी महिलायें बुला ली जाती हैं, कोई नर्तकी भी बुला ली जाती है तो वे अपना नाच गाना सभी कुछ करती हैं, महिलायें तो ऐसा भी कहती हैं—"मेरा दूला बना जैसे रामलखन" आदिक, ये सब भी कहती हैं, बड़ा राग भी दिखाती है, पर यह समझ लीजिए कि उनकी वे सारी चेष्टायें ऊपरी-ऊपरी हैं। वे आती हुई भी नहीं आती हैं, जाती हुई भी नहीं जाती हैं, गाती हुई भी नहीं गाती हैं, क्योंकि मान लो वह दूल्हा घोड़ेसे गिर जाय और उसकी टाँग टूट जाय तो क्या उन पड़ौसकी महिलाओंको उस तरहका दुःख होगा जैसा कि उसकी माँ को ?....नहीं होगा। यद्यपि उसकी माँ कामकाजमें इतना व्यस्त है कि उसे गाने बजाने आदि की फुरसत नहीं, फिर भी दुःख तो उसकी माँ को ही होगा, उन पड़ौसकी महिलाओंको न होगा। नर्तकी भी खूब नाच गाकर बड़ी खुशी सी मनाती है, पर उसका वह नाचना गाना भी ऊपरी-ऊपरी है। उन महिलाओंकी भी वे सारी क्रियायें ऊपरी-ऊपरी हैं। इसी तरहसे एक सम्यग्दृष्टि पुरुष कर्मविपाकवश भोगसाधनोके बीच रहता है, उनमें ऊपरी-ऊपरी रूपसे लगता भी है फिर भी वह उनसे विरक्त रहता है, उनमें लिप्त नहीं होता। वह तो अपने भीतरकी अमूल्य निधिको ही निरखकर सदा तृप्त रहा करता है। बाहरी पदार्थोंके प्रसंगोंमें लग रहा, उनसे तृप्त हो रहा फिर भी तृप्त नहीं हो रहा। एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुप भोजन कर रहा हो तो क्या पेट नहीं भरता, अथवा क्या डकार नही आती ? अरे ये सब बातें होती हैं फिर भी उसको उस भोजनकी रुचि नही रहती। उसकी रुचि, उसकी धुन तो एक अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधना की ही रहती है, इस कारणसे वह उस भोजनसे तृप्त नहीं हो रहा है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष सांसारिक सुखोंमें तृप्त होता हुआ भी तृप्त नहीं होता।

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलापवान् ॥२६५॥

ज्ञानी जीवके अकर्तृत्व व अस्ताभिलाषत्वका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन—जैसे कोई पुरुप पराधीन होकर किसी अनुचित क्रियाको कर रहा है अर्थात् जिस क्रियाको करनेका उसका भाव नहीं है उसको कर रहा है तो वह पुरुष उस क्रियाका कर्ता न कहा जायगा, क्योंकि तद्विपयक उसकी अभिलाषा नष्ट हो गयी है। यों अनेक दृष्टान्त आपको मिल जायेंगे कि बलपूर्वक पराधीनतामें विवश होकर करना पड़ रहा है मगर भीतरमें उसकी अभिलापा नहीं है। तो जिसे भीतरसे अभिलाषा नहीं रही वह करता हुआ भी अकर्ता है। ऐसा व्यवहारमें कहते भी हैं। ज्ञानी पुरुषोंको वैषयिक सुखोंमें अभिलापा नहीं रही और कर्मके डंडोंकी मारको सहता रहता है, फिर भी अन्तः अभिलापा न होनेके कारण उसे उन क्रियाओंका कर्ता न कहा जायगा। जैसे किसी कैदीको पराधीन होकर चक्की भी पीसनी पड़ती, खेत भी जोतना पड़ता, और और भी अनेक काम करने पड़ते, लेकिन अंतः अभिरुचि न होनेके कारण उन्हें उन

क्रियाओंका कर्ता नहीं कहा जा सकता। यद्यपि उन कैदियोंको कोई ज्ञानपूर्वक उन क्रियाओंके करनेकी अभिरुचि नहीं जगी है फिर भी उन क्रियाओंका उन्हें कर्ता व्यवहारमें भी नहीं कहा जाता। तब फिर ज्ञानी विवेकी सम्यग्दृष्टि पुरुषकी क्रियाओंका तो कहना ही क्या है ? उसके ज्ञानपूर्वक इन बाह्य क्रियाओंसे, बाह्य वस्तुओंसे अभिरुचि हटी है, इस कारण वह उन क्रियाओं को करता हुआ भी, उन परपदार्थोंमें लगता हुआ भी नहीं कर रहा है, नहीं लग रहा है। वह तो अपने ज्ञानबलसे समस्त परकी अभिरुचि छोड़ देता है।

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रयार्थकदम्बकम्।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलापवान् ॥२६६॥

इन्द्रियविषयोंको स्वादने वाले तथा रुचित करने वालेके ज्ञानीको अस्ताभिलाष कहे जानेके कारणकी जिज्ञासा—अब यहाँ शंकाकार यह कहता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी इन्द्रिय के विषयसमूहका स्वाद लेता है। जब उसे इष्ट विषय रुच रहे हैं तब फिर उसे अस्ताभिलाप क्यों कहा गया है ? उसकी इच्छा है कि मैं भोजन करूँ तभी तो वह खाना, पीना, रसास्वादन करना आदिक क्रियायें करता है। जब इस तरह वह भोगोंमें प्रवृत्त हो रहा है तो इससे यह स्पष्ट निर्णय निकलता है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी इच्छा है। जब इच्छा है तब फिर उसको अस्ताभिलाप क्यों कहा गया है ? शंकाकारका आशय यहाँ यह है कि रुचिके बिना विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, और उपद्रव तो ऐसा है कि न चाहते हुए भी ये भोग आते हैं, मगर विषयभोग करना तो कोई उपद्रव नहीं है, वह तो समझ करके वहाँ लगता है। तो जब इन्द्रियके विषय रुच गए—खाना पीना, भोग विषय, रागरागनी सुनना, रूपावलोकन करना आदि सभी क्रियायें वह सम्यग्दृष्टि पुरुष भी करता है तब फिर यह क्यों कहा गया है सम्यग्दृष्टि पुरुषको अभिलाषा नहीं है ? कैसे कहा जाय कि उसकी समस्त अभिलाषायें शान्त हो गयी हैं।

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥२६७॥

अस्ताभिलाष सम्यग्दृष्टिके भी चारित्रमोहनीय कर्मविपाकवश भोगवृत्ति—उक्त शंका के समाधानमें कहते हैं कि यद्यपि शंकाकारकी बात थोड़ी ठीक है, अर्थात् कुछ बात न आये, कुछ इच्छा न हो तो वह विषयोंमें प्रवृत्ति कैसे करे ? अभिलाषा कुछ हुई तो सही, लेकिन जितना जो विकार आया वह जघन्य पदके आश्रय करने वाले सम्यग्दृष्टिके आया, अर्थात् सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ऊपर वाले सभी गुणस्थानके कहलाते हैं। उनमें जो अविरत सम्यग्दृष्टि है अथवा कुछ देशविरत भी हो तो वह जघन्य पद है, सम्यग्दृष्टिमें जघन्य पद न कि

संसारके सब जीवोंमें जघन्य पद। तो जब वह अपनी जघन्य भूमिकामें है तो उसकी इस तरह की कुछ प्रवृत्ति होती है और साधारण रुचि भी चलती है, लेकिन ऐसा होनेमें भी कारण क्या है? आत्माका यह जघन्य पद रहे, इसका कारण है चारित्रमोहनीय अर्थात् चरित्रावरण कर्म। सिद्धान्त शास्त्रोंमें आत्माके तीन भेद बताये हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। बहिरात्मा—उसे कहा गया है जो बाहरकी चीजोंको आत्मा माने, देहको आत्मा माने, अन्य चीजोंको अपना माने। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव, संसारके जन्म मरणकी परम्परा रखने वाले जीव, ये बहिरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मा उसे कहते हैं—अन्तः मायने भीतर, जिसके अपने भीतरको आत्मारूपसे माना है। यह मैं ज्ञानस्वरूप जो सत् हूं सो मैं आत्मा हूं, इस प्रकार भीतरके तत्त्वको जिसने आत्मा माना है वह कहलाता है अन्तरात्मा। और परमात्मा कहलाता है परम आत्मा, उत्कृष्ट आत्मा। जो रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानरूप है वह कहलाता है परमात्मा। तो अन्तरात्माके भी तीन भेद किए गए हैं—(१) जघन्य अन्तरात्मा, (२) मध्य अन्तरात्मा और (३) उत्कृष्ट अन्तरात्मा। जघन्य अन्तरात्मा तो छोटा अन्तरात्मा कहलाता है चतुर्थ गुणस्थानवर्ती और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव और मध्य अन्तरात्मा कहलाता है महाव्रती रूप, जो अभी प्रमत्त अवस्थामें है, उत्कृष्ट ध्यान अभी नहीं है, और उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते है श्रेणी वाले मुनि, उद्यम ध्यान वाले मुनि। तो उनमें जो जघन्य अन्तरात्मा हैं अर्थात् ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव जिन्होंने व्रत नही ग्रहण किया है अथवा जिन्होंने एक देशव्रत ही धारण कर पाया है वे हैं जघन्य अन्तरात्मा। उनके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहका उदय है, उसकी यह प्रेरणा है, और कुछ ऊपर इच्छासी बन रही हो, अथवा प्रवृत्ति बन रही हो अथवा कुछ तृप्तिसी होती है। लेकिन दर्शनमोहनीयका अभाव होनेसे न वहाँ वास्तविक तृप्ति है, न इच्छा है, न अन्तर्वृत्ति है, इस कारण सम्यग्दृष्टिको अस्ताभिलाष कहा गया है। उसकी अभिरुचि सब शान्त हो गयी है।

चारित्रमोह व दर्शनमोहके प्रभावोंका पार्थक्य—चारित्र मोहके उदयमें भी एक प्रबल पीड़ा होती है और कभी अनन्तानुबंधीका भी उदय रहे, उसमें भी इतनी व्यक्त प्रबल पीड़ा नही होती और कहो अनन्तानुबंधी नही है और अप्रत्याख्यानावरण नहीं है तो उसमें व्यक्त ऐसी क्रीड़ायें देखी जा सकती हैं। जैसे द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि जिसकी क्रियायें बहुत साफ हैं, कषायें मंद हैं, समितियोंमें तत्पर रहता है, प्राणियोंकी दया करता है, किसीको अपना विरोधी नहीं मानता, इतनी सब बातें होनेपर भी अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें अथवा मिथ्यात्वके उदयमें वह इस पर्यायसे भिन्न अन्तः विराजमान निज ज्ञायकस्वरूपको आत्मा रूप से अनुभव नहीं कर पाता है और उसकी क्रिया ऊपरसे देखो तो बड़ी मंद मालूम होती है। अगर वह कोल्हूमें भी पेल दिया जाय तो भी इस शत्रुसे बदला लेनेका भाव नहीं करता।

इतना होनेपर भी उसके मिथ्यात्व माना गया है, अभिलाषा मानी गई है, वह कुछ चाह रहा है और उसकी अभिलाषा भीतर ही भीतर रहकर तीव्र होती रहती है। उसने समझ रखा है कि होती है कोई मुक्ति और उसे हमें चाहिये। बस जैसे लोग वैकुण्ठ, स्वर्ग, भोगभूमि, सेठाई, राजापन आदिकी इच्छा करते हैं इसी ढंगसे इस द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टिने भी मुक्तिकी इच्छा कर ली, जिसको अपना यथार्थ स्वरूप अनुभवमें तो नहीं आया, मगर पढ़ता है, ज्ञान भी बहुत है, तो उस ज्ञानबलसे वे सब बातें समझमें आयी हैं कि सदाके लिए जन्ममरणके संकट छूट जाते हैं, वहाँ कर्म नहीं रहते हैं, अनन्त आनन्द रहता है। इन सब बातोंका ज्ञान करके भी और मुक्तिकी चाह करके भी उसका वह अभिलाषी कहलाता है, उसको वास्तविक वैराग्य नहीं जगा है, और एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदयमें घरमें रहता है, व्यापार भी करता है, कमाना, खाना, पालन पोषना आदिककी सब बातें करते हुए भी वह निरन्तर सदा ही उनसे विरक्त रहता है। अन्तः ऐसी उसकी परिणति है तो बाह्यमें इतनी क्रियायें होनेपर भी उसको निरभिलाषी (अस्ताभिलाष) कहा जाता है।

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥२६८॥

चारित्रमोहविपाककी रतिकारणता—इष्ट पदार्थमें यह जीव चारित्र मोहनीयके उदय के कारण रत हो जाता है, और जब चारित्र मोहनीयका उदय नहीं है तब यह वीतराग और अतीन्द्रिय हो जाता है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जो कुछ ज्ञानी जीवकी थोड़ी बहुत रति चल रही है विषयोंमें उसका कारण चारित्रावरण कर्मका उदय है। पर दर्शन मोहनीय का उदय न रहनेके कारण उसको अन्तः कोई अभिलाषा नहीं रही। सम्यग्दृष्टि जीव अस्ता-भिलाष है, इस बातको यदि समझना ही है तो इन दृष्टान्तोंसे समझा जा सकता है, जैसे किसी जीवपर दरिद्रता आ गयी, निर्धन हो गया तो क्या वह चाहता है कि मैं निर्धन होऊँ? चाहता तो कोई नहीं लेकिन दरिद्रता आती है तो उस दरिद्रताको भोगना पड़ता है, तो यों ही सम-झिये कि भोगोंमें लगना यह जीवकी दरिद्रता है। सम्यग्दृष्टि जीव इसे नहीं चाहता, और न चाहनेपर भी चारित्र मोहनीयके उदय ये उसके सिरपर आते हैं। जब सिरपर आये तो उन्हें भोगना पड़ता है। भोग लिया लेकिन उसे अभिलाषावान नहीं कह सकते। तो चारित्र मोहके उदय होनेपर ऐसी तीव्र पीड़ा होती है कि वह वेदनाको सह न सकनेसे वहाँ प्रवृत्त हो गया। जैसे जब तेज भूख लगती है तो बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषोंको भी उस तीव्र भूखकी पीड़ामें खाना ही पड़ता है। जिसने इतना भी खूब निर्णय कर लिया कि आत्माका आहार करनेका स्वभाव नहीं है, और आत्माका कुछ सम्बन्ध भी उस आहारसे नहीं होता है, आहार एक पृथक् चीज

है, आत्मा एक पृथक् तत्त्व है, इतना सब कुछ निर्णय होनेपर भी और अपने आत्मतत्त्वकी ओर उसकी धुन भी लगी है, फिर भी उसे खाना पड़ता है। तो वह खाता हुआ भी नहीं खाता है क्योंकि उसको खानेकी अन्तः अभिलाषा ही नहीं है। इसी प्रकारसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको अन्य भोगसाधनोंमें भी लगना पड़ता है, पर उनसे वह अन्तःविरक्त रहता है। चारित्र मोहनीय कर्मके उदयवश उसे इष्ट विषयोंमें लगना पड़ता है और जब चारित्रमोहनीय कर्मका उदय नहीं रहता तब यह जीव बिल्कुल वीतराग होता और अतीन्द्रिय हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीवके भी जब तक चारित्रमोहनीयका उदय है तब तक उसके अनुरूप वहाँ वृत्ति चलती है, किन्तु भीतरका ज्ञानप्रकाश स्पष्ट है, इस कारण उसे किसी भोग और उपभोगमें अभिलाषा ही नहीं है।

द्रङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छितः।
हेतुसद्भवतोऽवश्यमुपभोगक्रिया वलात् ॥२६६॥

अस्ताभिलाषके भी चारित्रमोहविपाककी उपभोगक्रियाकारणत्व—इस सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीय कर्मका तो क्षय हो गया है इस कारण वह भोगोंको नहीं चाहता। यहाँ आन्तरिक अभिलाषा न होनेसे अस्ताभिलाषी कहा गया है और चारित्र मोहवश जो रुचि है उसे एक उपद्रव बताया गया है और वहाँ उपद्रवकी पीड़ा न सह सकनेसे उसका प्रतिकार करता है, ऐसे ज्ञानी जीवके रहस्योंको भली भाँति तो ज्ञानी ही समझ सकता है कि कैसा इसमें भाव है, किस तरह अभिलाषा नहीं है, किस तरह इन बाहरी बातोंको उपद्रव मानता है, आफत मानता है? यह बात भली भाँति उनकी समझमें आती है फिर भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे साधारण जनोंकी भी बुद्धिमें यह बात आ सकती है कि इच्छा न होनेपर भी अनेक प्रकारके कार्य करने पड़ते हैं। एक बहुत लौकिक दृष्टान्त है कि कोई लड़की स्वसुराल जाती है तो विदा होते समय वह रोती अवश्य है और वही लड़की बड़ी बनकर, बूढ़ी होकर भी जब अपने घरसे स्वसुराल जाती है तो वह थोड़ा बहुत रोकर जाती है। भला बतलाओ उसके चित्तमें रोने जैसी पीड़ा कहाँ है? वह काहेको रोती है? तो बात यह कही जा रही है कि अन्तः अभिलाषा न होनेपर भी व्यवहार कार्योमें पड़ना पड़ता है। अब देखिये—उस रोने वाली महिलाको अन्दरसे कोई रंजकी बात तो नहीं है लेकिन रूढ़िवश उसे रोना पड़ता है। वह रोना सिर्फ इसीलिए है कि ये पड़ौसके लोग जान जायें कि इनको यहाँसे जानेमें बड़ा दुःख हो रहा है। तो उस महिलाका वह रोना न रोनेकी तरह है। ऐसे ही दूसरा दृष्टान्त देखिये—जो बच्चा अपने पिताके आधीन है और पिताके बड़े कन्ट्रोलमें है, और वह पिता उस बच्चेसे जबरदस्ती काम करवाता है, यदि न करे तो दो चार तमाचे भी लग जायें, सो विवश होकर उस बच्चेको वह काम करना पड़ता है। पर उस कामको करता हुआ भी न

करनेकी तरह है, क्योंकि उसकी उस कामके करनेकी अन्तः अभिलाषा ही नहीं है। अब तीसरा दृष्टान्त लीजिए—जैसे एक सिपाही कैदीको जिस तरहकी प्रेरणा करता है कि यह काम करना पड़ेगा, सो वह कैदी काम करता तो है, पर उस कैदीकी उस कामके करनेकी भावना न होनेसे उसको उस कामका कर्ता नहीं कहा जा सकता। अब चौथा दृष्टान्त लीजिए—एक मुनीम किसी सेठके बड़े फर्ममें काम करता है तो वह ग्राहकोंसे ऐसा ही तो व्यवहार करता है कि हमारा तुमपर इतना बाकी है, तुम्हारा हमपर इतना बाकी है आदि, पर उसकी अन्तः भावनाओंको तो परखिये—उसकी तो ऐसी अंतः श्रद्धा है कि मेरा यह कुछ नहीं है। यह तो सब उस सेठका है। मेरा तो सिर्फ उतना ही है जितने १००-१५० रुपये महीनेमें मिल जाते हैं, वास्तवमें न मेरा इसपर कुछ है न इसका मेरेपर। तो वह मुनीम एक व्यवस्थापक होनेके नातेसे वहाँ वैसा व्यवहार करता है। तो ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि कुछ करनेकी अन्तः अभिलाषा न होनेसे वह उस क्रियाका करने वाला नहीं माना जाता है। ठीक यही हाल एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषका होता है। वह खाते पीते, बोलते चालते, भोग भोगते, तृप्त होते आदिमें भी समझो कि वे कुछ क्रियायें नहीं कर रहे हैं क्योंकि उनके करनेकी उसके अन्तः अभिलाषा नहीं रही, इसलिए उनके भीतरमें अनभिलाषता सिद्ध होती है।

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोनिच्छितोप्यस्ति दारिद्यं मरणादि च ॥२७०॥

अस्ताभिलाषके क्रियामात्र होनेपर भी विरागत्वकी सिद्धि—सम्यग्दृष्टि जीवके जो उपभोग क्रिया देखी जाती है सो वह क्रिया मात्र ही देखी जा रही है, उसके साथ भावकी प्रेरणा नहीं होती, इसी कारण सम्यग्दृष्टि जीवको विराग कहा गया है। वीतराग आत्माकी तो बात ही क्या, यहाँ साधारण जन भी अनेक घटनाओंमें ऐसे देखे जाते हैं कि न चाहते हुए भी कुछ न कुछ भोगना ही पड़ता है। देखिये—जगतमें कोई दरिद्रता चाहता तो नहीं, दरिद्रता किसी को इष्ट नहीं है, पर दरिद्रताके आ जानेपर उसे भोगना ही पड़ता है। तो दरिद्रताके भोगनेकी चाह (अभिलाषा) न होनेसे उसका भोक्ता तो नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टान्तसे एक यह प्रेरणा मिलती है कि जो लोग कुछ थोड़ा बहुत पढ़ लिखकर जानकर यह कह देते हैं कि क्या बताय भाई, हमारे चारित्रमोहनीय कर्मका कुछ ऐसा ही उदय है कि इन भोगसाधनोंमें लगना पड़ता है, हमारी वांछा तो इनमें लगनेकी नहीं है....। लेकिन जरा इस तुलनासे अपनेको तौलें, तब कहें तो हम समझें कि ऐसा कहने वालेकी बात ठीक है। तुलना इस दृष्टांतमें दी गई है—जैसे कोई पुरुष मरण तो नहीं चाहता है पर मरण करना पड़ता है तो क्या इस तरहसे कोई

है कि भोगविषयोंको चाहता तो नहीं है पर उनको भोगना पड़ता है ? क्या सचमुच इस तरह की विवशता है ? यदि ऐसी विवशता बनी हो तब तो उसका कहना सत्य होगा और यदि इस तरहकी विवशता नहीं है तो समझिये कि उसकी वह बात एक स्वच्छन्दताकी है कि हम लोक में ज्ञानी भी कहलायें, सम्यग्दृष्टि भी कहलायें, लोकमें हमारी ज्ञानी रूपसे ख्याति भी रहे और हमारा मौज भी चलता रहे…, तो यह तो एक स्वच्छन्दता हुई । तो बात यह कह रहे थे कि जैसे दरिद्रताको कोई नहीं चाहता पर दरिद्रता आ जानेपर उसे भोगना ही पड़ता है, इसी तरह ज्ञानी जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोंको नहीं चाहता है, लेकिन कर्मविपाक आये, साता वेदनीय या और और भी पुण्यके उदय आयें, साथमें चारित्रमोहनीयका उदय भी चल रहा है, वह प्रेरणा ऐसी होती है कि वह भोगोंमें लग जाता है लेकिन वह न चाहते हुए उसे भोगोंमें लगना पड़ता है । यह एक भीतरी विवेक अपने आपको प्रमाणित कर देगा कि हाँ वास्तवमें ऐसी ही वृत्ति हमारेमें है कि नहीं अथवा हम उससे कुछ भला मान रहे हैं और उससे कुछ अपना हित समझ रहे हैं या नहीं, हमारा झुकाव उस ओर है अथवा नहीं, यह बात उनको खुद समझ सकते हैं और जब हमारी इस आत्माके हितकी ओर भावना हो, उसकी ओर दृष्टि दे तो अपने आपमें जान सकते हैं कि मेरेमें इस तरहकी अस्ताभिलाषता हो रही है अथवा नहीं । तो इस तरह अपने आपका शोधन करें यही वास्तविक प्रतिक्रमण है । उस शोधनमें जो अपना बाहरी झुकाव है उसको अपनी गल्ती मानें और इस भेदज्ञानमें और इस आत्मस्वरूपके परिचयमें लगनेकी धुन बनायें ।

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ।।२७१।।

कर्मज क्रिया होनेपर भी निरीह होनेका एक दृष्टान्त—सम्यग्दृष्टि पुरुषके जो भोग-क्रिया होती है वह क्रियामात्र है, उसके साथ अन्तः अभिलाषा नहीं जुड़ी हुई है, इसलिए ज्ञानी के विरागता असिद्ध नही है । इसी बातको दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध कर रहे हैं कि जैसे कोई पुरुष रोगसे व्याकुल है तो वह रोगका इलाज कर रहा, तो रोगकी प्रतिक्रिया करते हुए भी वह उस समय ऐसे रोगको नहीं चाह रहा है तो आगे रोगको क्या चाहेगा ? जैसे जिसको बुखार है और वह बुखारकी दवा भी कर रहा है तो क्या वह चाहता है कि ऐसा बुखार मेरे सदा बना रहे ? अरे वह तो उस बुखारकी दवा करता है उस बुखारको नष्ट करनेके लिए । इसी प्रकार यह विषय भी एक वेदना है । और उस विषयवेदनाका इलाज है उसकी भोगक्रिया । तो उस समयमें पञ्चेन्द्रियके भोगके समयमें भी उसे नही चाह रहा कि ये विषय मुझे मिलें । उसको ज्ञानप्रकाश होनेसे यह धुन बनी है कि मेरेको तो वीतराग विज्ञान परिणति हो, ऐसी उसकी अन्तः प्रतीति है । वह तो एक निर्विकल्प ध्यानको ही चाहता है और विकल्प आते हैं

तो उनसे उपेक्षा करता है कि ये क्यों हो रहे हैं ? होकर भी उनमें पड़कर भी उनमें रुचि उसकी नहीं है, इस कारण वह उनसे उपेक्षा चाहता है। तो जो विषयसाधनोंके समयमें भी विषयोंको नहीं चाह रहा वह आगामी कालके विषयोंको क्या चाहेगा ? और जब आगामी कालके विषयोंको न चाहा तो समझना चाहिए कि उसकी वह क्रिया बन्धके लिए नहीं है। यहाँ सारांश यह जानना चाहिए कि किसी कामके करते हुए यदि भविष्यके लिए अपनेको कुछ चाहे तो उसको कहते हैं बन्धफल वाली ओर बन्ध वाली क्रिया, और जिस क्रियाको करके आगामी कालके लिए कुछ नहीं चाहा जा रहा है उसको बन्धफल वाली या बन्धकी क्रिया नहीं कहते। ऐसी प्रकाशमान प्रतीति सम्यग्दृष्टि पुरुषके होती है। इस कारण उसकी क्रिया मात्र देखी जाती है पर उसके उस क्रियाके करनेकी अभिलाषा नहीं होती। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषको अस्ताभिलाषी कहा गया है।

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥२७२॥

कर्मज क्रिया होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके अस्ताभिलापत्वकी सिद्धि——उक्त श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है वह दृष्टान्त जिस बातको सिद्ध करनेके लिए दिया गया है उसका वर्णन इस श्लोकमें है। जैसे कि रोगको प्रतिक्रिया करने वाला वह पीड़ित समय उस समयके रोग को नहीं चाहता तब फिर आगेके रोगको तो चाहेगा ही क्या ? इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष चारित्रमोहनीय कर्मसे पीड़ित हुआ अथवा चारित्रमोहनीय कर्मकृत जो विकार है उससे पीड़ित होता हुआ वह कर्मके उदयसे होने वाली क्रियाको कर रहा है। उसे करता हुआ भी वह कर्म-पदको कुछ भी नहीं चाहता। जैसे रोगकी प्रतिक्रियाको करते हुए वह पुरुष रोगपदको उस समय भी नहीं चाहता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी उस कर्मपदको नहीं चाहता। कर्मके उदय से उत्पन्न हुई स्थितिको वह नहीं चाहता। तो ऐसा पुरुष आगामी कालमें ऐसे ही विषय मिलें इस बातको तो चाहेगा ही क्या ? तब उसे किस न्यायसे अभिलाषी कहा जा सकता है ? इस प्रसंगमें दो बातें आयी हैं——एक तो भोगोपभोगके समयमें भी वह उसे नहीं चाहता। दूसरी बात यह कि वह आगामी कालके लिए भोगोपभोगको चाहेगा ही क्या ? इन दो बातोंमें एक बात तो कुछ स्पष्ट रूपसे समझमें आ जायगी कि ज्ञानी जीव आगामी कालके लिए भोगोपभोग को नहीं चाहता, किन्तु यह एक सूक्ष्म बात है कि भोगोपभोगके समयमें भोगोपभोगको या कर्मजभावको, कर्मपदको नहीं चाहता है। यह बात एक अपने आचरण द्वारा साध्य है याने ज्ञानियोंकी यह भीतरी बात भी समझमें उसके आयगी जो ज्ञानीके अनुकूल कुछ अपना भी आचरण बनाये। जैसे कोई कैदी किस तरहसे जेलमें काम करता है, उसको किस तरहकी आन्तरिक अभिलाषा है, इसको वही पुरुष भली भांति जान सकता है जो स्वयं कैदी बनकर

काम करे। अरे उसको तो वे सारे काम विवश होकर करने पड़ते हैं, उसकी अन्त: अभिलाषा उन कामोंके करनेकी नहीं होती है। तो इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके किस तरहकी अन्तः अभिलाषा होती है उसको तो वही पुरुष भली भाँति समझ सकता है जो स्वयं ही उस ज्ञानी पुरुष की जैसी धारामें आये।

ज्ञानधारा व कर्मधाराका विवेक—इस प्रकरणमें यह जानना चाहिये कि इस ज्ञानी जीवके ज्ञानधाराकी मुख्यता है और अज्ञानी जीवके कर्मधाराकी ही मुख्यता है। ज्ञानधाराका अर्थ है कि रागद्वेष रहित जो ज्ञानकी क्रियामें ज्ञानपरिणतिका ही बना रहना यह तो है ज्ञानधारा और उस परिणतिसे चिगकर जो विचारतरंग रागद्वेषादिक रूपमें परिणति होगी वह है कर्मधारा याने जिस धारामें कर्मके प्रभावका सम्बंध है वह है कर्मधारा और जिस धारामें ज्ञान का स्वाश्रयज सम्बन्ध है, परिणति है वह है ज्ञानधारा। तो ज्ञानधारामें जो रहता है उसकी तो संसारसे मुक्ति होती है, और जो कर्मधारामें रहता है उसकी संसारसे मुक्ति नहीं होती है। ज्ञानी जीवके मुख्यरूपसे ज्ञानाधारा है और गौण रूपसे कर्मधारा भी बन रही है, लेकिन जो ज्ञानधारा है वह प्रधानरूप, उसका इतना बल है कि किसी भी समय यह कर्मधारा समाप्त होकर मात्र ज्ञानधारा रह जायगी। हम आपको भी यह चिन्तनमें रखना चाहिये हमारी जितनी परिणतियाँ होती है उन परिणतियोमें ज्ञानधारा कितनी है और कर्मधारा कितनी है? एक शोधन ही तो करना है। जब अपने आपको संसारसे सदाके लिए मुक्त बनानेका उद्देश्य बनाया है तब हमें उसके अनुकूल शोधन करना, चिन्तन करना और आचरण बनाना है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि चारित्र मोह कर्मसे पीड़ित हुआ यह ज्ञानी पुरुष कर्मज क्रियाको कर रहा है, पर उस कर्मपदको, उस स्थितिको, उस घटनाको, उस भावको वह जरा भी नहीं चाहता है। देखिये—कर्मको कर रहा है पर कर्मपदको नहीं चाह रहा, इसीमें अन्तर समझ जाते है। कर्मको कर रहा है, बाहरी क्रियाको कर रहा है, उससे और अन्तरङ्गमें चलें तो जो भावकर्म हैं, रागपरिणमन है उसको कर रहा है। कर रहा है मायने परिणम रहा है, राग हो रहा है और राग हो रहा है यह बात तो ठीक है मगर उस रागको वह चाह नहीं रहा। वह राग तो कर्मपद है। जिसे सरल शब्दोंमें यों कहा जा सकता कि ज्ञानी पुरुषके राग तो होता है मगर रागमें राग नहीं रहता है। वह उस कर्मपदको नहीं चाहता है। तो जो उस समय भी कर्मपदको नहीं चाह रहा है उसको किस दृष्टिसे, किस न्यायसे साभिलाषी कह दिया जायगा? वह तो वस्तुत: अस्ताभिलाषी ही है।

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥२७३॥

सम्यग्दृष्टिके निष्काम-कर्मयोगमें बन्धफलताका अभाव—ज्ञानी पुरुषकी क्रिया मात्र

होनेपर भी इच्छा नहीं है, इस बातको अभी सिद्ध किया है। अब उसके बाद इस बातको सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञानी पुरुषके इच्छा नहीं है, फिर भी उसके क्रिया हो जाती है, और जघन्य पदमें है ऐसी ज्ञानीकी क्रियाकी बात कही जा रही है। सम्यग्दृष्टिके इच्छाके विना भी क्रिया होती है, यह बात असंगत नहीं है, सिद्ध है। जैसे कि जो रोगी पुरुष है वह वेदनका प्रतिकार करता है, वेदना सही नहीं जाती है, उसका इलाज करता है, उसका प्रतिकार करता है और प्रतिकार भी सही बन रहा तो क्या वह प्रतिकार रोगको बढ़ाने वाला है? अरे वह तो उस रोगको नष्ट करने वाला है। तो जैसे रोगका प्रतिकार उस रोगको उत्पन्न नहीं करता है बल्कि उसका नाश करता है, इसी प्रकार विषय अथवा कर्मका वेदनका प्रतिकार कहीं उस वेदनाको, कर्मको, विषयको, भोगको बढ़ाने वाला नहीं है। उसका कारण नहीं है कि आगामी कालमें इसके पीड़ायें हों। यह सब तत्त्वज्ञानीकी अन्तरङ्गमें क्या स्थिति रहती है, उस अनुकूल खुदका हृदय बनानेसे यह स्पष्ट रूपसे समझमें आती है। यों तो हम व्यावहारिक स्वादको भी स्पष्ट रूपसे बता नहीं सकते। जैसे मान लो पूछा जाय कि अच्छा बताओ मिश्रीका स्वाद कैसा होता है? तो प्रायः सभी लोग कह देंगे कि मीठा होता है। अब पूछें कि कैसा मीठा होता है? तो कहेंगे कि अजी बहुत मीठा होता है। यों उसका स्पष्टरूपसे स्वाद बता न सकेंगे। पर जिसने मिश्रीका स्वाद चख लिया उसे उस स्वादका स्पष्ट भान अवश्य हो जायगा। चाहे वह मुखसे व्यक्त न कर सके, पर उसका स्पष्ट परिचय अवश्य हो जायगा।

जैसे गोमटेश्वरकी बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिको जिसने देखा न हो, केवल पुस्तकों द्वारा भली भाँति जानकारी कर लिया है कि वह मूर्ति इतनी लम्बी है, इतने लम्बे पैर हैं, इतने लम्बे हाथ हैं, इतनी लम्बी पैरकी अंगुलियाँ हैं, इतनी लम्बी हाथकी अंगुलियाँ हैं, इस आकारकी हैं···यों उसने सब जारी भी कर ली हो और उसका वर्णन भी वही इस ढंगसे कर दे जैसा कि उसको प्रत्यक्ष देखने वाले लोग भी न कर सकें। इतना होनेपर भी उसको उतना स्पष्ट भान नहीं हो पाता, उतना स्पष्ट परिचय नहीं हो पाता जितना कि उस व्यक्तिको होता है जिसने वहाँ जाकर प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया हो। अथवा जैसे स्कूलमें बालकोंको अमेरिका, रूस आदिकका सारा हाल पढ़ा दिया जाता है, वहाँ ऐसी-ऐसी नदियाँ हैं, ऐसे पहाड़ हैं इस इस तरहके विशाल भवन है आदि तो चाहे वे बालक वर्णन तो इतना इच्छा कर दें जैसा कि वहाँ जाकर देख आने वाला व्यक्ति भी न कर सके, पर उतना स्पष्ट भान, उतना स्पष्ट परिचय उन्हें नहीं हो पाता जैसा कि वहाँ जाकर प्रत्यक्ष रूपसे देख आये हुए व्यक्तिको होता है। तो बात यहाँ यह कही जा रही थी कि ज्ञानी पुरुषकी अन्तः अभिरुचि कैसी होती है, इसका स्पष्ट परिचय लेना है तो उसके जैसा ही कुछ अपनेको भी बनाना होगा, और भी एक दृष्टान्त देख लीजिए—किसी व्यक्तिका (स्त्रीका अथवा पुरुषका) कोई इष्ट गुजर गया हो तो लोग उसे

बहुत समझाते हैं पर उसका रोना बन्द नहीं होता। बहुत-बहुत समझाकर जब हार जाते हैं तो कहते हैं कि देखो कैसा इसे उस इष्ट व्यक्तिसे राग है कि बहुत-बहुत समझानेपर भी इसकी समझमें नहीं आता। तो इन सब बातोंके होते हुए भी उसको कैसा राग है, इसका स्पष्ट परिचय इन समझाने वालोंको नहीं है। इसका स्पष्ट परिचय तो उसे ही है जिसे इष्टका वियोग हुआ है। तो इसी प्रकार यह ज्ञानी पुरुष क्रिया करके भी उस क्रियामात्रसे उसको अपेक्षा है इसलिए उसे चाहता नहीं है, अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुषको साभिलाष नहीं कही जा सकता।

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥२७४॥

सम्यग्दृष्टिकी उपभोगक्रियामें भी असेवकता—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव भोगोंको भोगता हुआ भी असेवक है याने उन क्रियाओंमें, पञ्चेन्द्रियके विषयों में क्रिया होकर भी वह भोगोंको सेवता हुआ भी असेवक है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगोंको सेव रहा है, फिर भी उनका सेवक नहीं माना जाता, क्योंकि रागविहीन पुरुषको इच्छाके बिना किया हुआ काम उसके रागके लिए नहीं कहा जा सकता। जिस समय राग नहीं है और उस क्रियाको किसी घटना प्रसंगसे करना पड़ता है तो करके भी उसकी क्रिया उस रागके लिए नहीं बनी हुई है। जैसे विवाहमें गीत गानेके लिए महिलाओंको बुलाया जाता और उनको फिर व्यवहारमें कुछ बतासे भी बाँटे जानेका रिवाज है। तो रिवाजके कारण महिलायें गीत गाती हैं, न कि उस विवाह होने वाले व्यक्तिके रागके कारण। तो उनका वह आना जाना, गाना बजाना आदि रागके लिए नहीं कहा जा सकता। तो जिनकी रागके लिए क्रियायें नहीं हैं वे उन क्रियाओंको करते हुए भी उनके अकर्ता हैं अथवा असेवक हैं। जैसे ही आशय बदलता है वैसे ही उसकी क्रियामें भी अन्तर भीतर पड़ जाता है, और बाहरी क्रिया यद्यपि वैसी ही रहती है। जैसे कोई लड़की शादी योग्य जवान है और उसका पिता उसकी माँ से बात कर रहा हो कि मैंने अमुक जगह लड़का देख लिया है, वह बहुत अच्छे कुलका है। बहुत पढ़ा लिखा है, उसकी इतनी सम्पत्ति है, और शादीकी तिथि भी निश्चित कर दी है, अमुक तिथिको विवाह होगा…। इन सारी बातोंको उस लड़कीने सुन लिया। बस उसका चित्त पलट गया। उसके चित्तमें यही बात बस गई कि बस मेरा तो सब कुछ वहीं है, अब तो मेरा जीवन वहीं पार होगा। यहाँका तो अब कुछ भी मेरा न रहा…। इतनी बात चित्त में समा जानेपर भी वह लड़की जब तक उस घरमें रहती है तब तक वहाँकी क्रियायें ज्योंकी त्यों करती है। अगर वहां कोई नुकसान पहुंचाता हो तो उसको भी बचाती है, उसके माँ बाप को कोई कुछ कह दे तो वह अपने माँ बापको अपना बड़ा अनुराग भी दिखाती है, फिर भी उसके चित्तमें यह बात समायी हुई होती है कि यहाँ मेरा पूरा न पड़ेगा, पूरा तो वहाँ ही

पड़ेगा, वहीं मेरा सब कुछ है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। यों ही समझिये कि जिस व्यक्तिका यह प्रोग्राम बन गया है कि मुझे तो केवल शुद्ध अमूर्त, कर्म शरीर आदिसे रहित मात्र अनन्त चतुष्टय सम्पन्न स्थितिमें अनन्त काल रहता है, वही मेरा वास्तविक घर है, वहाँ ही मेरा पूरा दड़ेगा, यहाँ मेरा पूरा न पड़ेगा। यहाँ कुछ मेरा है ही नहीं। जिसको भीतरमें यह ज्ञान-प्रकाश मिल गया है उसके लिए तो फिर इस संसारमें रहना और इन भोग प्रसंगोंमें रहना उसके लिए सब उपेक्षा भावोंसे होता रहता है। मेरा घर तो वह है, यहाँ मेरा पूरा नहीं पड़नेका। इस जीवकी बात क्या कहें, यह समस्त संसार मात्र हमारा पूरा पाड़ सकने वाला नहीं है। यह जीवन तो कुछ समयका है और फिर यहाँके विकल्पोंमें, यहाँकी ममतासे, यहाँ की अन्य प्रक्रियाओंसे मेरा क्या पूरा पड़ेगा ? संसारमें किसी भी बातसे, किसी भी घटनासे मेरा पूरा नहीं पड़ता, मेरा तो प्रोग्राम एक मुक्तिका ही है। किसी भी परद्रव्यका मुझे रंच भी विश्वास नहीं है। तो जिसकी धुन जिसका प्रोग्राम मुक्तिका बन चुका है उसके लिये फिर यहाँके भोगोंकी, विषयोंकी, आरामोंकी, देहोंकी क्या इच्छा हो सकती है ? तो इन सब दृष्टान्तों से यह सिद्ध किया गया है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके इच्छा न होते हुए भी क्रियामात्र देखी जाती है और सम्यग्दृष्टि पुरुषके इच्छा न होते हुए भी क्रियामात्र देखी जाती है और सम्यग्दृष्टि पुरुष के क्रिया होनेपर भी, भोगोपभोग होनेपर भी उनकी वाञ्छा नहीं रहती है। यों वह सम्यग्दृष्टि जीव साभिलाष नहीं होगा।

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टे कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥२७५॥

किसी किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म व फलमें कुछ चेतना होनेपर भी ज्ञानचेतनाकी ही सिद्धि—किसी-किसी सम्यग्दृष्टिके कर्मचेतना, और कर्मफल चेतना भी है, पर वास्तवमे वह ज्ञानचेतना ही है। इस श्लोकमें जघन्य पदमें रहने वाले सम्यग्दृष्टिकी चेतनाके सम्बन्धमें दो बातोंका प्रकाश किया गया है—(१) एक तो यह कि जितने अंशमें सम्यग्दृष्टिकी उपयोग बुद्धि कभी किसी भोगकी ओर होती है, कभी किसी क्रियाकी ओर होती हैं तो जो उसके करनेकी या क्रियाकी जो भी रति है आखिर रति विषयका उदय भी चलता रहता है और जैसे ५वें छठे गुणस्थानमें विशेष प्रमत्त अवस्थामें उसके कार्यकी जो भी प्रवृत्ति है तो वहाँ थोड़ी बुद्धि भी उस ओर है। इस स्थितिमें उसके कर्मचेतना भी कही जाती है, और भोगोपभोगकी वृत्ति है, प्रतिकार भी सही, प्रतिकार भी वह कर तो रहा है और उसका फल भी कुछ भोगता रहता है, कुछ रमता भी है, रुचि भी है तो कर्मफल चेतना भी है लेकिन दूसरी बात साथमें यह कही जा रही है कि वह वृत्ति एक मिश्रवृत्ति है, केवल कर्मचेतना, कर्मफलचेतना वाली वृत्ति नहीं है। उसके साथ दर्शन मोहका अनुदय होनेसे जो अपने आपके आत्माकी ओर उसका

सम्बन्ध है, उसकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह बात वास्तवमें ज्ञानचेतना ही है। इस सम्यग्दृष्टि जीवके जो भी परिणाम हो रहा है वह एक परिणाम आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा इन चारों का कारण बन रहा है क्योंकि जघन्य पदमें सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा ये चारों ही निरंतर चलते हैं। सम्वर और निर्जरा तो चल ही रहे हैं, साथ ही आस्रव और बंध भी निरन्तर चल रहे हैं। जब प्रतिक्षण ये चल रहे हैं तो एक क्षणमें परिणति तो एक होती है। जो भी पर्याय हुई वही पर्याय चारोंका हेतुभूत बन रहा है किन्तु वहाँ यह विवेक करना होगा कि जो जितने अंशमें राग है उतना राग तो आस्रव बंधका कारण है और जिन अंशोंमें विरागता है, और ज्ञानभाव है वह तो सम्वर निर्जराका कारण है। तो परिणामके होनेपर भी वह परिणाम ऐसी निर्जरा वाला है कि जिसमें यह विवेक करना होता है कि केवल रागका परिणाम नही, केवल पूर्ण वैराग्यका परिणाम नहीं, तो उसमें आंशिक ढंगसे दोनों शक्तियां पड़ी हुई हैं। तो इसी तरह चेतनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। भले ही वह एक समय का परिणाम है जिसमें भोगमें प्रवृत्ति है और क्रियामें भी प्रवृत्ति है, इतनेपर भी वहाँ सबलता ज्ञान ध्यानकी है, उपेक्षाकी है, उस वृत्तिसे हटे रहनेकी है। अतः आंशिक कर्मचेतना, कर्मफल-चेतना होकर भी वस्तुतः उसके ज्ञानचेतना है।

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि।
रागाभावान्न बन्धोस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म व फलमें कुछ चेतना होनेपर ज्ञानचेतनाकी ही सिद्धि मानने का कारण—उक्त श्लोकमें किसी-किसी सम्यग्दृष्टिके कर्म और कर्मफलके सम्बन्धमें चेतना बताकर भी अपने कर्ममें भी बुद्धि है, फलमें भी बुद्धि है। ऐसा कहकर भी जो उसे वास्तविक ज्ञानचेतना कहा है अर्थात् वहाँ मुख्यता ज्ञानचेतनाकी है और उस मुख्य ज्ञानचेतनाके कालमें कर्म और फलमें जो बुद्धि चलती है वह गौण है, ऐसा जो कथन किया गया और वहाँ ज्ञान-चेतनाका ही समर्थन किया गया उसका यहाँ कारण बताया गया है। उस सम्यग्दृष्टि जीवके कर्ममें और कर्मफलमें जो चेतना चल रही है जघन्य पदके कारण चारित्र मोहके विपाकमें जो कर्म और फलमें बुद्धि चलती है उसका फल तो बन्ध है, इसमें तो कोई सन्देह है नहीं, लेकिन उस सम्यग्दृष्टि जीवके अज्ञानभावका अभाव हो गया है। उस रागमें राग नहो रहा है, उस प्रतिकारमें अभिलाषा नहीं रही है। अभिलाषा उसे कहते हैं जहाँ यह भाव बने कि मुझे आगे भी विषय मिलें, भोग बनें। जिस जीवके ऐसी अभिलाषा जगी है, उसके अभिलाषा कही जाती है। आन्तरिक अभिलाषा वह है जहाँ अन्तरङ्गमें ऐसी बुद्धि बने कि मुझे ये मौजके साधन फिर मिलें, आगे मिलें, मिलते रहें, इस तरहका भाव और वासना बनी हो तो समझना चाहिये कि वह अभिलाषावान है और जिसको कुछ प्रतिकार समयमें भोगोपभोगके समय

में यह अभिलाषा नहीं है, यह रुचि नहीं है कि ये मुझे प्राप्त हों या ये मुझे चाहिएं, उन्हें अहित रूप समझ रहा है, ऐसी कोई आन्तरिक स्थिति है। ऐसी स्थितिमें उसे अभिलाषावान कैसे कहा जा सकता है ? ऐसा कहा जायगा कि उसके राग नहीं है। यहाँ इस तरह निरखिये कि जैसे मान लो सिरदर्द हो रहा है तो सिरदर्द होनेपर आप उसका प्रतिकार तो करते ही हैं, उस दवाको तो चाहते हैं ना, मगर दवाको चाहकर भी, उस सिरदर्दका प्रतिकार चाहकर भी आप उनमें राग नहीं करते। दूसरोंसे भी आप कहते हैं कि भाई हमारा सिर दाब दो, तो मानो कोई सिर दाब भी रहा हो, दवाका प्रयोग भी किया जा रहा हो, उस समय आप कुछ चैन भी अनुभव करते हैं इतनेपर भी आपको उस चैनमें राग नहीं, उस प्रतिकारमें राग नहीं। क्या आप ऐसी अन्तः अभिलाषा है कि दिनभर मेरा इसी तरह इलाज होता रहे, इसी तरह मैं चैन मानता रहूं ? अरे उस सिरदर्दका प्रतिकार करते हुए भी उसमें कुछ उपचार करते समय चैन मानते हुए भी जरा अपने अन्तरङ्गके भावोंको तो पहिचानो। आपको उन किसी चीजोंकी अभिलाषा नहीं है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषकी बाह्य क्रियायें ऐसी दिखती हैं कि वह भोगोपभोगमें भी लग रहा, उनमें कुछ तृप्तसा भी हो रहा, इतनेपर भी उसकी उन सब भोगोपभोगके साधनोंसे अन्तरङ्गसे उपेक्षाभाव रहता है। उनकी वह अभिलाषा नहीं करता, वह तो सदा अपने आपके स्वतत्त्वकी ही धुन रखता है। अतः उसे सांसारिक भोगोंसे अस्ताभिलाष ही कहते हैं, उसकी अन्तः इच्छा इन सांसारिक सुखोंको भोगनेकी नहीं होती है।

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम्।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥२७७॥

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाकी सिद्धिके प्रकरणमें ग्राह्य व अग्राह्य ज्ञानका वर्णन—अब इसी विषयके स्पष्टीकरणके लिए सुख और ज्ञानके दो प्रकार बताये गए हैं, जिसके वर्णनके बाद यह बात सुगमतया विदित हो जायगी कि सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसे अपूर्ण विकास और किसी भी विकारकी वाञ्छा नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान दो प्रकारका होता है उसी प्रकार सुख भी दो प्रकारका होता है। ज्ञानके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियजन्य ज्ञान और (२) अतीन्द्रिय ज्ञान। जो ज्ञान इन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होता है अर्थात् इन्द्रियका निमित्त पाकर जो आत्मा अपने आपकी योग्यतासे अपनी ज्ञानपरिणतिको बनाता है वह तो है इन्द्रियज ज्ञान और जो इन्द्रियका निमित्त पाये बिना, अपेक्षा किए बिना स्वयं अपने आप जो अपनी योग्यता से ज्ञान प्रकट होता है वह होता है अतीन्द्रिय ज्ञान। तो जैसे ज्ञान दो प्रकारके हैं उसी प्रकार सुख भी दो प्रकारके हैं अर्थात् आनन्द गुणके ये दो परिणमन जो दुःखसे विपरीत हैं, दुःखसे अलग हैं वे भी दो तरहके हैं—(१) इन्द्रियज सुख और (२) अतीन्द्रिय सुख। जो सुख मन

से, संकल्पसे उत्पन्न हो उसे तो समझिये इन्द्रियज सुख और जो इन्द्रिय मनकी अपेक्षा किए
बिना केवल आत्मीय आनन्द है उसे समझिये अतीन्द्रिय सुख। तो इन दो प्रकारके ज्ञान और
सुखोंमें जो इन्द्रियज और अनिन्द्रियज ज्ञान है वे तो ग्राह्य हैं नहीं और जो अतीन्द्रिय ज्ञान है,
अतीन्द्रिय आनन्द है वह ग्राह्य है, उपादेय है। इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख क्यों आदेय
नहीं हैं उसका कारण अब बतलाते हैं।

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥२७८॥

प्रत्यर्थपरिणामि होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी व्याकुलता, मोहसंपृक्तता, दुःखस्वरूपता व अनर्थकारित।—ज्ञानके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहा-
यतासे उत्पन्न होवे। सहायताका अर्थ है—जितना आलम्बन है, जितना निमित्त है अर्थात् इन्द्रिय
और मनकी वृत्तिका निमित्त पाकर जो आत्मामें ज्ञानपरिणति हुई है वह इन्द्रियज ज्ञान प्रत्यर्थ
परिणामी है तो क्रम-क्रमसे परिणमन करता है। अब इस अर्थका परिज्ञान हुआ, अब इस
अर्थ विषयक विकल्प हुआ, यों पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थके उपयोगपूर्वक उनको विषयमें ला
लाकर यह क्रमसे परिणमन करता है। इसी कारण यह व्याकुल है और मोहसे मिला हुआ
है, दुःखस्वरूप है और अनर्थको करने वाला है। इस प्रकरणको जो कि कुछ श्लोकों तक
चलेगा यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि उस विकारको और उस हीनताका अभेद करके ज्ञान
रूपसे वर्णन किया जा रहा है, क्योंकि जो कुछ है वह सब ज्ञान ही तो है। जिस स्वभाव
परिणमनमें प्रत्येक परिणमनको हम ज्ञानरूपसे आसानीसे निरख सकते हैं वह ज्ञान ही तो है।
आत्मा यदि ज्ञानमें अवस्थित हो गया, जैसा चारित्र होना चाहिये था वैसा हो गया, ज्ञान ज्ञान
में अवस्थित हो गया, अब ज्ञानरूपतासे स्थिर हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया, श्रद्धान हो गया
तो वहाँ हुआ क्या है कि वह जीवादिक श्रद्धान रूपसे तो ज्ञानका ही तो परिणमन हुआ है।
जैसे हम स्वभावपरिणमनोंमें सबको ज्ञानरूपमें निरख सकते हैं तो यहाँ भी इस समय इन सुख
दुःखोंको, इन सब हीन आचरणोंको, हीन वृत्तियोंको ज्ञानरूपसे बताया जा रहा है। यह ज्ञान
अतीन्द्रिय नहीं है, यह ज्ञान स्वाभाविक विकास वाला नहीं है किन्तु मोह सम्व्रत है, व्याकुल
है, अनर्थरूप है, दुःखस्वरूप है। इतने जो यहाँ अवगुण आये हैं उनका कारण मूलमें देखा गया
है। सो बता रहे हैं कि यह प्रत्येक अर्थसे रुक-रुककर क्रम-क्रमसे विषयको जान रहा है। इस
कारणमें वे सब अवस्थायें ध्वनित हो गयीं। रुक रुककर जान रहा है, इसका कारण क्या
है? इष्ट विषय साथ लगे हैं, अनिष्ट विषय साथ लगे हैं तो उनको इसी कारण ग्रहण कर रहा
है। इस क्रम वाले ज्ञानमें भी बल तो इस ही बुद्धिका, उपयोगका पड़ा हुआ है ना। राग है,
द्वेष है, इस कारण ऐसा भी वर्णन है। ऐसा उसका अन्तः उपयोग बना है, विचार तरंग-

आदेश क्यों है कि गुणभेद करके किसी पृथक् पृथक् गुणका कुछ परिणमन देख करके अनुभव करेंगे तो वह सत्य अनुभव न होगा। वहाँपर भी केवल तृप्तिके लिए, अनुभूतिके लिए यह वर्णन है। पर इस वर्णनसे एक यह मार्ग मिल गया कि हम अपनेको केवल ज्ञानरूपसे अनुभव कर सकते हैं। अब यहाँ शान्तिमार्गके सम्बंधमें भी देखिये—आत्मा तो वस्तुतः एक अखण्ड पदार्थ है। उसमें पृथक्-पृथक् कोई गुण या परिणमन नहीं पड़े हैं। वह एक पदार्थ है और प्रति समय उसका एक-एक परिणमन होता रहता है। तब जो भी परिणमन होता वह एक ही परिणमन है। उसमें नाना परिणमन नहीं हैं। यह तो तीव्र प्रवृत्तिके लिए गुणभेद और परिणमन भेद करके बताया जाता है। अब इस प्रसंगमें भी देखिये—गुणभेद न करें, पर्यायभेद न करें और हो रहा है एक समयमें एक परिणमन, इस मार्गसे भी हम एक परिणमन इस संसरणमें मान रहे हैं तो भी वहाँ दुःख नहीं है। क्या ऐसा अभेद एक परिणमन मान लेने पर दुःख मिट जायगा? यहाँ पर्यायमें तो जो बात पड़ी हुई है वह तो अपना प्रभाव दिखायेगी ही। तो यों यहाँ अन्य बातोंको भिन्न-भिन्न न कहकर एक ज्ञानरूपसे बताया जा रहा है। दूसरी बात यह भी समझमें आयगी कि हाँ बात यह ठीक तो लग ही रही है, हम जितना भी दुःखी हो रहे हैं उसमें बात क्या है? बस यह ज्ञान ही हो रहा है। जहाँ हम सुख भोगते हैं, ज्ञानने उस रूप कल्पनायें किया, उस रूपसे जानने वाला ज्ञान यही तो सुखी हो रहा है। जब दुःखी होता है तो उस ढंगका उस पद्धतिसे जानने वाला ज्ञान वही तो दुःखरूप है। तो यहाँ यह ज्ञान चूँकि अर्थके अनुसार विकल्प बना रहा है इस कारण वहाँ उस कालमें भी दुःख रूप बन रहा है। जैसे कि जब कोई सोच रहा हो कि यह मनुष्य मेरा विरोधी है और मेरी इस बरबादीपर तुला हुआ है और इसके चित्तमें सदा यह बात रहा करती है, कोई भोग हुआ तो उसीको नष्ट कर दें आदिक इतने विकल्प किये किये जा रहे तो क्या किया जा रहा? ज्ञान किया जा रहा उस ढंगसे, तो उस ढंगसे किये जा रहे ज्ञानमें क्या वहाँ क्लेशका अनुभव नहीं हो रहा है? तो जिस समय यह प्रत्यर्थपरिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने विकल्पमें चल रहा है तो वहाँ दुःख भी भोगा जा रहा है। तो इस श्लोकमें यह बताया गया है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल इस कारण ही दुःखरूप नहीं है कि उसमें ज्ञानपदार्थसे अतिरिक्त अन्य पदार्थों की जिज्ञासा बनी हुई है, इस कारणसे वह दुःखी है कि चूँकि अर्थके अनुकूल विकल्प बन रहे हैं अतः तत्काल भी दुःखी है।

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥२८१॥

प्रमत्तता व निकृष्टता होनेके कारण इन्द्रियज ज्ञानकी दुःखप्रदता—उक्त श्लोकके कथनको ही इस श्लोकमें स्पष्ट किया जा रहा है। वह प्रत्यर्थपरिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान दुःख-

प्रद है। प्रथम कारण यह है कि मोहयुक्त होनेसे वह ज्ञानप्रमत्त बना हुआ है, शान्तिमार्गमें वह सावधान नहीं है अतएव वह प्रमत्त है, क्योंकि वहाँ मोह मिला हुआ है। वह ज्ञानसमूह ज्ञान है। दूसरा दोष यह है कि उस ज्ञानमें हेतु बहुत चाहिये, जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान कुछ भी किया जा रहा हो, देखा ही जा रहा है तो वहाँ इन्द्रिय निर्दोष चाहिये और इसके भीतरके इन्द्रियावरणका क्षयोपशम भी चाहिए, पदार्थ सम्मुख चाहिये और फिर उस तरहका ख्याल होना चाहिये। याने कितना साधन हुआ करते हैं तब यह ज्ञान प्रवृत्त होता है। तो इतने अधिक हेतुओंसे होता है, हेतुओंके बिना नहीं होता है। इस कारणसे यह ज्ञान निकृष्ट ज्ञान है। देखिये—ज्ञानका स्वभाव स्वतः स्वयं सहज प्रतिभास करते रहनेका है और इस ही में ज्ञानका अनन्त बल, अनन्त प्रभाव और चमत्कार जाना जाता है। जब यह ज्ञान ज्ञानस्वभावको लिए हुए होता है, इसका जाननेका स्वभाव है तो यह स्वयं सहज सर्वको जान जाये, मर्यादा बने इतनेको ही जानेगा, इतनेको नहीं तो यह तो ज्ञानकी निकृष्टता है। जैसे कोई उत्तम कुल वाला पुरुष कुलके विपरीत अभिरुचि वाला काम करे तो लोग उसे धिक्कारते हैं कि अरे इतना बड़ा निकृष्ट काम किया है। तो इसी तरह यहाँ भी देखिये कि ज्ञानका माहात्म्य प्रभाव तो इतना उत्कृष्ट है जैसा कि प्रभु अरहंत और सिद्धमें पाया जा रहा है। भगवान कितने महान् हैं, कैसा उनका विशुद्ध ज्ञान है कि वे तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको बिना कुछ मर्यादा लिए अमर्यादित रूपसे जान रहा है। तो ऐसा जानना यह तो है इस ज्ञानकी शोभा, शृङ्गार, श्रेष्ठता, चमत्कार आदिकी बात, लेकिन जो ज्ञान इस स्वभावसे गिरा हुआ है और यह ऐसे अनुचित रूपसे जानने लगा है कि इन्द्रियाँ ठीक हों तब जाने, इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो तब जाने, पदार्थ सामने हो तब जाने, इतनेपर भी कोई आँखें खोले तो वह रसका ज्ञान न कर पायगा, इस तरह उसमें नियम भी पड़ा हुआ है। तो इतनी जहाँ कठिनाई है कि हेतु जब सामने हो तभी जान पाये, तो उसके ऐसे जाननेको निकृष्ट बताया गया है। यह प्रत्यर्थ परिणामी इन्द्रियजन्य ज्ञान निकृष्ट है। मूल प्रसंग यह चल रहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको इन्द्रियविषयोंमें अभिलाषा नहीं है, उसी प्रसंगमें बताया जा रहा है कि कौन ज्ञान ग्राह्य है और कौन ज्ञान अग्राह्य है? इसका सम्बन्ध इससे यों मिल जायगा कि ज्ञानी जीवकी धुनमें यह बात है कि यह ज्ञान तो ग्राह्य ही नही है जिसके द्वारा हम विषयोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं। तो जहाँ ऐसे उस ज्ञानकी ग्राह्यता ही कोई मिटा देवे तो फिर विषयोंमें अभिलाषा ही क्या होगी? यह है उसका मूल पौरुष। इसी हेतुसे यहाँ ग्राह्य और अग्राह्य ज्ञानकी बात चल रही है। तो यह ज्ञान जो कि इन्द्रिय द्वारा जाना जा रहा है, प्रत्यर्थ परिणामी हो रहा है यह तो इसकी निकृष्ट दशा है। भला इस जानकारीसे भी जिसको उपेक्षा हो रही हो उसे विषयोंका अभिलाषी कैसे कहा जायगा? यों तो लोग अपने-अपनेको सम्यग्दृष्टि कहने वाले लोग खुलकर

मौजमें भी रहते हैं और यह बहाना भी बताते हैं कि चारित्र मोहका उदय है इसलिए हम इन भोगसाधनोंका त्याग नहीं कर पाते हैं और हमारा भीतरी श्रद्धान तो वैसा ही है, जैसे कि अरहंत सिद्धका है, यों इन बातोंका दुरुपयोग किया जा सकता है, पर यहाँ अन्तरङ्गमें देखो कि सम्यग्दृष्टिके कितनी अधिक विशुद्धि है कि वह जानकारी सब रखता है लेकिन उस जानकारीके करते हुए उससे अपना महत्त्व नहीं समझता है।

व्युच्छिन्नता और कृच्छ्रता होनेके कारण इन्द्रियज ज्ञानकी दुःखप्रदता—अज्ञानी मोही लोग कुछ थोड़ासा ज्ञान पाकर भी बड़ा मद किया करते हैं पर ज्ञानी पुरुष जानता है कि अरे यह तो इन्द्रियजन्य ज्ञान है, छुटपुट ज्ञान है, क्रमवर्ती ज्ञान है अतएव यह मिट जाने वाला है। जिस पदार्थकी जो जानकारी बन रही है वह कितनी देर ठहरेगी ? वह तो मिट जायगी, फिर दूसरी जानकारी होगी। तो जो ज्ञान मिट जायगा उस ज्ञानमें क्या ग्राह्यता अथवा उस मिट जाने वाले ज्ञानके बलपर जो कुछ विषयभोग उपभोग विकल्प प्रवृत्ति बन रही है वह प्रवृत्ति क्या ग्राह्य होगी ? तो यह इन्द्रियजन्य ज्ञान क्रमवर्ती होनेके कारण मिट जाने वाला है, इस कारण यह ज्ञान दुःखरूप है। यहाँ यह बात भी ध्यानमें लाने योग्य है कि यद्यपि प्रभु का भी ज्ञान चूंकि पर्याय रूप है ही, जानन हो रहा, वृत्ति चल रही, इस कारणसे वह भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन होता है किन्तु उसे विच्छुन्न नहीं कहते हैं, क्योंकि जिस रूप वह जान रहा है उस रूप जाननेकी धारा चल रही है, इस कारण उसे नष्ट होने वाला नहीं कहा गया है। जिसकी वह जानकारी ही न रहे, भिन्न-भिन्न जानकारी होकर ऐसे ज्ञानमें विच्छुन्न शब्द का यहाँ प्रयोग करना चाहिये। तो यह इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है इस कारण विच्छुन्न है, तो प्रकट है कि दुःखप्रद है। इन तीन कारणोंके अतिरिक्त चौथा कारण यह है कि ये ईहा आदिक उपक्रमसे उत्पन्न होते हैं, इस कारणसे ये कृच्छ हैं, कठिन हैं। अकेला किसी पदार्थको हमें निश्चय करता है तो पहिले दर्शन होना चाहिए, बादमें अवग्रह, ईहा, अवाय हो, निर्णय यहाँ होता है। यद्यपि पदार्थ यहीं अवग्रहमें जाना गया, किन्तु अवग्रहमें विशेषका कुछ आभास नहीं है, और ईहा जाना गया, विशेष जाना गया, पर वह जाना गया इस आधारपद्धतिसे कि यह होना चाहिये। यह है इस तरहका एक निश्चय और एकाकार बिना समझा गया है और अवायमें उसका निश्चय हुआ है और धारणामें तो इतना तीव्र निश्चय संस्कार पड़ा है कि वह समय-समयपर याद कर लेता है। तो देखिये—पदार्थका निश्चय करनेके लिए कितने रूप पद्धतियोंमें से गुजरना पड़ा ? तो जहाँ ईहा आदिक मुक्त ज्ञानोंका, प्रयत्नोंका अपाय हुआ, ऐसा उत्पन्न होने वाला ज्ञान तो बड़ा कठिन बन रहा है। जब कि उस शुद्धज्ञान, केवलज्ञान, प्रभु का ज्ञान, एक यह काम करनेके लिए क्या कठिनाई है ? वह तो सहज हो रहा है, सुन्दर हो रहा है और सर्व परिज्ञान हो रहा है।

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥२८२॥

परोक्ष, आक्ष्य, संशयादि दोषमय इन्द्रियजज्ञानकी अनादेयता—इन्द्रियजन्य ज्ञान ग्राह्य नहीं है। क्यों ग्राह्य नहीं है उसका कारण बताया जा रहा है—प्रथम कारण यह कहा जा रहा है कि वह दुःखरूप है, क्यों दुःखरूप है ? इसके हेतुमें बताया गया है कि चूंकि उसमें अज्ञात पदार्थकी जिज्ञासा बनी रहती है, और इतना ही नहीं, किन्तु वह ज्ञान तत्काल भी दुःखप्रद हो रहा है, क्यों दुःखप्रद हो रहा है, उसके विवरणमें उक्त श्लोकमें यह कहा गया कि चूंकि वह ज्ञानप्रमत्त है, निकृष्ट है, विच्छिन्न है और कृच्छ है इस कारण दुःखप्रद भी है। अब और भी बात इसी प्रसंगमें बता रहे हैं कि वह ज्ञान पराधीन है इस कारणसे परोक्ष है। ज्ञानमें परोक्षताका होना एक दोष है और वह दुःखप्रदताका हेतु है। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान पराधीन है। अब इन्द्रियां ठीक हों, पदार्थ सामने हो तब तो यह ज्ञान कर पाये, नहीं तो न कर पाये, और फिर नियमित विषयका ही ख्याल किया जा रहा हो तब यह ज्ञान हुआ करता है, और आत्मा तो सभी समान हैं स्वभावदृष्टिसे, क्योंकि चेतना सर्वत्र वही है। चाहे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय जीव हो, चाहे पञ्चेन्द्रिय जीव हो, चाहे सिद्धप्रभु हो, जब उस आत्माके सर्व स्वरूपको निरखा जाता है तो जातिकी अपेक्षा सभी जीव समान हैं, फिर देखो—कितना अनर्थ हो रहा है कि यह एकेन्द्रिय जीव रसका ज्ञान नहीं कर सकता। जहां हम आप सब लोग इतना बड़ा साहित्य रचते हैं, बोलते हैं और बड़े ढंगसे अलंकारोंके साथ अनेक वर्णन करते हैं और कैसा साफ और शौकसे अपने आरामके साधन बनाते हैं, कितना परिज्ञान चल रहा है, किन्तु इस एकेन्द्रिय जीवके तो इस प्रकारका कुछ भी ज्ञान नहीं है। क्या करें बेचारे वे एकेन्द्रिय जीव ? वहां कितनी पराधीनता है कि इन्द्रियकी अपेक्षा बिना वह ज्ञान उन जीवोंमें प्रकट नहीं हो पा रहा है। एक पराधीनता ऐसी है कि चलो परपदार्थ जुट गए, मिल गए, तो चलो पराधीन बन गए, किन्तु वहां तो इतनी पराधीनता है कि उस भवमें सम्भव ही नहीं है कि वे कुछ रस, गंध अथवा अन्य किसी चीजका कोई परिचय पा सकें। तो ऐसे पराधीन होनेके कारण यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, और भी देख लीजिए—जिसका परोक्षज्ञान विशेष बढ़ा चढ़ा है, श्रुतज्ञान विशेष है तो हो ले विशेष और उस श्रुतज्ञानके द्वारा सामान्यतया सभी पदार्थोंका बोध भी हो रहा है, इतना सब कुछ होनेपर भी यदि कोई महाश्रुतज्ञानी जीव सन्तुष्ट है तो वह कहीं इस परोक्षज्ञानके कारण सन्तुष्ट नहीं है, किन्तु उसके दर्शन मोहनीयका अनुदय है अतएव आत्मदर्शन है और उस ही में वह तृप्त हो रहा है, और ऐसे उस आत्मानुभवमें कुछ कैद भी नहीं बन सकती है, पर परोक्षज्ञानके नातेसे कितना भी विशाल ज्ञान हो रहा हो तब भी वहां दुःखका अभाव नहीं है। तो इन्द्रियजन्य ज्ञान, मानसिक ज्ञान यह ज्ञान पराधीन है, इस कारणसे

यह ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है, और भी दोष देखिये—इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है इस कारण यह इन्द्रियज कहलाता है और परोक्षज्ञान कहलाता है, यह तो है ही, किन्तु और भी दोष देखिये—इन परोक्ष ज्ञानोंमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय दोष सम्भव हैं, इस कारण परोक्षज्ञान सदोष ज्ञान हुआ। अवधिज्ञानसे और मनःपर्ययज्ञानसे जो जाना, केवलज्ञानसे जो जाना वहां संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अवकाश नहीं है। जैसे सुसम्वेदन प्रत्यक्षसे जिसने आत्मानुभव किया है तो प्रत्यक्षके समय वहां संशय, विपर्यय, अनध्यवसायका अवकाश नहीं है। इसी प्रकार सभी प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें इस दोषका अवकाश नहीं है। यह दोष आता है तो इस परोक्षज्ञानमें ही। ज्ञान है तो इस दोषके सद्भाव होनेसे यह परोक्षज्ञान सदोष कहलाता है। इस तरह इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें जिनमें इतने अधिक दोष हैं वे ज्ञान ग्राह्य कैसे हो सकते और जब ये ज्ञान ग्राह्य न हुए तो ज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका भोगोपभोग सम्यग्दृष्टि जीवके आगे कैसे हो सकता है ?

विरुद्धं वन्धहेतुत्वाद्वन्धकार्याच्च कर्मजम्।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥२८३॥

विरुद्ध होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—इन्द्रियज ज्ञानमें अर्थात् ५ इन्द्रिय और मनके निमित्तसे निष्पन्न हुए क्या-क्या दोष हैं, इसका वर्णन चल रहा है। यह इन्द्रियज ज्ञान पराधीन है अर्थात् आत्माके वन्धका कारण है, कार्माणवर्गणामें वन्धरहित विकाररहित एक निज ज्ञानस्वभावके सहज विकासमें वना रहता है और इस ही कारण निरन्तर शुद्ध आनन्दमय रहता है। तो वहां तो इसका ऐसा श्रेष्ठ शील और उसके विरुद्ध वात वनती है। भाववन्ध द्रव्यबन्ध जन्म मरण, आकुलतायें, तो इन वन्धनोंके कारणभूत होनेसे ये इन्द्रियज ज्ञान विरुद्ध है। यहां इन्द्रिय ज्ञानकी अगाह्यता वतलायी जा रही है। यह इन्द्रिय ज्ञान विरुद्ध होनेके कारण अनादेय है। भला जिस इन्द्रिय ज्ञानके कारण इतने संकट हो रहे हों वह आदेय कैसे हो सकता है ? इस प्रकरणमें सर्व विकारोंको, इन इन्द्रियज ज्ञानको विरुद्ध ज्ञानमें निहित कर दिया गया है और इस कारणसे जो कुछ भी अविरुद्ध बताया जा रहा है और जो कुछ दुःखकी आकुलताका कारण बताया जा रहा है वह सब इन्द्रियज्ञान है, और वैसे ही सोचो तो किसी भी पापमें प्रवृत्ति होना, किसी भी आकुलनामें वृत्ति होना, यह सब इस ज्ञानपर ही तो निर्भर है। सर्वप्रथम जीवका यही तो यत्न हुआ। साथ भी विकार हैं लेकिन विकारोंको चेतने वाला, अनुभवने वाला अथवा समझने वाला यह ज्ञान है। तो यों कहना चाहिये कि एक साथ होते हैं यद्यपि ज्ञान और विकार, फिर भी चूंकि ज्ञानचेतना है, इसलिए प्रथम स्फुरणा ज्ञानकी समझी जायगी। जब जीवने इन्द्रियजज्ञान किया तो उसके बलपर ये सब वन्धन आ पड़े हैं। तब ही तो बन्धरहित आत्मस्वभावकी अनुभूतिके समय इन्द्रियज ज्ञान नहीं रहता, मानसिक

ज्ञान भी नहीं रहता है। यद्यपि ज्ञानानुभूति करनेके योग्य जो श्रेष्ठ ज्ञान है वह मनसे हो रहा है पर होते-होते जहाँ ज्ञानका साक्षात् अनुभव होता है, वहाँ यह भावमनमें सहज ज्ञानविकासके रूपमें परिणाम कर स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है, फिर वहाँ मन जैसी बात नहीं लगती। तो इससे भी यह सिद्ध है कि इन्द्रियज ज्ञान ही इन सब अनर्थोंका मूल कारण है। यों यह इन्द्रियज्ञान बन्धहेतु होनेसे विरुद्ध है।

कर्मज होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—अब इन्द्रियज ज्ञानका अन्य भी दोष बतला रहे हैं कि यह इन्द्रियज्ञान कर्मज है, क्योंकि यह बंधका कार्यभूत है। जब उस उस प्रकारके कर्मोंका विपाक अथवा क्षयोपशम होता है तो ऐसी स्थितिमें यह इन्द्रियज ज्ञान हुआ करता है। जब तक इसके साथ मोहनीय कर्मका उदय रहता है, उस प्रकारका यथासम्भव विशिष्ट जब यह इन्द्रियज ज्ञान बनता है, इन्द्रियज्ञान होनेमें केवल यह बात नहीं कि इन्द्रियसे ही सब काम चल रहे हों पर ऐसा इन्द्रियजज्ञान होनेमें रागद्वेष मोह कषाय प्रमाद और कर्मके उस-उस प्रकारके क्षयोपशम उदय सभीके सभी हो रहे हैं तब यह इन्द्रियजज्ञान हो रहा है, जिसकी कल्पना करो कि कर्म नहीं है अथवा मोहनीय कर्म नहीं है तो इन्द्रियजज्ञान तो नहीं हुआ। यह चर्चा इन्द्रियज्ञानकी चल रही है, ये सब उन कर्मविपाक क्षयोपशम आदिकके होने पर होते हैं तो ये कर्म बँध उनका यह कार्य हुआ इन्द्रियजज्ञान, इस कारणसे इन्द्रियजज्ञान कर्मज है।

अश्रेयोमय होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—इन्द्रियजज्ञानके अन्य भी दोष बतला रहे हैं कि ये इन्द्रियजज्ञान अश्रेय हैं, अकल्याण हैं, क्योंकि ये आत्माके धर्म नहीं हैं, मुझ आत्माका धर्मभूत ज्ञान तो वह ज्ञान है जिसमें न कर्मके क्षयोपशम उदयकी अपेक्षा होती, जिसमें न परकी अपेक्षा होती, न किसी परपदार्थकी अपेक्षा होती, वह स्वयं ही अपने आपके श्रेयसे उत्पन्न हो रहा हो ऐसा ज्ञान तो श्रेयोमय है, पर इसके विरुद्ध जो ज्ञान हो रहे हैं पराश्रयज वे सब अश्रेयरूप हैं, मेरे लिए अकल्याणरूप है। भला इससे बढ़कर और संकट क्या कहा जायगा कि इन्द्रियजज्ञानके प्रतापसे यहाँ परपदार्थोंमें ऐसा परिचय बना हुआ है, यों समझ रहा है कि ये इस प्रकारके हैं, ये मेरे हैं, इनकी यह पोजीशन है, ये मेरे लिए मित्र हैं आदिक रूपसे जो विकल्प चल रहे हैं ये विकल्प इस इन्द्रियज्ञानके बलपर ही तो चल रहे हैं, तो सारे संकट इसीसे तो आ गए। मान लो किसी बाह्यपदार्थमें कुछ परिचय न हो, दुनिया है, जो जहाँ है सो है, जिसका जो परिणमन है सो है, मेरा बाहरमें कोई प्रभु नहीं है, मैं किसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करूँ और किससे विरोध रखनेकी भावना रखूं? ये दोनों ही रागद्वेष मेरे आत्माको मथ देते हैं, ये भाव मुझे न चाहियें। तो जहाँ बाह्यपदार्थोंमें कोई विकल्प न रखा जाय और केवल एक ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अनुभव किया जाय तो इस

स्थितिमें वहाँ कल्याणमय ही स्थिति पायेंगे, शुद्ध सहज आनन्द ही पायेंगे। जिसे कहते हैं गोरखधंधा अथवा जिसे कहेंगे कि स्वयं चाह-चाहकर फंस जाना, वह सब इस इन्द्रियज्ञानके बलपर ही हो रहा है। जैसे गोरखधंधेमें कोई छल्ले एक दूसरेसे इस तरहसे फंसे हुए होते हैं कि अगर उनमेंसे किसी उलझे हुए छल्लेको सुलझाने लगें तो वह और भी उलझता जाता है, यों ज्यों-ज्यों हम सुलझानेकी कोशिश करेंगे त्यों-त्यों वे और भी उलझते जायेंगे। ठीक ऐसी ही बात इन इन्द्रियज ज्ञानोंकी समझें। इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे ज्यों-ज्यों हम परपदार्थोंका ज्ञान बढ़ाते हैं, मेरी ऐसी परिणति बने, मेरा ऐसा आख्यान हो, यों किसी भी प्रकारका चिन्तन चले तो फिर हमपर संकटोंका बोझ और भी लदता चला जाता है। जैसे बहुतसे लोग सोचते हैं कि जब हमारे पास धन वैभव कम था तब हम बहुत कुछ सुखी थे, पर ज्यों-ज्यों यह धन वैभव बढ़ता गया इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके बलसे त्यों-त्यों ही हम और भी हैरानीमें पड़ते गए। इसी तरह इन लौकिक ज्ञानोंकी बात है। कोई कितनी ही विद्या पढ़ ले, मान लो आचार्य हो गया तो वह भी अपनेको और भी अधिक झंझटमें परेशानीमें पड़ा हुआ अपनेको मानता है। सोचता है कि अरे इससे तो अच्छे हम छोटे विद्यार्थीकी अवस्थामें थे, वहाँ ये कोई झंझटें सामने न थीं, चैनसे रहते थे, पर ज्यों-ज्यों ही विद्या अधिक मिलती गई त्यों-त्यों ही अशान्ति बढ़ती गई। तो देखिये—वहाँ लौकिक ज्ञानमें अधिक बढ़ जानेके कारण उलझनें नहीं बढ़ीं, किन्तु इन इन्द्रियोंके बलसे जो अपने बारेमें एक विशिष्ट परिचय बनाया और दूसरों के प्रति अविशिष्टताका जो सम्बंध बना डालते हैं, ऐसी जो भीतरमें सम्बंधकी बात बनी वह हैरान कर रही है। वस्तुतः कोई बाहरी पदार्थ किसीको हैरान करता हो ऐसी बात नहीं है। अपना जो स्वाभाविक ज्ञान है, अपने ही आश्रयसे निष्पन्न होने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान न रहे और ये जो निकृष्ट इन्द्रियज्ञान चल रहे हैं और जिनको हम पकड़ते हैं, जिनके आधारपर ही हम अपना सब निर्णय बनाते हैं, चाहे वहां किसी दूसरेका अपमान भी होता हो, बरबादी भी होती हो, किसीका कुछ हो, लेकिन वहां मेरे ही भावके अनुकूल बात होनी चाहिए—यह क्या है ? यह इन्द्रियज्ञानका ही आग्रह है, विकल्प है, पर ये ग्रन्थकार तो यहां कह रहे हैं कि यह इन्द्रियज्ञान अग्राह्य है, ग्रहण करने योग्य नहीं है। यहां तो यह देखना चाहिए कि जब जब मेरेमें कोई आग्रह आयें तो जान जानकर उनको तोड़ें मरोड़ें और उनके विपरीत हम अधिक नम्र बननेका यत्न करेंगे तब तो उन संकटोंपर हम विजय नहीं पा सकते है। तो यह इन्द्रियज ज्ञान अनात्म धर्म है, इस कारणसे यह अकल्याणरूप है। यह इन्द्रियजज्ञान अग्राह्य बताया जा रहा है और अग्राह्यताका हेतु बताया जा रहा है।

अशुचि होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—यह इन्द्रियज्ञान अपवित्र है, क्योंकि इसमें कलुषतायें है, इन्द्रियज्ञानके साथ कितने दुराशय लिए हैं, कितने विकार चल रहे हैं, कैसी

उल्टी कल्पनायें चल रही हैं, कहाँ बस रहे हैं ? मेरे आत्माका आनन्दधाम जो निज सहज भाव है उस सहजस्वभावको त्यागकर हम कितना दूर पहुंच गए हैं ? यहाँ दूरका अर्थ यह है कि आत्माके स्वरूप और स्वभावसे अलग यदि एक प्रदेशमात्र भी दूर हुए तो वह अत्यन्त दूर ही कहलाता है। चाहे हम ज्ञानके द्वारा बड़ी दूर कलकत्ता, बम्बई आदिककी बातोंमें ज्ञानको ले जायें तो यह भी उतना ही दूर है और चाहे यहाँ कुछ शरीरके शृङ्गार करनेमें उसे निरख निरखकर खुश होनेमें अपने ज्ञानको लगायें तो यह भी इतनी ही दूर है। आत्मस्वभावसे बाहर किसी भी परपदार्थमें बुद्धिका लगना, यही आत्मासे अत्यन्त दूर निकल जाना है। तो ऐसा बाहर जाता हुआ यह ज्ञान, इन बाहरी पदार्थोंमें अपना हित ज्ञान, आनंद, सुख, मौज ढूंढ़ रहा हुआ ज्ञान, यह देखो कितना गंदा बन रहा है ? स्वच्छता तो इसमें ऐसी है कि स्वयं ही इसमें सहज आनन्द जगे, लेकिन इसने कलुषता ऐसी बना रखी है कि यह अपवित्र बन गया है। जो सारी अपवित्रताकी जड़ हो वही तो अपवित्र है। जैसे यहाँ लोकमें ऐसी बात पायी जाती है कि अगर कोई बालकका पैर विष्टासे भिड़ जाय तो कोई उसको छूता नहीं, और अगर कोई दूसरा उसको छू ले तो उसको भी नहीं छूते। अब बताओ अगर उस दूसरेको नहीं छूते, तब तो फिर तीसरे, चौथे आदि सो भी लोग उसके स्पर्शमें आ जायें तो उन्हें भी न छूना चाहिए, और अगर उनको छूना चाहिये तब तो फिर उस दूसरे व्यक्तिको भी छूना चाहिये। अब देखिये—जैसे अस्पर्श्य तो केवल एक लड़का था पर उसके शरीरसे दूसरोंका स्पर्श हो जानेसे वे भी अस्पर्श्य हो गए, इसी प्रकार ये मोही मिथ्यादृष्टि लोग, ये खून, पीप, मल, मूत्र, कफ, थूक, खकार आदि अपवित्र चीजोंसे भरे हुए कलेवर वाले जीव स्वयं स्वरूपदृष्टिसे अपवित्र तो न थे, स्वरूप तो उनका पवित्रताका ही था, पर इन पौद्गलिक परपदार्थोंके सम्पर्कसे यह उनमें अपनत्वकी बुद्धि करके मलिन बन गया। इस जीवने यदि इन पौद्गलिक स्कंधोंका, (कार्माणवर्गणाओंका) ग्रहण (सम्बंध) न किया होता तो इसमें गंदगी (अपवित्रता) आनेका कोई काम ही न था। पर इस जीवने इनको ग्रहण किया, इनसे अपना सम्बंध बनाया, इनमें अपनी रुचि बनायी इसलिए यह अपवित्र बन गया। तो मूलमें ये पौद्गलिक वर्गणायें अपवित्र थीं लेकिन हुआ क्या कि किसीने छू लिया इसलिए कितना गंदा हो गया ? इन्हें किसने छुवा ? जीवने, इसलिए यह जीव भी गंदा हो गया, अपवित्र हो गया। अरे जीव स्वरूपदृष्टिसे तो पावन है, सर्व परद्रव्योंमें यही सारभूत तत्त्व है। सब जीवोंकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु जो इन्द्रियज ज्ञान वाले जीव हैं ऐसे जीवोंने इन वर्गणाओंको छू लिया, इसलिये ये दुर्गतिके पात्र बन गए। जब कभी यह बात ध्यानमें आती है कि मूलमें अस्पर्श्य चीज क्या है ? तो पता पड़ता है कि मूलमें अस्पर्श्य चीज है इन्द्रियजज्ञान। तो इस प्रकारकी अशुचिताके कारण, कलुषताके कारण यह ज्ञान अपवित्र है, यह कैसे ग्राह्य हो सकता है ?

मूर्छितं यदपस्मारवेगवर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥२८४॥

मूर्च्छित होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता—यह इन्द्रियज ज्ञान मिरगी रोगकी तरह क्षणभरमें बढ़ता है और क्षणभरमें ही घटता है। कभी मूर्छित हो जाता, कभी उल्टा बनता, इस तरहसे यह इन्द्रियज ज्ञान तो मूर्छित है। जैसे जिसके मिरगीका रोग हो जाता है तो ऐसा पुरुष असाध्यरोग वाला कहलाता है, और प्रायः करके देखा गया है कि जिसके यह मिरगीका रोग बढ़ गया है वह अन्तमें किसी बड़ी घटनामें मृत्युको प्राप्त होता है। जलमें डूबकर मरा हो, कहींसे गिरकर मरा हो, हाथ पैर टूटकर गुजरा हो, यों बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है और उसके वेगकी स्थिति देखो—पड़ जाता है, दाँत कड़कड़ाता है, मुखसे राल बहती है····। जिसकी हालत देखकर लोग शोकमग्न हो जाते हैं। जैसे वहाँ ज्ञान घट रहा है, उसका ज्ञान बेहोश है, उसकी बुद्धि गुम्फित हो जाती है, जब मिरगी रोगका वेग न हो तब भी वह स्वस्थ नहीं रह पाता है, उसका वेग बढ़ता है, घटता है, मूर्च्छित होता है। इसी प्रकार यह इन्द्रियजज्ञान कभी घट गया, कभी बढ़ गया, यह आत्मा जब कभी क्रोधका वेग आता है तो इसके ज्ञानकी क्या हालत हो जाती है? बुद्धि काम नहीं करती है, और कभी कुछसे कुछ बक जाता है और जिसका चेहरा विकृत हो जाता है। तो कषायका जब वेग होता है तो यह क्या है? इन्द्रिय ज्ञानका ही वेग है। यह सर्व विकारोंका प्रतिनिधि बनकर ज्ञानका नाच रंग बताया जा रहा है कि इस इन्द्रियज्ञानमें क्या-क्या दोष आते हैं? जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें हों तो यह बुद्धि भी बिगड़ जाती है। अपने आपकी इज्जत रखना और दूसरोंको तुच्छ मानना, क्या है, कुछ भी नहीं है। यद्यपि ऐसी प्रवृत्तिमें इसकी ही खोट जाहिर होती है, इसका ही नीचापन लोगोंको विदित होता है, पर इसकी उसे खबर नहीं रहती। उससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जाय? मूर्छित लोग यों ही नालीमें गिर पड़ते हैं, पानीमें गिर पड़ते हैं, किन्तु उनकी मूर्छित क्रियामें उन्हें अपनी बरबादीकी भी सुध नहीं है। ऐसे ही समझिये कि जब इन्द्रियज ज्ञानमें अपने आपकी बरबादीकी भी सुध नहीं रहती तो इससे बढ़कर मूर्छा क्या कही जायगी? यह इन्द्रियज ज्ञान मूर्छित है। जिस समय जीव मायाचारमें परिणत होता है तो मायाचारके वश होकर समझ रहा है कि मैं दूसरोंको उल्लू बना रहा हूं, मैं अपना बहुत बड़ा काम कर रहा हूं, लेकिन भीतरमें यह स्वयं उल्लू बन रहा है, यह स्वयं मूढ़ बन रहा है, अपने आपको बरबाद कर रहा है। तो इन्द्रियज्ञानके समय अपने आपकी बरबादीका ध्यान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त और मूर्छा क्या कही जायगी? इसी तरह लोभ कषायके वेगमें भी इस जीवकी विचित्र हालत हो जाती है। क्यासे क्या नहीं यह कर डालता है? इस स्थिति

में बड़ी बरबादी हो रही है इस जीवकी, लेकिन उस बरबादीकी सुध भी यह कैसे कर सके ? इस इन्द्रियज ज्ञानके कारण इसके मूर्छाका बड़ा वेग आया हुआ है । यह इन्द्रियज ज्ञान उस तरहसे घटता और बढ़ता है जिस तरहसे मिरगी रोग वालेका रोग घटता और बढ़ता है । अतः यह इन्द्रियजज्ञान मूर्छित है, बेहोश है, अपने आपके स्वामीकी सुध नहीं रख सकता है । इन सबका स्वामी यह मैं मूलमें आत्मा ही हूँ, लेकिन इसने अपना स्वामित्व बिगाड़ दिया है, इस इन्द्रियज ज्ञानने तो इस आत्माकी स्वच्छताको खत्म कर दिया है । मत हो यह इंद्रियज ज्ञान, ऐसी भावना बने, मनकी प्रवृत्तिको रोकें, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकें । इन प्रवृत्तियोंसे, इन श्रमोंके कारण यह जीव अनादिकालसे लेकर अब तक पिसता चला आया है । किसी भी क्षण इसने विश्राम नही पाया । चतुर्गतियोंमें इसका परिभ्रमण ही चलता रहा । जब यह जीव विग्रह-गतिमें गया तो यद्यपि वहाँ द्रव्यइन्द्रियाँ नहीं हैं, मगर वहाँ जो अब द्रव्येन्द्रियोंका क्षयोपशम बना है या आगे जिस गतिमें जायगा उसके अनुकूल जो कुछ उदय बना है उन सबके कारण यहाँ भीतरमें एक सुलगती हुई आगकी तरह इसका संस्कार बना रहता है । वहाँ भी तो इसे चैन न मिली । जब यह शरीर न रहा, अगला शरीर भी नहीं मिला उस बीच भी चैन न मिला । ऐसा यह इन्द्रियजज्ञान कितना मूर्छित है, यह आत्माको बेहोशीमें लाने वाला है, ऐसा जानकर कि मूर्छित निकृष्ट और कितने कितने ही दोष बताये गए हैं, इन सब दोषोंका स्मरण करके यह भाव रखना चाहिये कि मुझे इस इन्द्रियजज्ञानसे छुट्टी मिले और वर्तमानमें भी इन इन्द्रियज ज्ञानोंसे अपना कोई हित न समझना, इनसे मेरा हटाव अब भी बना रहे, ऐसी भावना रखनी चाहिए और इन्द्रियज ज्ञानके बलपर जो बाहरी परिचय हुआ करते हैं उन परिचयोंकी भी समाप्ति करनेका अपनेमें ज्ञान पौरुष द्वारा कोशिश होनी चाहिये ।

अत्राणं प्रयत्नीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसंस्थितेः ॥२८५॥

इन्द्रियज ज्ञानकी कर्मविपाकसे अत्राणता होनेके कारण अग्राह्यता—इन्द्रियज ज्ञानमें क्या-क्या अवगुण हैं और किन कारणोंसे अग्राह्य हैं, इसके वर्णनके प्रसंगमें यहाँ इन्द्रियज ज्ञान को एक देश यह बताया जा रहा है कि यह इन्द्रियज ज्ञान अत्राणमेव है अर्थात् इसकी शरण नहीं, इसकी रक्षा भी नहीं । जब कि आत्माका जो बैरीरूप है आत्मविकाससे विपरीत कार्य का निमित्तभूत है ऐसा प्रत्यनीत कर्म जब अपनी विपाक अवस्थामें आता है अर्थात् अपनी जीती जागती शकलमें आता है तब इस इन्द्रियज ज्ञानकी रक्षा नहीं है । यद्यपि कर्म कभी क्षणभरको शान्त भी रहते हैं अथवा बन्धके बाद जब तक विपाककाल नहीं आता है ये सत्में पड़े रहते हैं, पृथ्वी पिण्डके समान रहते हैं लेकिन जब इनकी स्थिति आती है, जब इनका समय निकलनेका होता है तो उस समय यह अपने रसको फलको प्रदान करता है अर्थात् उन

कर्मविपाकोंका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक विकार होते हैं, अथवा ज्ञानावरण आदिकके उदय होनेपर रहे सहे ज्ञानकी भी खैर नहीं रहती है। ऐसे इस कर्म वैरीकी जीती जागती अवस्थासे इसकी रक्षा नहीं हो पाती। जब कर्मोका, ज्ञानावरण आदिकका उदय होता है, चारित्रमोह, दर्शनमोहका उदय होता है तो उस समय थोड़ा बहुत जो कुछ ज्ञान भी पा लिया था वह भी समाप्त हो जाता है। वह इन्द्रियजज्ञान ठहरता नहीं है और तब ही तो यह तुरन्त निरखा जाता है कि किस विषयमें इन्द्रियजज्ञान लगा तो वह देर तक टिक नहीं पाता, क्योंकि यहां विचित्र कर्मोके उदय चलते हैं, जिसका इसका उपयोग (ध्यान) बदला है वे ठहर नहीं सकते, और कभी तो उस योग्यतासे भी हट जाते हैं, उतनी योग्यता नहीं रहती। जैसे आज मनुष्य हैं तो मनुष्योंके ढंगका विशिष्ट इन्द्रियजज्ञान चल रहा है। उदय आ गया तिर्यञ्चगति का तो फिर ये सब ज्ञान अरक्षित हो गए। ये न रह सकेंगे। तो ऐसे इन इन्द्रियज ज्ञानोंका क्या विश्वास किया जाय ? इस कारणसे इन्द्रियज्ञान अग्राह्य हैं।

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात्।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥२८६॥

षट् द्रव्यमें से मात्र मूर्त द्रव्यकी और उसमें भी स्थूलकी दिङ्मात्र जानकारी संभव होनेसे इन्द्रियजज्ञानकी अज्ञता—उक्त श्लोक तक इस प्रसंगमें बताया गया है कि इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य हैं और उसमें अनेक दोष बताये गए हैं। अब कदाचित् कोई ऐसी जिज्ञासा रखे कि भले ही ये इन्द्रियज ज्ञान अरक्षित हैं, नष्ट हो जाते हैं, पर ये जाननेका काम ही तो करते हैं इसलिए इन्हें एकदम अग्राह्य क्यों बताया जा रहा है ? आखिर ये चैतन्यस्वरूप हैं, चेतनेका काम करते हैं, प्रतिभास होता है, फिर इनका इतना अनादर क्यों ? तो उसके उत्तरमें कहा जाता है कि इन्द्रियज ज्ञान जानते ही क्या हैं ? छहों द्रव्योंमें केवल एक मूर्त पदार्थको ही जान पाते हैं, साधारण दशामात्र कुछ अनुभव लिया वह भी ज्ञान कोई विशेष नही है। तो प्रथम तो इस इन्द्रियज ज्ञानमें यह बात है कि अनन्त द्रव्योंमें से केवल मूर्त पुद्गल द्रव्यका ही विषय कर पाते हैं, और वे भी अत्यन्त साधारण। और उन मूर्त पदार्थोंमें भी सभी मूर्तका ज्ञान तो नहीं कर पाते, किन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थलोंके विषयमें ज्ञान हो पाता है, सूक्ष्म मूर्त पुद्गल द्रव्यके समयमें तो ज्ञान हो ही नहीं पाता। तो इनके ज्ञानकी हीनता देखिये—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन ५ द्रव्योंको तो यह इन्द्रियज ज्ञान जान ही नही पाता, जान पायगा यह केवल मूर्त पुद्गल पदार्थोंको, सो यहाँ भी जो सूक्ष्म हैं ऐसे मूर्तिक पुद्गलोंको जान नहीं पाता, सूक्ष्म स्कंध वर्गणाओंका ज्ञान कर ही नहीं सकता, केवल अनन्त परमाणुओं का ऐसा पिण्ड जो आँखों दिख सकता है उसे ही देख लिया और इन्द्रियके द्वारा कुछ विषय-भूत कर लिया, इतना ही इन्द्रियज ज्ञानोंका दिग्मात्र जाननेका काम है। उनके जाननेका कोई

विशिष्ट काम नहीं हो पाता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥२८७॥

स्थूल मूर्तमें भी विद्यमान ग्राह्यमें ही अल्प जानकारी होना संभव होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—इन्द्रियज ज्ञानोंमें ६ द्रव्योंमें से मूर्त पुद्गल द्रव्यको ही जान पाया और उनमें भी जो अधिक स्थूल हैं उन्हें ही जान पाया। अब उन द्रव्योंमें भी यह बात बतलाते हैं कि जाननेकी स्वतंत्रता नहीं है कि सब वर्तमानको जान ही लेवें। जो इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं ऐसे ही स्थूल स्कंधोंको जान सकते हैं। ऐसे बहुतसे स्थूल स्कंध पाये जाते हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं हैं और हैं अनन्त परमाणुओंके पिण्ड। जैसे कार्माणवर्गणायें अनेक औदारिक वर्गणायें, तैजस वर्गणायें, मनोवर्गणायें ये तो अनेक परमाणुओंके पिण्ड हैं, स्थूल हैं, लेकिन इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं और इतना ही नहीं, जो इससे भी और स्थूल हैं वे भी इन्द्रियके द्वारा अग्राह्य हो जाते हैं। जिसके जितना इंद्रियका प्रत्यक्ष हो उतना ही वह प्रत्यक्ष कर पाता है। तो बहुत मोटे पुद्गल स्कंधोंमें भी जो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हों उन्हें ही जाना जा सकता है। और जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जाना जा सकता। और अब ग्राह्य पदार्थोंमें भी इन्द्रिय-ज्ञानमें प्रवृत्ति किस तरह होती है सो भी देखो। वहाँ भी बड़ा संकोच है। ग्राह्य पदार्थोंमें भी जो पदार्थ अभिज्ञान हैं उनको ही जानता है किन्तु जो हो चुके हैं अथवा जो आगे होने वाले हैं उनको यह नहीं जानता। तो विद्यमानको जाने, अविद्यमानको न जाने, ऐसे इस ग्राह्य पदार्थके सम्बंधमें भी संकोच पड़ा हुआ है।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च।
नाप्यवग्रहहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥२८८॥

विद्यमान ग्राह्य स्थूल मूर्तमें भी सन्निधान और सन्निकर्ष होनेपर ही सद्व्यवधान अल्प ज्ञानकी संभवता होनेसे इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—यहाँ तक यह कहा गया था कि यह इन्द्रियज ज्ञान ६ द्रव्योंमें केवल मूर्तिक पुद्गलको ही जानता है और वहाँपर भी सूक्ष्मको नहीं, किन्तु स्थूलोंको जानता है और उनमें भी जो इन्द्रियग्राह्य हैं उनको ही जानता, अग्राह्यको नहीं और ग्राह्यमें भी जो वर्तमानमें हैं उन्हें ही जानता है। भूत और भविष्य पर्यायवालेको नहीं जानता है। तो यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज्ञान स्थूल वर्तमान ग्राह्य पुद्गल स्कंधोंको ही जान पाता है। अतः उसका जानना दिग्मात्र है। अब उसके अन्दर और संकोचकी बात बतला रहे हैं कि वर्तमान स्थूल ग्राह्य पुद्गल स्कंधोंको भी तब जान पाया है जब इन्द्रियज्ञानके साथ सन्निधान हो, सन्निकर्ष हो और सम्बंध हो गया हो। जैसे शरीरका पदार्थका स्पर्श हुआ तो स्पर्शज्ञान होता है, स्पर्श हुआ रसनाका और रसीले पदार्थका तो रसज्ञान हो गया, स्पर्श हुआ

घ्राणेन्द्रियका और सुगंधित दुर्गन्धित द्रव्योंके परमाणु स्कंधोंका तो उनका निमित्त पाकर सुगंध, दुर्गन्ध आदिका ज्ञान हो गया। यों ही सभी इन्द्रियज्ञानोंकी बात है। जिस इन्द्रियका जिस योग्य द्रव्यका निमित्त मिला, सन्निकर्ष मिला, उस योग्य इन्द्रियज्ञान हो जाता है। तो इस इन्द्रियज्ञानमें कितनी कैद पड़ी हुई है कि जब पदार्थ सामने हो तब उसका ज्ञान हो। तो ऐसे इन्द्रियज ज्ञानको ग्राह्य कैसे कहा जा सकता है ? यहाँ सन्निकर्षका मतलब है सम्बंधमात्र। जिस जिसके साथ सम्बंध हो सकता हो। दार्शनिक शास्त्रमें जो सन्निकर्षको अप्रमाण कहा है उसका भाव यह है कि सन्निकर्ष कोई ज्ञानात्मक चीज नहीं है। वह तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बंधकी घटना है। वह कहीं प्रमाणभूत नहीं होता। प्रमाणभूत तो ज्ञान है। वही प्रमाण कहलाता है और सन्निकर्ष तो इन्द्रियज्ञानकी एक साधना मात्र है। तो ऐसा सन्निकर्ष होनेपर यह इन्द्रियज ज्ञान कुछ जान नहीं पाता है, इस कारण यह ज्ञान ग्राह्य नहीं है और भी उसके अंदर संकोच विस्तारकी बात देखिये कि सम्बंध भी हो गया पदार्थका, विषयका इन्द्रियसे इतने पर भी यह इन्द्रियजज्ञान साक्षात् सब नहीं जान पाता है किन्तु वहां अवग्रह हो, ईहा आदिक हो, इस तरहके रुककर क्रमसे कुछ समझ पाता है ऐसा इन्द्रियज्ञान जहाँ इतनी कैद है, इतनी अशक्ति है कि जहाँ समर्थता नहीं है, उस इन्द्रियके ज्ञानको ग्राह्य कैसे कहा जा सकता है ?

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥२८६॥

सव्यवधान सन्निकृष्ट विद्यमान ग्राह्य स्थूल मूर्त पदार्थमें भी व्यस्तमें ही व कदाचित् अल्पज्ञानकी संभवता होनेसे इन्द्रियजज्ञानकी अज्ञता—उक्त श्लोकमें इन्द्रियज्ञानके दोष और हीनता बताकर यह शिक्षण किया गया है कि हे आत्मन् ! तू ऐसे इन्द्रियजज्ञानमें आग्रह मत कर, अर्थात् मेरे ज्ञानमें यह आये, मेरा विचार यह बने, मेरी बुद्धि यों हो, तो ऐसा न होना चाहिये। बाह्य पदार्थोमें परिणमन, मेरी बात ऐसा ही रहनी चाहिये कि जैसा मैंने कहा है। ऐसी बाह्य पदार्थोंकी परिणतिके सम्बंधमें जो आग्रह है वह इस आत्माके लिए हितरूप नहीं है, अथवा कोई बाह्य पदार्थोकी परिणतिका आग्रह नहीं करता, किन्तु वह अपने ही विचार विकल्प तरंगोंका आग्रह करता है और ऐसा आग्रह किए जानेका कारण यह बनता है कि उसे उस विकल्प रूप पर्यायकी हितबुद्धि हुई है। तो ऐसा यह इन्द्रियज ज्ञान जो कि आत्माकी बरबादीका ही हेतुभूत है, उन इन्द्रियज ज्ञानोंसे आत्माका हित नहीं है। यहाँ ऐसी जगह संधि पर प्रहार किया गया है कि जहाँसे दो टूक हो जानेपर फिर सर्व क्षोभ और उलझनकी समाप्ति करना सुगम हो जाता है। मैं इन्द्रियज्ञान रूप नहीं हूं। यह इन्द्रियज्ञान मेरे अहितरूप है, मेरे घातका कारण है, इसके आग्रहसे ही संसारके जन्म मरणकी परिपाटी बन रही है। ये सब उसे आसान हो जाते हैं जिसने इन इन्द्रियज ज्ञानोंसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यको विभक्त कर दिया

है। तो यहाँ तक यह बताया गया कि इन्द्रियजज्ञान मूर्त पुद्गलको ही जानता, उसमें भी स्थूलको ही जानता, वहाँ भी इन्द्रियग्राह्य पदार्थको ही जानता, उसमें भी वर्तमानको ही जानता। वर्तमानमें भी इन्द्रिय और पदार्थका सन्निधान होनेपर ही जानता है और वहाँ सन्निकर्ष सम्बंध होनेपर ही जानता, इतनेपर भी अवग्रह, ईहा, इस तरह रुक-रुककर धीरे-धीरे कुछ समझ पाता है। अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि ये उपर्युक्त समस्त कारण भी मिल जायें तो भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे कुछ पदार्थोंका ही बोध हो पाता है। देखो इस चक्षुइन्द्रियसे कुछ जाना, सामने रखा है कोई फल, उसे देख लिया तो इस प्रयत्नमें उसने जान पाया केवल रूपको, पर उसका सर्वस्व, उसका स्वाद, स्वाद, उसका रस तो नहीं समझमें आया। तो वहाँ आँखोंसे देखकर केवल उसके प्रतिनियत विषयको ही जान पाया, सब कुछ नहीं जान पाया। सब कुछ तो तब जान पाये कि जब कुछ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो। यहां यह भी ध्वनित हो गया कि जिस जीवमें जितना जाननेकी योग्यता है संसार अवस्थामें उस योग्यता भरसे भी नहीं जान पाता है, किन्तु वहां यदि विशुद्धि वर्द्धमान है तो उस योग्यताके अन्दर कुछ जान पाता है और यदि विशुद्धि वर्द्धमान नहीं है तो ऐसी स्थितिमें जितना इसका क्षयोपशम बना है उतना पूरा समझ सके, ऐसा भी नहीं हो पाता है।

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा संतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥२९०॥
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥२९१॥
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥२९२॥
अपि वीर्यान्तिरायस्य लब्धिरित्यमिधीयते।
तदैवास्ति स आलापरतावदंशश्च शक्तिसः ॥२९३॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा उनके आवरणोंके असंख्यात भेद––उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि ऊपर-ऊपर जब शुक्ति बढ़ती है तब ज्ञान हो पाता है और वह ज्ञान सदा नहीं हो पाता, किन्तु कभी-कभी उत्पन्न होता है, उसीके सम्बंधमें यहां स्पष्टीकरण किया गया है। पहिले यह बतलाते हैं कि ऊपर-ऊपर ज्ञानमें शुद्धता किस प्रकार आती है, इसके सम्बंधमें अब मूलतः सुनो। प्रथम तो यह जानना चाहिये कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद असंख्यात हैं और उन भेदोंमें भी शक्तियां अनंत भरी हुई हैं। हम आप जीवोंके जिनके ये इन्द्रियज्ञान और मानसिक ज्ञान चलते हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाये जाते हैं। संसारके सभी जीवोंमें मति-

ज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दो तो होते हैं, उनमें हीनता और अधिकताका अन्तर रहता है। किसी जीवके विशेष ज्ञान् बढ़ गया, किसीमें हीन ज्ञान रहा, ऐसा तारतम्य तो होता है, किन्तु होता है वह संसारी जीवोंमें। ये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कितने प्रकारके हैं ? असंख्याते प्रकारके हैं और ये असंख्याते प्रकार तो एक साधारणरूप ही बताये गए हैं, इनमें भेद और किये जायें, इनमें शक्तियाँ और देखी जायें तो इसके अनन्त शक्तियोंके कारण इन्हें अनन्त भी कहे जा सकते हैं। तो जितने भेद हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके ? जितने मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण हैं, या जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद हैं उतने ही तो ज्ञानावरण हैं।

ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार ही मति श्रुतज्ञानके विकासकी संभवता—जितना ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उतना ही यह ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान जिन-जिन पदार्थोंको जानता है उन उन पदार्थोंको जब नहीं जान पाता था तब समझना चाहिये कि उनके ज्ञानका आवरण था और इस दृष्टिसे हम यह कह सकते हैं कि हमने चौकीको कब जान पाया, जब चौकी ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया। चटाईको कब जान पाया ? जब चटाई ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो गया। यों हम कितने पदार्थोंको यहाँ जानते हैं ? हजारों लाखोंको ही नही, बल्कि समझना चाहिये कि उतने प्रकारके ज्ञानावरण भी हैं। और उनका क्षयोपशम होनेपर यह ज्ञानपरिणति हो जाती। अब इस ही ढंगसे यह देखें कि हमपर कितने ज्ञानावरण लदे हुए हैं ? तो पदार्थ अनन्त हैं, उन अनन्तका हम ज्ञान नहीं कर पाते, हम तो यों अनंत भी कह सकते हैं पर कुछ जाति अपेक्षा संक्षेपमें कुछ इस प्रकारसे कि जिसके अन्तरगत उस तरहके इन हीनाधिक पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जाय। इतनी तरहसे अगर देखा जाय तो कह सकेंगे कि असंख्याते ज्ञानावरण इस जीवके साथ पड़े हुए हैं। मति ज्ञानावरणकी बात कह रहे हैं, श्रुत ज्ञानावरणकी बात कह रहे हैं, ये भी असंख्याते प्रकारके आवरण होते हैं। तो ज्ञानके जो भेद कहे जायेंगे वे ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मके क्षयोपशमके कारण कहे जायेंगे। यों सीधा समझना चाहिये कि जितना हम आपके ज्ञानावरण है उतने ही समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ करते हैं। तो आवरण करने वाले कर्म हैं असंख्याते प्रकारके और ये भेद स्कंधके समझिये—प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको आवरण करनेकी शक्ति है जितने भी ज्ञानावरणमें बँधे हुए हैं। यों प्रत्येक परमाणुकी दृष्टिसे, उसकी शक्तिकी दृष्टिसे, कर्मके भी अनन्त भेद हो सकते हैं। यों ये ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं। तब जैसे जैसे शुद्धि प्रकट होती है, इन आवरणोंका क्षयोपशम होता है, ये कर्म बादल जैसे-जैसे हटते हैं वैसे वैसे ही ज्ञान भी विकसित होता है। जिस भेदका, जिस आवरणका, जिस अंशका क्षयोपशम है उस ज्ञानकी अवस्था दूसरी हो जाय तो वहाँ ज्ञान व्यक्त रूपमें प्रकट हो जाता है। तो जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम ज्ञानविकासमें कारण है उसी प्रकार वीर्यान्तराय

कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जिन इन्द्रिय ज्ञानों पर लोग इतराते हैं वे कितने पराधीन हैं ? ज्ञानावरणका क्षयोपशम हो, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो, तब यह ज्ञान हो पाता है। ऐसा इन्द्रियजज्ञान कैसे ग्राह्य कहा जा सकता है ?

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा ।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥२६४॥

लब्धि होनेपर भी इन्द्रियजज्ञान निष्पत्तिकी उपयोगाधीनता तथा उपयोगलाभके लिये पञ्चेन्द्रिय व मानसकर्मकी आवश्यकता—इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है, इस विषयको समझनेके लिए अनेक हेतु बताये गए हैं और अन्तमें इस इन्द्रियज्ञानकी अज्ञता भी बताई गई है, इस कारण यह इन्द्रियज ज्ञान अग्राह्य है। मूर्तको जाना सो उसमें भी स्थूलको ही जाना, वहां भी विद्यमानको ही जाना, भूत भविष्यको नहीं जाना और वहाँ भी सन्निकृष्टको ही जाना, तिसपर भी अवग्रह ईहा आदिक व्यवधान करके विलम्बसे जाना और इतने हेतु मिलनेपर भी सबको नहीं जाना और इतना भी जानना होता है तब जब कि किसीके ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो, अन्य-अन्य साधनोंका समागम हो तब यह जान पाये तो इस अन्तरङ्ग हेतुके सम्बंधमें बताया जा रहा है कि लब्धि और उपयोग दोनों रूप ये भावेन्द्रिय होती हैं अर्थात् इन्द्रियज ज्ञान लब्धि और उपयोगसे सम्बंधित है। लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिक ज्ञानावरणका क्षयोपशम और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हो तब यह ज्ञान ज्ञान बन पाया। अब उपयोगकी बात कह रहे हैं कि उपयोग न हो उस ओर तो भी यह इन्द्रियज्ञान न होगा, तो उस उपयोगकी विवक्षामें यह बतला रहे हैं कि आत्माका परिणाम जिस तरह लगेगा उस विषयका ज्ञान होगा और जहाँ उपयोग नहीं लगता है वहाँ ज्ञान नहीं होता। जैसे कोई मनुष्य तीन चार भाषाओंका विद्वान है, पर उसका उपयोग संस्कृतका पत्र बाँधनेमें लग रहा है और उसका ही भाव समझ रहा है तो अन्य भाषाओंका ज्ञान नहीं चल रहा किन्तु उसके योग्यता तो है। तो उपयोग जिस ओर हो उसका ही ज्ञान हो, ये सब क्षयोपशम आदिक हेतु हो जानेपर भी विशेषता उपयोगकी है। सो उस उपयोगकी विवक्षामें अर्थात् उपयोग बने इस तरहका तो उसके लिए भी पञ्चेन्द्रियावरणका क्षयोपशम या जिसकी संज्ञा बनती है ऐसा कर्म भी वहाँ चाहिए तब जाकर यह उपयोग बने।

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्क्वचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥२६५॥

इन्द्रियजज्ञानसाधकोपयोगलाभके लिये सहायक पञ्चेन्द्रिय व मानस कर्मका क्वचित् बन्ध तथा संक्रमणादि न होनेपर ही उसके उदयकी संभावना—तो उक्त श्लोकमें यह बताया है कि जिसके इन्द्रिय ज्ञान हो रहा है उसे उतना साधक है और केवलज्ञानावरणका क्षयोप-

शम वीर्यान्तिरायका क्षयोपशम इतना ही नहीं होता उसके, किन्तु पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्म भी चाहिये। तो इस श्लोकमें बता रहे हैं कि सुयोगसे पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्म किसीके बंधको प्राप्त हो जाय, जिसके उदयमें यह जीव इन्द्रियज ज्ञानके योग्य बन सकेगा तो उस बंधे हुए कर्मका भी विश्वास नहीं है। यदि ऐसा ही संक्रमण हो गया तब उसका लाभ नहीं ले सकते। संक्रमण भले भी होते हैं, बुरे भी होते हैं और जैसे किसी पुरुषने पहिले पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मका बन्ध किया लेकिन पीछे संक्लेश परिणाम हुआ और खोटी जातिमें जानेको हुआ तो मानो वह एकेन्द्रिय जातिमें उत्पन्न हो गया तो वे पंचेन्द्रिय आदिक नामकर्म सब संक्रान्त हो जाते हैं और इतना तो हो ही जाता है कि उदय कालसे पहिले एक समय पहिले उस प्रकृतिरूप परिणम जाता है जिस प्रकृतिका उदय होता है। जैसे हम आप लोगोंके यह सम्भव है कि चारों गति नामकर्म बँधे हुए हों; नरक, तिर्यंच तथा देवगति भी बँधी है और मनुष्य आयुका उदय तो चल ही रहा है निरन्तर अब उसके साथ-साथ बाकी तीन गति एक समय पहिले तो मनुष्यगति रूप ही संक्रान्त रूप होकर उदयमें आ जाते हैं उनके प्रदेश। तो ये पंचेन्द्रिय और मानसकर्म किसीके बँध भी जायें लेकिन संक्रमण हो जाय तो वह इस प्रकार के इन्द्रियज्ञानका मौका न पायगा। तो इन्द्रियज ज्ञानमें इतनी पराधीनता है तिसपर भी विश्वास नहीं है।

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥२९६॥

इन्द्रियजज्ञानसाधकोपयोगलाभसहायक पंचेन्द्रिय व मानसकर्मके फललाभकी पर्याप्त-नामकर्मोदयाधीनता—अब इसी श्लोकमें बता रहे हैं कि किसी जीवके पंचेन्द्रिय और मानस कर्म भी बँध गए और उनका उदय होनेको हुआ, मगर उसके उदय आनेमें और कुछ कारण भी तो चाहिये। अर्थात् प्रथम तो पंचेन्द्रिय और मानसकर्म बँधना ही कठिन है अथवा बँध गया तो संक्रमण न हो जाय, कोई झोंका न आ जाय जिससे यह खतम हो जाय, तो इतना डर है। मान लो संक्रमण होनेसे भी बचे और यहाँ जीवित भी रहें तो अब उनका उदय आया, उस उदयमें कुछ और भी साधन चाहिए। वे साधन क्या है? पर्याप्त नामकर्म चाहिये—पंचेन्द्रिय संज्ञी तो लव्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी होते हैं। पंचेन्द्रिय हुए तो क्या? वह लव्ध्यपर्याप्तक ही तो है मनुष्य। यहां उन अक्षज ज्ञानोंका क्या उठता है? उनकी ऐसी दशा हो रही जैसे निगोदिया जीवोंकी। वहाँ जन्ममरणकी जैसे यातनायें चलती हैं ऐसे ही यहाँ भी। तो पंचेन्द्रियका भी उदय बने और मानसका भी उदय बने और काम निकले तो इसके लिए एक हेतु चाहिये कि पर्याप्त नामकर्मका उदय हो। यहाँ परख लो कि जब इन्द्रियज्ञान हम आपको मिला है और जहाँ पर्यायबुद्धि करके, यह मैं हूं उससे पोजीशन मानना, उससे आग्रह करना,

उसके आधारपर विकल्प बनें अथवा आग्रह बने, इस तरह उपयोगका इतनी दूर खिंचे चला जाना यह अनर्थ जिस इन्द्रियज्ञानपर बन रहा है वह कितने कष्टसे बाँधा पाया हुआ है और तिसपर भी वह खतरेसे भरा हुआ है। तो पंचेन्द्रिय और मानस कर्म उदयमें आयें और उनके कर्म ठीक तरहसे बनें, उसके लिए जरूरी है कि पर्याप्त नामकर्मका उदय होना चाहिये। यदि पर्याप्त नामकर्मका उदय न हो तो अपर्याप्त अवस्थामें ही मरण होगा। वे पंचेन्द्रिय और मानस कर्म सबल थे, पर पर्याप्त नहीं हो सके, शरीर बन ही न सका और यों ही गुजर गए तो फिर काम क्या बनेगा? इस कारण इस इन्द्रियज ज्ञानके इस तरहके अभ्युदयमें ही पर्याप्तनामकर्म का उदय भी होना चाहिये।

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥२६७॥

पर्याप्तनामकर्मका उदय होनेपर मन व शरीरका इन्द्रियाकार बननेमें नोकर्मवर्गणाओं के आगमनकी हेतुता—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि पर्याप्त नामकर्मका उदय भी हो गया, अब यह बात होगी कि पर्याप्त नामकर्मका उदय हो जानेपर ये शरीर की वर्गणायें स्वयं आयी हैं और उनका ग्रहण होता है। और जब वे नोकर्म-वर्गणायें, मनोवर्गणायें मन और शरीरमें सुन्दर आकार रूपसें बन जाती हैं अर्थात् मन रूप परिणमन होता है और इन्द्रियाँ बनती हैं सो जब ये मन और इन्द्रिय भले प्रकार बन लेवें तब ही तो यह लब्धि उपयोगरूप भावेन्द्रियका ऐसा अभ्युदय बन सकेगा। कोई पर्याप्त भी बन गया और बहुत शीघ्र मरणको प्राप्त हो गया तब यह इन्द्रियजज्ञान जैसा हम आप चाह रहे कहाँसे होगा? साथ ही एक बात इस प्रसंगमें यह भी विचारना चाहिये कि हम अन्य जीवोंकी अपेक्षा कितने श्रेष्ठ भवमें आये हैं? मनुष्य बने हैं, उत्तम कुल मिला, इन्द्रियाँ पूर्ण हैं, मन भी पूर्ण है और जैन शासनके तत्त्वकी चर्चा भी सुननेको मिली है और कभी-कभी अपने आपके बारेमें चिन्तन भी चला करता है। ये सब बातें हम आपको प्राप्त हुई है तो कितनी उत्कृष्ट चीजें अन्य सर्व जीवोंकी अपेक्षा हम आपने पायी है, इन सबका सदुपयोग होवे तभी इन सबका पाना सार्थक समझिये अन्यथा क्या दशा होगी सो भी विचार लो। जिस प्रकारसे कोई चींटी किसी ऊँची भींतपर चढ़ रही थी। बड़ा श्रम करके वह चढ़ी और जब छतके निकट पहुंचने ही वाली थी कि वहाँसे गिर पड़ी। अब देखिये उस चींटीका वहां तक पहुंचन अब कितनी ही दूर हो गया, यों ही समझिये कि हम आपने आज ये सब उत्कृष्ट चीजें बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त की हैं, यदि इनका सदुपयोग न किया तो क्या हाल होगा? बस निम्न गतियों के ही पात्र बनेंगे और अपने कल्याणका मार्ग उतना ही दूर फिर हो जायगा जितना कि पार कर चुके थे याने निगोदादिमें रहते हुए हम जितने दूर थे उतने दूर होंगे। अरे इस जीवनका

क्या ठिकाना ? बहुतसे लोग तो जन्मते ही मर जाते हैं, बहुतसे बाल्यावस्थामें, बहुत से युवावस्थामें तथा बहुतसे वृद्धावस्थामें। इस प्रकार इस जीवनका भरोसा कुछ है नहीं, न जाने ये प्राण पखेरू कब उड़ जायें ? तो ऐसे क्षणिक जीवनमें अनेक प्रकारके खोटे विकल्प करके बाह्य पदार्थोंमें (धन वैभव, स्त्री पुत्रादिकमें) ममत्त्व करके लाभ क्या लूट लिया जायगा ? यदि तब ही (बीचमें ही) मृत्यु हो गई होती तब तो मेरे लिए यहाँका सब कुछ सूना था। थोड़ा चित्तको इनसे सूना बनानेके लिए ऐसा ही समझ लो कि मान लो हम अभी तक जीवित न रहते, पहिले भी कभी मर गए होते तो फिर यहाँका कुछ भी तो न था। आज जीवित हैं जो अपना कर्तव्य है कि गुप्त ही गुप्त अपना हितकारी काम कर जायें। ऐसी मनमें एक धारणा हो। हम आपको पर्याप्त नामकर्मका उदय मिला है और वहाँ हमारी हितरूप स्थिति प्राप्त है तो हम उसका सदुपयोग करें।

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः।
लब्धे स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२६८॥

मन व शरीरकी इन्द्रियाकार रचना होनेपर भी उसके विनाश होनेपर पुनः समस्त कारणोंकी सम्पन्नताकी आवश्यकता—इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि पर्याप्त नामकर्मका उदय मिला, हमारी शरीर पर्याप्ति पूर्ण है, योग्य है। इतनी बड़ी बात मिल गई है किसी भी जीवको और यदि उसकी परिसमाप्ति हो जाती है, इन्द्रियकी रचना ही खतम हो जाती है, यों कहो कि मरण हो जाता है तो फिर कभी आगे इतनी बातें इतनी योग्यतायें न जाने कब मिलें ? जब उस प्रकारका क्षयोपशम हो और उस विषय परका उपयोग हो तब यह बात बन सकती है तो उसमें बाह्य हेतु इन्द्रियाँ हैं। अब देखिये—कोई जीव पर्याप्त हो गया, संज्ञी बन गया और ये द्रव्येन्द्रिय आदिक बिगड़ गईं, मानो आँखें फूट गईं तो अब वह देखेगा कैसे ? या कोई कानोंसे बहिरा हो गया तो वह सुनेगा कैसे ? इसी तरह मानो कोई ऐसा रोग हो गया कि जहाँ जीभमें ही कोई ऐसा विकार हो जाता है कि जिससे खानेपर सभी चीजें कडुवी लगती हैं, तो फिर वहाँ क्या कोई वस्तु स्वादी जा सकेगी ? अथवा जैसे कभी किसीको शरीर के किसी अंगमें लकवा आदिकका दोष हो गया तो उतने अंगमें ठंडी गर्मका विशिष्ट बोध नहीं हो पाता है। तो इस तरहसे यदि कोई द्रव्येन्द्रिय बिगड़ गई तो यह ज्ञान कैसे कर पायगा ? लो ज्ञानकी साधना बहुत विलम्बसे, बहुत हेतुवोंसे बन गई, मगर जरासी ही देरमें आँखें फूट गईं, कोई कानोंका बहिरा हो गया, तो अब तो उसे उन इन्द्रियविषयक ज्ञान नहीं हो पा रहा है। अब तो केवल एक कल्पनासे ही समझा जा रहा है कि यह ऐसा है। देखो—यह इन्द्रियज्ञान मानसिक कल्पनाओंको स्पष्ट बनानेमें सहायक है, और यह मानसिक ज्ञान इन्द्रियज ज्ञानको स्पष्ट बनानेमें सहायक है। जैसे हम आपको आँखोंसे स्पष्ट दिखता है तो इसमें हमारा

मानसिक गुण भी सहायक हो रहा है तब इसका स्पष्ट बोध हो रहा है । इसी तरह मनसे किसी विषयमें कल्पना कर रहे हैं तो जैसे आंखें नहीं देखती हैं, आंखें बिगड़ी हैं तो कल्पना करनेसे ही उसका कुछ बोध हो रहा है, उसी रूपके सम्बंधमें जिस एककी आंख खुली है वह रूपका ज्ञान कर रहा है तो कल्पनाके बलपर जो रूपका स्मरण किया उसकी अपेक्षा जिसे आंखोंसे दिख रहा उसका ज्ञान विशद हो रहा है । तो यह मन इन्द्रियके ज्ञानको विशद बनने में मदद करता है और यह इंद्रियज्ञान मनकी बातको विशद बनानेमें मदद करता है । अन्यथा तो एक विडम्बना सुनिये--कोई एक पुरुष जन्मसे ही अंधा था । उससे एक बार किसी बालक ने कहा--बाबा जी आज हम तुम्हें खीर खिलायेंगे । बाबा बोला--खीर कैसी होती है ?.... अरे खीर सफेद होती है । अब सफेद भी उसने अपने जीवनमें कभी न देखा था, सो पूछा कि सफेद कैसी ? बालक बोला--बगला जैसी । अब उसने बगला भी कभी न देखा था । तो फिर उस बूढ़े अंधेने पूछा--बेटा बगला कैसा होता है ? तो वह बालक अपने एक हाथको टेढ़ा मेढ़ा बगलाकी लम्बी टेढ़ी चौंच जैसा बनाकर कहने लगा कि बगला तो ऐसा होता है । जब उस बूढ़े अंधेने हाथको टटोला तो बोला--हमें ऐसी खीर नहीं खाना है ? यह तो हमारे पेटमें गड़ेगी । भला बतलावो बतलाना तो था सफेदी और उसने आकारकी मुद्रा बताई तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो यदि इन्द्रियज्ञानके सारे साधन भी बन गए और यदि कोई द्रव्येन्द्रिय खराब हो गयी तो उसका परिज्ञान कैसे करेगा ? तो यों इन्द्रियज्ञानमें अज्ञता पड़ी हुई है ।

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥२९९॥

पूर्वोक्त समस्त हेतुसमागम होनेपर भी इन्द्रियजज्ञाननिष्पत्तिमें प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार व पारंपर्यावलोकनकी आवश्यकता--इतना सब कुछ होनेपर भी जैसा कि उक्त श्लोकमें बताया गया है सब कुछ हो गया । इन्द्रियां हैं, मानस भी बन रहा है, द्रव्येन्द्रियां भी पूरी तरहसे हैं और सूर्य अथवा दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान हो नहीं सकता । जैसे अभी अपनी ही बात देख लो--कितना हम पुष्ट हैं, समर्थ हैं । सब कुछ है और यहां जो कुछ निरख रहे हैं, बड़ी स्पष्ट समझ बन रही है, यह प्रकाश है, यहां बैठे हैं, जब रूपज्ञान हो रहा है, और प्रकारकी भी उलझनें न रहीं, अस्पष्टता न रही तो दीपक अथवा सूर्यका प्रकाश भी कारण पड़ता है इन्द्रियज्ञानमें अथवा भिन्न-भिन्न प्रकारके इन्द्रियज ज्ञानोंमें, ऐसे भिन्न-भिन्न बाह्य साधन भी पड़ते हैं जिनकी बात सोची कुछ दार्शनिकोंने तो यह कह डाला कि ज्ञान तो आलोकसे उत्पन्न होता है, न हो प्रकाश तो कहांसे ज्ञान हो जाय ? हम आपके जीवनमें ये सारी बातें विदित भी हो रही हैं कि देखो--प्रकाश न हो तो हम वहां

रखी हुई अनेक चीजोंका ज्ञान कहां कर पाते हैं ? तो इतना सब कुछ होनेपर भी प्रकाश इस ज्ञानका कारण बनता है । तब प्रकाशका होना भी आवश्यक है, और इसके अतिरिक्त पहिले किए हुए ज्ञानका संस्कार होना भी जरूरी हो गया है । मानो कि [इन्द्रिय भी हैं, क्षयोपशम भी है, प्रकाश भी हो गया है और इस स्थितिमें हम यहां सब कुछ जान भी रहे हैं तो इसका जानना और इसका स्पष्ट समझमें आना इसमें कारण हमारा रोजका परिचय ही तो है, और उससे बना हुआ संस्कार ही तो है । जैसे मानो किसीकी आँखोंपर पट्टी बाँध दी और फिर उसे उठाकर किसी तरफ ले जाकर बहुत दूर ले गए, ऐसे अन्य जगह ले गए कि जहाँ कभी देखा ही न था और वहाँ कहा कि अब आंखें खोल दो, तो देखा वहाँ प्रकाश भी है, इन्द्रियाँ भी हैं, सब बातें हैं, देख भी रहे हैं, मगर वहाँ तो कुछ अन्य अजीब-सी बात हो रही है । कुछ वहाँ ऐसा ढंग ही नहीं बन रहा है । जैसे हम यहींपर बहुतसी चीजोंको रोज देखते हैं और उनका ज्ञान अशङ्क हो जाता है । सो यों इस इन्द्रियज्ञानकी विशदताके लिए पहिले जाने हुए ज्ञानके संस्कारोंकी भी वहां जरूरत है । इतनेपर भी जो कुछ अवलोकन हो रहा, जानना हो रहा वह परम्परासे हो रहा । यों परख लीजिए कि इन्द्रि॰ ज्ञान कितना पराधीन ज्ञान है ? जैसे कोई साधारण तेलका दीपक टिमटिमा रहा हो तो उसके बुझनेके कई कारण हो सकते हैं। हवा चले तो बुझ जाय, तेल न पहुंचे तो बुझ जाय अथवा किसीका हाथ लग जाय तो बुझ जाय अथवा कोई बुझा ही दे आदि, इसी तरह अपने इन्द्रियज्ञानमें ये सब धोखे हैं । कितने कारण बताये गए हैं, इन सब कारणोंमेंसे किसी कारणकी कमी रहे तो यह इन्द्रियज्ञान ऐसा निर्बल रह जाता है, तो यहां शिक्षा लेनी चाहिए कि हम इन इन्द्रिय ज्ञानोंको निकृष्ट जानें, इनपर अहंकार न करें और इनके कारण जो विकल्प रचना बनती है उसका आग्रह न करें और जो अपना सहज ज्ञान है, स्वयं स्वभाव वाला ज्ञान है उस ज्ञानकी दृष्टि बनायें तो उसमें अपनी आस्था होगी ।

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥३००॥

इन्द्रियज ज्ञानकी निष्पत्तिके उक्त हेतुओंमें से किसीकी कमी होनेपर पदार्थज्ञानकी अशक्यता—इन्द्रियज ज्ञानकी स्थितिके लिए जितने भी कारण बनाये गए हैं उन कारणोंके होनेपर पदार्थोंका यथार्थ भान हुआ करता है । यदि इन कारणोंमें से एक भी कारण कम रह जाय तो वहां फिर ज्ञान अर्थोपयोगी नहीं हो पाता, अर्थात् उस पदार्थविषयक ज्ञान नहीं बन सकता । ऊपर जितने भी कारण बताये गए हैं उनमें अन्तरङ्ग मात्र एक लब्धि बतायी गई है अर्थात् तद्विषयक ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना चाहिए और साथ ही बताया है कि वीर्यान्तरायका भी क्षयोपशम होना चाहिए । अब इस अन्तरङ्ग लब्धिके कारण करीब १८-१९

बताये गए हैं। उनमेंसे यदि कोई भी कम हो जाय तो वहां इन्द्रियज्ञान बन नहीं सकता है। ऐसी इन्द्रियजज्ञानमें पराधीनता है। मोटे रूपमें यह ही समझ लो कि सब कुछ कारण मिल गए, इन्द्रियां भी पूर्ण हैं, लब्धि बनी है, पर्याप्ति भी बनी है, लेकिन उजेला नहीं है तो फिर दिखना नहीं होता है। तो एक उजेला ही न हो और सब तरहसे तैयार बैठे हैं जाननेके लिए, पर रूपका ज्ञान नहीं कर सकते। तो ऐसे मामूली कारण भी न मिलें तो इन्द्रियज्ञान नहीं हो पाता। तो यह इन्द्रियज्ञानकी कमजोरी है फिर भी जगतके जीव इस उत्कृष्ट ज्ञानपर ही अहंकार बसाये हुए हैं, और इस ज्ञानके आधारपर जो विकल्पोंकी संतति बढ़ा ली है वहां अपना अनर्थ भी कर रहे हैं।

अस्ति तत्र विशेषोयं बिना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥३०१॥

लब्धिरूप ज्ञान होनेपर भी उसमें बाह्य हेतुके बिना अर्थोपयोगिताकी अशक्यता—यहां इतनी बात जानना चाहिए कि बाह्य चीज नहीं है तब ज्ञान व्यक्त तो नहीं होता अर्थात् जैसे प्रकाश ही नहीं है तो रूपका ज्ञान नहीं हो सकता। सो ठीक है, नहीं बन रहा है ज्ञान किन्तु यदि लब्धि पायी जा रही है तो लब्धिरूप ज्ञान बना हुआ है। तो भले ही बाह्य कारण का अभाव है, वहां इन्द्रियज ज्ञान व्यक्त नहीं हो रहा है लेकिन लब्धि देखी जा रही है और इस ओरसे देखो तो भले ही ये क्षयोपशम पड़े हुए हैं। इतनी योग्यता है कि हम बाह्य पदार्थों को जान सकते हैं लेकिन बाह्य कारण नहीं हैं तो बाह्य पदार्थोंका जानना बन नहीं रहा है। तो इस तरह इस ज्ञानकी अक्षमता है। अब तुलना तो कीजिए कि कहां तो आत्माका ऐसा ज्ञानस्वभाव कि जिसमें मर्यादा ही न होना चाहिए कि इतने ही पदार्थ जाने और इतने काल तककी ही बात जाने या इतने अंशमें ही जाने। वहां तो सर्वांश और सर्व पर्यायोंरूप और त्रिकालवर्ती जो भी सत् थे, सत् हैं और सत् होंगे, उन सबका ज्ञान हो जाय, ऐसी ज्ञानमें सामर्थ्य है और इस ज्ञानकी सामर्थ्यका हम आप लोग अंदाज भी कर सकते हैं। यदि इस ज्ञानमें भूतकालकी बातोंको जाननेका सामर्थ्य न होता तो हम आप अबसे बचपन तककी और उससे भी पहिले तककी सब बात जान लेते। तो भले ही वहां इतनी आधीनता है कि जो जाने हुए हों उसे ही जान सकते हैं, परिचितका ही ज्ञान हुआ करता है, लेकिन परिचित का ही सही किन्तु कला तो है ना कि जो पहिले उठनेकी बात हुई उसे हम जान जायें, इसी प्रकार भविष्यकी बात भी हम जानते हैं। जैसे कोई पञ्चकल्याणक वगैरहका विधान होना है या कोई शादी विवाहका कामकाज होना है और उसकी तिथि निश्चित हो गई तो अब उन कार्यों सम्बंधी कार्यकर्ताओंको वही दिन दिमागमें बना रहता है। अरे अमुक दिन यह काम होगा, इतने-इतने काम करने बाकी हैं। तो देखिये—इस जीवमें भविष्यकी बातें जानने

भले ही इसमें उसमें ज्योतिष शास्त्र या अन्य निमित्तोंकी ग्रावी- की पद्धति भी बनी हुई है। लेकिन बात यहां यह बतायी जा रही है कि इसमें (जीवमें) यदि भविष्यके जाननेकी कला न होती तो भविष्यके सम्बंधमें इसकी कल्पना भी नहीं उठ सकती थी। इससे सिद्ध है कि ज्ञानमें त्रिकाल विषय जाननेकी ताकत है। जहाँ कर्मोंका अभाव हो गया, ज्ञानावरणादिक कर्म न रहे तो ऐसा ज्ञान विश्वकी सारी बातोंको एक ही साथ प्रतिभासमें ले लेता है, और यही है अरहंत, सिद्ध प्रभुका स्वरूप। ऐसा विशुद्ध ज्ञान है कि जिस ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकाल- वर्ती समस्त सत् एक साथ ज्ञात हो रहे हैं, रागादिक विकार रंच भी नहीं रहे हैं, अपने आपके स्वरूपके बाहर जरा भी न टिक रहा हो वह है प्रभुका स्वरूप तो ऐसा तो है हमारा स्वरूप और बीत रही है यह निकृष्ट इन्द्रियज ज्ञानकी बात तो यह तो बड़े खेदकी बात होनी चाहिये, न कि इन्द्रियजज्ञानके ग्राह्यताकी बात।

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥३०२॥

क्षायोपशमिक अवस्थाके बिना लब्धिरूप ज्ञानकी भी असंभवता—उक्त कारणोंमें एक कारण यह बताया गया था कि लब्धि क्षयोपशम। क्षयोपशम तो है ज्ञानका अन्तरङ्ग हेतु और वहाँ है बाह्य हेतु तो क्षयोपशमका यहाँ स्वरूप बताया जा रहा कि कहते किसे हैं क्षयो- पशम ? अर्थात् ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अथवा वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर इन दोनोंके होनेपर इन्द्रिय ज्ञानकी योग्यता बनती है। वह क्षयोपशम क्या चीज है ? तो यहाँ इसपर ध्यान दीजिए कि ज्ञानावरणके ५ भेद होते हैं—(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञाना- वरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण। इन ५ भेदोंमें जो केवलज्ञानावरण है वह तो है सर्वघाती। अर्थात् उसमें जितने भी स्पर्धक हैं वे सब सर्वघाती स्पर्धक हैं और शेष चार कर्म अर्थात् मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञाना- वरण और मनःपर्ययज्ञानावरण—ये कहलाते हैं देशघाती प्रकृति। तो ये सर्वघाती स्पर्धक भी हैं और देशघाती स्पर्धक भी हैं। तो जब मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंका तो हुआ अनुदय, उदयाभावी क्षय और देशघाती स्पर्धकोंका हुआ उदय, ऐसी स्थितिमें यह क्षयो- पशम उत्पन्न होता है अर्थात् कर्मोंमें वहाँ ऐसी स्थिति है कि कुछने तो मौका दिया कि तुम जानो और कुछ स्पर्धकोंने रोका कि तुम अब कुछ न जानो अर्थात् थोड़ा जानो, तो इस प्रकार के जब आवरणमें क्षयोपशमकी स्थिति होती है तो यह है इन्द्रियज ज्ञानका अंतरङ्ग कारण और इसीको कहते हैं लब्धि, अर्थात् योग्यता तो बन गयी, उसका लाभ तो हो गया अर्थात् योग्य बात तो बन गई किन्तु अब उपयोग न रहा और उपयोग बनता है तो इसके कारण मलें तब बनता है, जिन कारणोंका पहिले विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥३०३॥

पूर्वोक्त विवरणोंसे इन्द्रियज ज्ञानकी दिङ्मात्रताकी अर्थात् अत्यल्पताकी सिद्धि— इन्द्रियज्ञानके विषयमें बहुत कथन हो चुका है और पहिले यह बताया गया था कि यह तो दुःखरूप है। फिर दूसरे दोषमें यह बताया गया कि यह ज्ञान तो अज्ञ है, क्या जानता है, और जो भी जानता है वह इतनी आधीनताओंसे जानता है। तो इस ही अज्ञताके प्रकरणमें बहुत विस्तारपूर्वक कहनेके बाद अब सारांश रूप अंतिम श्लोक कह रहे हैं। ऊपर जितने हेतु बताये गए हैं और भी जितने कारण कहे गए हैं तथा जो घटना कही गई है, उन सबका प्रयोजन यह ही है कि इन्द्रियज्ञान दिङ्मात्र है अर्थात् अल्पमात्र, रंचमात्र, लेशमात्र ज्ञान होता है इन्द्रियज ज्ञानमें। मोही पुरुष जब इन्द्रियजज्ञानसे देखते हैं तो उन्हें यों दिखता है कि मेरे बहुत बड़ा ज्ञान है। सो यों समझ लीजिए कि इस मोही पुरुषकी हालत उस कूपमंडूककी तरह है। जैसे किसी कुएंके अन्दर एक मेढक रहता था। उस कुएंके तटपर एक दिन एक हंस पक्षी आकर बैठ गया, तो मेढक पूछता है—अरे हंस तुम कहाँ रहते हो ? तो हंस बोला—हम तो मानसरोवरमें रहते हैं,....अरे मानसरोवर कितना होता ?....बहुत बड़ा। तो मेढक कुएंमें एक कोनेसे दूसरे कोनेमें उछलकर कहता है—क्या इतना बड़ा मानसरोवर होता है ?....अरे इससे बहुत बड़ा। फिर मेढक कुएंके एक ओरके किनारेसे दूसरी ओरके किनारे तक उछलकर कहता है—क्या इतना बड़ा मानसरोवर होता है ?....अरे बस जान लिया कि तुम झूठ कहते हो, क्योंकि इससे बड़ा तो कुछ होता ही नहीं। देखो उस मेढकके लिए वह कुएंकी घेर ही उसके लिए सारी दुनिया है। तो यही हाल है अज्ञानी जनोंका। वे जरासा इन्द्रियज्ञान पाकर अपने को बड़ा चतुर समझते हैं। वे समझते हैं कि मैं तो बहुत बड़ा जानकार हूं, समझदार हूं, मेरे बराबर कोई जानता ही नहीं है, इस तरहकी अज्ञानी जनोंकी बुद्धि रहती है, लेकिन यह इन्द्रियजज्ञान कितना ही बड़ा हो, वह लेशमात्र भी परिज्ञान कराने वाला नहीं, क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं उन समस्त पदार्थोंका एक देश ही ज्ञान हो पाता है। जैसे आँखें खोलीं और भींत दिखी तो क्या ज्ञान हुआ ? सिवाय एक हरा, पीला आदि जो भींतका रंग है उसका ज्ञान हुआ। इस भींतके अन्दर क्या है और इसमें रस, गंध, स्पर्श कैसा है, तथा कितने परमाणुओं का पुञ्ज है, कितनी बातें पड़ी हुई हैं और फिर उन परमाणुओंमें कितनी शक्ति है ? अनन्त बातें पड़ी हैं, उन अनन्त बातोंमेंसे एक अंशका ज्ञान कर पाया तो ऐसा इन्द्रियजज्ञान कैसे पूर्ण ज्ञान कहलायगा ? वह तो दिङ्मात्र है, अल्प ही परिज्ञान कराने वाला है, इस कारण यह इन्द्रियजज्ञान अज्ञ है, निर्मल है, निकृष्ट है, उससे अपनायत नहीं करना चाहिये। उससे उपेक्षा करके अपना जो अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव है, सहज स्वभाव है उससे प्रीति करनी चाहिये।

खण्डितं खण्डनस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ।।३०४।।

इन्द्रियज ज्ञानकी खण्डितता—इस प्रकार यहाँ इन्द्रियज ज्ञानके दोषोंके कथनमें सर्व प्रथम बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान दुःखरूप है। इसका उत्तर बताया गया था कि यह इन्द्रियज्ञान पराधीन है, संशय आदिक दोषोंसे सहित है, विरुद्ध है, अकल्याणरूप है, अपवित्र है मूर्छित है और इतनेपर भी इस ज्ञानकी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं है। जब कर्मका तीव्र विपाक आता है तो यह स्पष्ट हो जाता है और इसके अतिरिक्त इस प्रकरणमें अन्तिम दोष बताया था कि यह इन्द्रियज्ञान अज्ञ है। अब इन सब दोषों के कथनके बाद एक दोष और भी बतला रहे हैं कि यह ज्ञान खण्डज्ञान है। पदार्थ सम्पूर्ण कितना है, उस सम्पूर्ण पदार्थमें से कोई खण्ड-खण्ड अंशको ही जानता है। यह हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है। इस कारण उसके ज्ञानको खण्डज्ञान, अधूरा ज्ञान कहते हैं। जैसे इस लोकमें किसीको अधूरा ज्ञान हो तो उसे लोग कहते हैं पल्लवग्राही अर्थात् एक पत्ते मात्रको छू सकने वाला। कोई पुरुष यदि ४-६ विषयोंमें अपनी गति रख रहा हो और प्रत्येक विषयमें अधूरा ही है तो उसको जिन्दगीमें विडम्बना रहती है, वह किसी कामका नहीं रह पाता। अरे किसी भी एक विद्यामें कुशल हो जो कई विद्यायें जानता है, पर है सबमें अधूरापन तो जैसे उसके लिए वह एक जीवनमें शल्य जैसी बात होती है, और शल्य ही नहीं, किन्तु एक खेदके लिए भी बात होती है, तो अधूरापन यहाँ लोकमें भी अच्छा नहीं माना जाता। ऐसे ही यहाँ परमार्थमें देखिये—जो कोई एक विषयमें भी पूरासा बन गया हो, वह भी अधूरा ही है। यहाँ पूरा कोई नहीं होता जब तक कि केवलज्ञानका लाभ नहीं है, तो ऐसे अधूरे ज्ञानपर क्या अहंकार, क्या ममकार होना चाहिये ? तो यह ऐसा इन्द्रियज्ञान खण्डित ज्ञान है, भिन्न-भिन्न ज्ञान है और प्रतिनियत है। जैसे पुद्गलका ज्ञान किया तो उसमें केवल रूपको जाना, यह हुआ खण्डज्ञान। केवल रसको जाना यह हुआ खण्डित ज्ञान। ये खण्डित ज्ञान भी तो बहुत सारे एक साथ नहीं हो पाते हैं। ये भिन्न-भिन्न हैं। बल्कि इन्द्रियजज्ञानमें तो यह क्रम बताया गया है कि किसी एक विषयका उपयोग चल रहा हो तो वहाँ अन्य विषयका उपयोग नहीं है। एक दार्शनिकने एक ऐसी शंका की कि यदि कोई तेलसे बनायी हुई लम्बी चौड़ी बेसनकी पपड़िया खावे तो देखो उस समय उसे सभी इन्द्रियज्ञान एक साथ हो रहे हैं—अरे लम्बी चौड़ी पपड़िया पकड़े हुए हैं हाथमें तो यह स्पर्शनइन्द्रियका ज्ञान हुआ, उसे खा रहे हैं तो उसका स्वाद भी मिल रहा है, उसकी गंध भी मिल रही है क्योंकि वह गंध वाले तेलमें पकाई गई है, और आंखोंसे उसे देख रहे ही हैं, अतः चक्षुइन्द्रियका ज्ञान हो ही रहा है, और उसके खानेमें कुरं कुरंकी जो आवाज आ रही है वह कर्णइन्द्रियका ज्ञान हो गया। तो देख लो उस एक कामके करते हुएमें एक साथ सभी इन्द्रियोंका ज्ञान हो रहा है ना, फिर क्यों कहा जा

रहा है कि यह इन्द्रियज्ञान क्रम-क्रमसे होता है ? तो इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार दिया गया है कि ठीक है, यों मोटे रूपसे तो ऐसा ही वहाँ प्रतीत होता है कि समस्त इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ हो रहा है पर जरा और भी सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो पता पड़ जायगा कि वास्तवमें वे सब ज्ञान क्रम-क्रमसे हो रहे हैं। इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिये—जैसे १०० पानके पत्तोंकी एक गड्डी लगी हुई है, उसमें कोई अत्यन्त पैनी धार वाली सूईका बड़ा तेज प्रहार करे तो तुरन्त ही वे सारे पत्ते एक साथ छिद जाते हैं। अब वहां बताइये कि वे सभी पत्ते एक साथ छिद गए या क्रमसे ? यों तो मोटे रूपसे दिखता है कि एक साथ ही तो छिदे पर ऐसी बात नहीं है। पहिले सूईकी नोक पहिले नम्बरके पत्तेमें पहुंची, फिर दूसरे तीसरे आदिमें। यों क्रम-क्रमसे ही १००वें पत्तेको सूईने पार किया। तो जैसे वे सभी पत्ते क्रम-क्रम से छिदनेपर भी मोटे रूपसे ऐसा कह दिया जाता है कि सभी पत्ते एक साथ छिदे, इसी प्रकार ये इन्द्रियज्ञान क्रम-क्रमसे होकर भी मोटे रूपसे कह दिये जाते हैं कि ये एक साथ हुए। तो यह इन्द्रियजज्ञान खण्डित ज्ञान है, खण्ड-खण्डको जानता है और इतनेपर भी यह भिन्न-भिन्न जान पाता है। उन खण्ड-खण्डको भी एक साथ नहीं जान पाता।

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम्।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥३०५॥
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना बिना ॥३०६॥

इन्द्रियज ज्ञानमें उदयोपाधिके कारण प्रदेशचलनात्मकताका दोष—अब ज्ञानके दोषों के वर्णनमें यह आखिरी दोष बताया जा रहा है। कहते हैं कि जो दोष बताये गए हैं अब तक उपर्युक्त दोष उनका तो यह साधन है ही, लेकिन साथमें यह भी समझना चाहिये कि ये सब इन्द्रियज्ञान आत्मप्रदेशकी कम्पनाको लिए हुए हैं। इन्द्रियज ज्ञान चल रहा है और उस इन्द्रियज ज्ञानके साथ कम्पन भी चल रहा है, ज्ञानमें भी कम्पन है, प्रदेशमें भी कम्पन है, तो यह इन्द्रियज्ञान है तो सही, मगर प्रदेश चलनात्मक है। धवलसिद्धान्तमें बताया है कि आत्मा के प्रदेशका योग होता है और वह उनकी हलन-चलन परिपूर्ण होती रहती है, लेकिन जब आत्माके प्रदेशोंका परिभ्रमण हुआ तब तो सभी जगहसे हुआ। सारे ही प्रदेश तो इन्द्रियमें बने हुए हैं, अर्थात् ऐसा तो नहीं है कि आत्माके कुछ प्रदेश इन्द्रियसे अलग हों या आत्माके प्रदेशोंमें जो ऊपरके प्रदेश हुए उनमें तो इन्द्रियां बनी हों और भीतरके प्रदेशमें इन्द्रियां न बनी हों, ऐसा तो नहीं है। यद्यपि इस शरीरके अन्दर बहुतसी खून, पीप वगैरह चीजें हैं यह ठीक है मगर वहांपर भी स्पर्श तो है और वहां भी कोई चीज हो तो स्पर्शका ज्ञान तो हो सके अथवा चलो ऊपर ही सही, लेकिन जिस समय आत्मप्रदेशका परिभ्रमण होता है तो

चक्षुइन्द्रिय जहां बनी हुई है वह इन्द्रिय तो वहां ही बनी रह गयी, वह तो नहीं घूमी, सो सबको देखती ही है, और प्रदेश परिस्पंद हो गया तो प्रदेश अन्य-अन्य भी उस ओर आ गए। आत्मा वही है, अखण्ड है, एक है, इस कारण यह शंका नहीं बनती कि अभी किसी अन्य प्रदेशसे जाना, अब किसी अन्य प्रदेशसे जाना, जानना तो सर्व प्रदेशोंसे ही है, अखण्ड ही है, किन्तु विस्तृत है वह आत्मा, यही तो प्रदेश द्वारा समझा जाता है। तो लो प्रदेश चलित हो गया और वहां यह इन्द्रियात्मक ज्ञान हुआ सो खेदकी बात है कि आत्मा तो निष्क्रिय है और ऐसे निष्क्रिय आत्माके भी जब तक कर्म उपाधिजन्य क्रिया चलती है तब तक प्रदेशका हलन-चलन होता है, ऐसा प्रदेशपरिस्पंद उदय-उपाधिके बिना नहीं हो सकता तथा उदयोपाधि दुःख रूप है, अतः उदयोपाधि कार्यात्मक इन्द्रियज ज्ञान भी दुःखमय है।

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात्।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥३०७॥

कर्मोदयोपाधिके दुःखपनेकी प्रसिद्धि—उक्त श्लोकोंमें यह बताया गया कि जीवके कर्म की जितनी उपाधियाँ लगी हुई हैं, जिन कारणोंसे जीवके प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है, एक तो ऐसा हलन-चलन कि जो लोगोंको देहके माध्यमसे दिख जाती है। जैसे हाथ चले तो आत्माके प्रदेश भी चलें और एक ऐसा परिस्पंद जो न भी हाथ पैर चलाये, बैठा है स्थिरतासे, फिर भी आत्माके प्रदेश गोल गोल भ्रमण करते ही रहते हैं। तो ऐसा जो आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन है वह है कर्मोदय उपाधिके कारणसे और जब प्रदेश चलने रूप इस आत्मामें इन्द्रियजज्ञान हो रहा है सो वह भी चलनात्मक है। इसी कारण भी यह इन्द्रियजज्ञान दुःख-रूप है। अब इस श्लोकमें उसी कर्मोदय उपाधिके सम्बंधमें कह रहे हैं कि कर्मोदयकी उपाधि मात्र ही दुःखरूप है, क्योंकि वह कर्मका फल है। इतने कर्म क्यों इसपर लद गए और इतना उदय विपाक क्यों हो गया? यह सब कर्मका फल है। अतः उपाधि दुःखरूप ही है, और जो कर्मका फल है वह दुःखस्वरूप ही है। ऐसा परिणाममें बताया ही गया है। सारांश यह है कि हम आप संसारी जीवोंके जो कर्मका बन्धन लगा है सो यह महादुःखरूप है।

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥३०८॥

बुद्धिपूर्वक दुःखोंकी अनेक दृष्टान्तोंसे प्रसिद्धि—दुःख दो प्रकारके होते हैं—एक बुद्धि-पूर्वक और दूसरा अबुद्धिपूर्वक। अर्थात् एक तो बुद्धिमें आ जाय, ज्ञानमें आ जाय ऐसा दुःख और एक वह जो अपने ज्ञानमें न आ पावे, फिर भी दुःखी हो रहा हो। इन दोनों प्रकारके दुःखोंमें से जो बुद्धिपूर्वक दुःख हैं उनके अनेक दृष्टांत पाये जाते हैं, पर अबुद्धिपूर्वक दुःख केवल उसके ही अनुभवमें आ रहा है, फिर भी उसको बुद्धि द्वारा स्पष्ट समझ नहीं पाता है। ऐसा

अबुद्धिपूर्वक दुःख है। दूसरा कोई इसका अनुमान ही क्या करे ? इस तरह बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों प्रकारके दुःखोंसे यह आत्मा पीड़ित है। अबुद्धिपूर्वक दुःख हैं जीवोंके—इस बातकी सिद्धि अनुमान और आगमसे आगे युक्तियोंपूर्वक की जायगी, किन्तु यहाँ यह बताया है कि जैसे बुद्धिपूर्वक दुःख देखा जाता है इस तरहसे अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं दिखता है। उसकी स्थिति ऐसी होती है कि जैसे मुंदी गहरी चोट। जैसे कोई सीढ़ीसे नीचे गिर गया हो, कहीं फूटाफाटा तो न हो, पर किसी अङ्गके जोड़पर अन्दरसे गहरी चोट हो तो उसके दुःखको वही जानता है। दूसरा कोई उसकी मुंदी हुई वेदनाका अनुभव कैसे कर सकता है ? तो जैसे बुद्धिपूर्वक जो पीड़ा होती है उससे भी बड़ी पीड़ा अबुद्धिपूर्वक यातनामें होती है। उस अबुद्धिपूर्वक पीड़ाका किसीको स्पष्ट भान नहीं हो पाता कि इसके इस तरहका दुःख है, किन्तु वह दुःखी होता रहता है। इस तरह ये संसारी जीव कर्मोदय उपाधिके कारण दोनों प्रकारके के दुःखोंसे पीड़ित हैं।

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥३०६॥

कर्मबद्ध जीवकी महादुःखकी स्थिति—इस जीवके जो मनपूर्वक दुःख है, बुद्धिपूर्वक दुःख है, जिसको दूसरे लोग भी समझ जाते हैं, यह भी (दुःखी होने वाला भी) अपनी बुद्धिमें बहुत समझ रहा है। ऐसा दुःख महागाढ़ दुःख है, यह तो बात है ही, लेकिन इन संसारी जीवोंके सदा ही अबुद्धिपूर्वक दुःख बना हुआ है। जब यह जीव विषयजन्य दुःखोंको भोगता है और उनमें मौज मानता है तो लग यों रहा है कि मैं बड़े मौजमें हूं अथवा दूसरे लोग भी ऐसा समझते हैं कि यह सेठ जी, बाबू जी ये तो बहुत सुखी हैं। पर वे तो उस अबुद्धिके कारण निरन्तर दुःखी रहा करते हैं। अज्ञानी जन चाहे खूब हँस भी रहे हों, चाहे बड़ी शौक शान भी दिखा रहे हों लेकिन भीतरसे वे निरंतर दुःखी बने रहा करते हैं। उसका फल है कि वे ऐसा प्रतिकार करते हैं कि जिससे विषयभोगके, भोगोपभोगके साधन जुटाते हैं और ऐसा करनेका कारण है यह अबुद्धिपूर्वक दुःखकी पीड़ा। तो इस दुःखसे कौन बचा ? यहाँ अपनी यह स्थिति समझनी चाहिए कि हम कितनी भयंकर स्थितिमें पड़े हुए हैं ? कभी सुखके साधन जुट गए, कुछ मौज भी लूट लिया, लेकिन मौज वहाँ कहाँ है ? वहाँ तो वह अन्तः अनन्त दुःखसे पीड़ित हैं, और यह दुःख केवल बेहोशीकी मौज है। जैसे कोई बावला पुरुष खूब हँसता है, प्रसन्न हो रहा है तो क्या वह वास्तवमें प्रसन्न है ? अरे वह तो भीतरमें बहुत ही दुःखी हो रहा है, इसी प्रकार भोगोंमें मौज मानने वाले लोग बाहरसे तो सुखी दीखते हैं पर वे सदा भीतरसे महादुःखी रहा करते हैं। तो कर्मका ऐसा प्रभाव है कि जिससे यह जीव महा दुःखी रहा करता है।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृक्षा श्रमः ॥३१०॥

बुद्धिपूर्वक दुःखोंके परिचयकी सुगमता—इस श्लोकमें बता रहे हैं कि बुद्धिपूर्वक दुःख को सिद्ध करनेकी क्या अधिक चेष्टा करें, यह तो सभी लोग समझ रहे हैं। बुद्धि जान रही है कि मुझे दुःख है और बहुतसे लोग तो ऐसा बता भी देते हैं कि मुझे ऐसा क्लेश हो रहा है। तो बुद्धिपूर्वक दुःखको समझनेके लिए अधिक परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है। वह तो स्वतः सिद्ध है, साधन द्वारा क्या बताया जाय, उसके लिए क्या श्रम करना ? यह है उनका बुद्धिपूर्वक दुःख। जैसे धनी पुरुष तृष्णावश दुःखी रहा करते हैं, निर्धन लोग धनकी आशामें दुःखी रहा करते हैं, तो उनके दुःखको सिद्ध करनेके लिए अधिक श्रम नहीं करना है। तो जैसे धनी और निर्धनकी बात है ऐसे ही सभी बातें हैं। जो लौकिक विद्यावान पुरुष हैं वे भी दुःखी रहा करते हैं। जैसे एक घटना कभी बतायी थी कि एक बहुत ऊँचा विद्वान् बनारसमें रहता था। उसकी विद्वत्ताकी प्रशंसा चारों ओर फैल चुकी थी। लेकिन वह वृद्ध हो जानेपर भी अध्ययनकार्यको छोड़ नहीं रहा था। किसीने कहा कि पंडित जी आप तो इतने ऊँचे विद्वान् माने जाते हैं फिर भी आप इस वृद्धावस्थामें भी इतना अधिक अध्ययन करनेका श्रम क्यों करते हैं ? तो वह वृद्ध विद्वान् बोला कि हम इसलिए इतना अधिक शास्त्राध्ययन करते हैं कि कभी किसीसे शास्त्रार्थमें हार न जायें। अगर हार गये तो मेरी मौत ही हो जायगी। आखिर हुआ भी ऐसा ही। तो देखिये—यह लौकिक विद्या पाने वाले भी दुःखी रहते हैं, और जिनको यह लौकिक विद्या नहीं मिली है वे मन ही मन ऐसा कुढ़ करके कि हाय मुझे न मिली ऐसी विद्या, नहीं तो मैं भी ऐसा बन जाता, यों मन ही मन वे भी दुःखी रहा करते हैं। तो दो ही संसारमें स्थितियाँ हैं—किसी चीजका मिलना और न मिलना। सो देखा यह जाता है कि उस चीजके पाने वाले लोग भी दुःखी हैं और न पाने वाले लोग भी दुःखी हैं। तो इस दुःखका कारण क्या है कि कर्मोदयकी ऐसी उपाधि लगी है कि उसके भीतर ज्ञानप्रकाश आवृत्त हो गया है, इसलिए वे सभी जगह दुःखी रहा करते हैं।

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥३११॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखकी कार्यानुमानसे व परमागमसे साध्यता—उक्त श्लोकमें यह बताया है कि बुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेके लिए क्या श्रम करना है ? श्रम करे तो अबुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेमें। सो श्रम क्या है ? युक्तियोंका बल लिया जाय। तो यहाँ बतलाते हैं कि जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है वही यहाँ साध्य बनाना चाहिए। बुद्धिपूर्वक दुःख स्पष्ट है लेकिन यह समझनेकी कोशिश कीजिए कि इन सब संसारी प्राणियोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख भी सदा

बना हुआ है। जो लोग बहुत धन वैभव राज्यसम्पदा पाकर बड़ा मौज मान रहे हैं वे भी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखसे पीड़ित हैं, और जो जीव संज्ञी नहीं हैं कीड़ा मकोड़ा वगैरह उनमें भी यह दुःख पाया जा रहा है। ये जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक स्थावर जीव दिख रहे हैं उनमें भी अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है। उस दुःखको सिद्ध करना चाहिए। कैसे सिद्ध हो तो उस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धिके दो उपाय हैं—जैसे जो परोक्षभूत पदार्थ हैं, जो अपनेको प्रत्यक्ष नहीं हैं उनको सिद्ध करनेके दो उपाय होते हैं, इसी प्रकार इनकी सिद्धिके भी दो उपाय हैं—१–अनुमान, २–आगम। इन दो उपायों की प्राप्ति हो तभी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध किया जा सकेगा। अनुमान द्वारा क्या सिद्ध हो रहा है और परमागममें क्या लिखा हुआ है—इन दोनों बातोंको दृष्टिमें रखकर जब सिद्ध किया जायगा तभी इस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सही सिद्धि की जा सकेगी। अब कार्यानुमानके सम्बंधमें बात कह रहे हैं।

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित्।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥३१२॥

कार्यानुमानसे कारणानुमान होनेकी पद्धतिका दृष्टान्त—कार्यानुमानसे अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि की जाय, इससे पहिले कार्यानुमानके स्वरूपका विवरण एक दृष्टान्त द्वारा बताया जा रहा है, और उससे यह सिद्ध किया जा रहा है कि कार्यानुमानमें कार्यका हेतु बताकर कारणका अनुमान किया जाता है अर्थात् कार्यरूप साधनसे कारणरूप साध्यकी सिद्धि की जाती है। इसके लिए दृष्टान्त दे रहे हैं कि जैसे नदीमें बहुत बड़ा पूर आया हो, जलका तेज प्रवाह बह रहा हो तो उस समय यह अनुमान होता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई है, क्योंकि नदीमें जलका तीव्र प्रवाह चल रहा है। तो नदीका वह पूर हुआ कार्य और मेघवर्षण हुआ कारण। तो कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया गया। जैसे दार्शनिक शास्त्रोंमें एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया जाता है कि पर्वतमें अग्नि है धुवाँ होनेसे। तो पर्वतकी अग्निका अनुमान करनेके लिए वह धुवां कार्य हुआ, अग्नि कारण हुई। तो जब कार्य दिख गया तो कारणकी सिद्धि हो ही जाती है। इसी प्रकार अबुद्धिपूर्वक दुःख तो है यहाँ साध्य सो यह बनेगा कारण-रूप साध्य। तो बताना होगा कि अबुद्धिपूर्वक दुःख क्यों लोगोंको दिख रहा है जिससे कि यह सिद्ध हो सके कि सर्व संसारी जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख है, सो उसके कार्य हेतुको बतलानेके लिए आगेके दो श्लोक कहते हैं।

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतः सिद्धमनश्वरम्।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥३१३॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत्।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥३१४॥

सुखादर्शनरूप कार्यलिङ्गसे कारणभूत दुःखके अनुमानकी प्रमाणता—अबुद्धिपूर्वक दुःखका कार्य बताकर अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि करना है। इससे पहिले थोड़ा भूमिकामें यह बतला रहे हैं कि आत्माका सुख एक स्वतःसिद्ध गुण है। यह स्वाभाविक है, सहज सिद्ध है अर्थात् आत्मा आनन्दमय है। आत्माका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान और आनन्दको छोड़कर इस आत्मामें और क्या बात पायेंगे जिससे कि हमें आत्माका परिचय मिले ? तो आत्मा ज्ञान और आनन्दकी अनुभूतिसे परखा जाता है कि यह मैं आत्मा हूं। तो आत्माका स्वाभाविक गुण है सुख (आनन्द) और यह है स्वतःसिद्ध, शाश्वत नित्य है। पदार्थका जो स्वरूप होता है वह सदा रहता है, स्वतःसिद्ध है और नित्य है तब तो आत्मा है और तब ही आनन्द गुण है, क्योंकि आत्माका जो सहज स्वरूप है वह तो आत्मामें अनादिसे है, अर्थात् जबसे आत्मा है तबसे ही मेरा स्वरूप है। आत्मा है अनादिकालसे तो यह स्वरूप भी अनादि-कालसे है। तो यों आत्मा आनन्दमय है, और देखिये—जब हम आप ऐसा प्रतीतिमें लें कि मेरेमें सदा आनन्द है, यह सबसे निराला आत्मा जिसका किसी बाह्य पदार्थसे कुछ लेनदेन नहीं है, स्वयं आनन्दस्वरूप है, यहाँ ही दृष्टि रहे तो किसी प्रकारकी व्याकुलता ही नहीं हो सकती है। व्याकुलता तो बाह्यमें दृष्टि करनेसे होती है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि आत्मा स्वतःसिद्ध नित्य आनन्दमय है। अब वर्तमानमें देख तो रहे हैं कि आनन्द किसीके प्रकट ही नहीं हो रहा है, सब दुःखी ही दिख रहे हैं, तो यह आनन्द जो प्रकट नहीं हो रहा है यह जीव आनन्दस्वरूप है, किन्तु मोहनीयकर्मका ऐसा विपाक है कि जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट है अथवा बाह्यकी ओर इसकी रुचि लग रही है, तब ही तो इस आनन्दका घात हो गया और यह आनन्द नहीं मिल पा रहा। तब हेतु क्या बना ? इन जीवोंमें सुख नहीं देखा जा रहा है। जो आत्माका सहज अनुपम विलक्षण अलौकिक आनन्द है वह यहाँ कहाँ देखा जा रहा है ? तो ऐसा सुख नहीं देखा जा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीवके अबुद्धिपूर्वक दुःख है और इस हेतुसे अबुद्धिपूर्वक दुःख भी सिद्ध होता है। जैसे इन स्थावर जीवोंके, कीड़ा मकोड़ों के, इन तिर्यञ्चोंके अथवा मनुष्योंके भी यह सुख कहाँ देखा जा रहा है ? सुखका अदर्शन है यह है हेतु और उसका साध्य मिलता है कि जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख है। सुख दुःखका विपक्षी है याने जहाँ सुख नहीं है वहाँ दुःख है और जहाँ सुख है वहाँ दुःख नहीं है। तो इससे सिद्ध है कि यह जीव वहाँ दुःखी बराबर हो रहा है। तो यों जीवोंमें जो आनन्द नहीं दिख रहा, सुख नहीं दिख रहा तो इससे यह सिद्ध है कि इस आत्मामें दुःख है, और ऐसे जीवोंमें सुखका अदर्शन है, तो उससे यह सिद्ध होता है कि इन जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख बना है। यदि अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो यहां सुख नजर आना चाहिये था। इस अन्यथानुपत्ति

हेतुके द्वारा इस अबुद्धिपूर्वक दुःखकी सिद्धि होती है, इसीका स्पष्ट कथन किया जा रहा है।

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥३१५॥

सुखाभावदर्शनसे सर्व संसारी जीवोंके अबुद्धिज दुःखकी सिद्धि—सभी संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख बना हुआ है। पुराणोंमें पढ़ते हैं कि इस संसारी जीवकी अनादि दशा निगोद है। ऐसी है निगोदिया जीवोंकी स्थिति कि जिनके शरीरको हम निरख भी नहीं सकते हैं। वादर निगोद शरीर भी इतना सूक्ष्म है कि हम आपकी आंखोंसे नहीं दिख सकते। जितने दिखते हुए शरीर नजरमें आ रहे वे सब प्रत्येक शरीर नजरमें आते हैं। जैसे—लोग कहते हैं कि आलू कंद आदिक साधारण हैं। तो वे साधारण नहीं किन्तु साधारणसहित प्रत्येक हैं। जो दिखनेमें आ रहा है वह देह भी तो प्रत्येक है, और उसके आधारमें निगोदिया जीव अनंत बसे हैं साधारण हैं। तो निगोदिया जीव, जिस एक देहके आश्रयमें अनन्त निगोद होते हैं, जिनका एक ही देह सबका रहता है, बताओ ऐसे देह कहाँ नजर आते हैं? एक जीव अपने देहका खुद अधिकारी है, कोई दूसरा जीव दूसरेके शरीरका अधिकारी नहीं, मगर देखो कि कर्मोपाधिका विचित्र फल और उस दुःखकी पराकाष्ठा कि औदारिक शरीर एक है और वही सब निगोदिया जीवोंका शरीर है जो उसके आधारमें रह रहे हैं। तो वहाँ एक साथ जन्म मरण होता—यह बात तो जन्म मरणकी बतायी है उनके दुःखकी सिद्धिके लिए। चूंकि हम लोगोंके जन्म मरण होते हैं, इससे जान जाते हैं कि दुःख है, पर ज्ञान चूँकि ढक गया है इससे अबुद्धिपूर्वक जो दुःख होता है उसका अनुभव नहीं कर पाते। हम आपका ज्ञान ढक गया है, आवृत्त हो गया है, और इतना ही नहीं, हम आप एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हुए तो वहाँपर भी अबुद्धिपूर्वक दुःख चलता रहा। तो अब समझिये कि जिन जीवोंका क्लेश हम आपको नजर नहीं आ रहा उनके अन्दर भी अबुद्धिपूर्वक दुःख निरन्तर चलता रहता है। नरकगतिमें घोर दुःख बताये गए हैं, लेकिन वहाँ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, उनके सम्यग्दर्शन भी हो सकता है, वे अन्तः प्रसन्न भी रह सकते हैं, लेकिन इन निगोदिया जीवोंको तो कुछ भी सुखी होनेका जरा भी अवकाश नहीं है। उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख निरं-तर चलता रहता है। इसी तरह अन्य स्थावर आदिक सभीमें समझना चाहिए कि यह अबुद्धि पूर्वक दुःख निरन्तर बना रहता है। यह बात इस हेतुसे सिद्ध है कि जो नैसर्गिक सुख है, आत्माका जो स्वाभाविक आनन्द है, वह आनन्द यहाँ देखा नहीं जा रहा है। यदि इस आत्मा में अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो आनन्दकी झाँकी तो होनी चाहिये थी। तो सुखका अदर्शन है। इस हेतुसे यह सिद्ध होता है कि इन समस्त संसारी जीवोंमें दुःख निरन्तर ही वसा हुआ है।

नासौ हेतुरसिद्धोस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥३१६॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखसाधक सुखादर्शन साधनमें असिद्धत्वका अभाव—पहिले यह बताया गया था कि संसारमें जितने भी जीव हैं उन सबमें अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है, क्योंकि उनमें सुख नहीं देखा जा रहा है। अबुद्धिपूर्वक दुःखका अर्थ यह है कि ऐसा दुःख कि खुदको भी समझमें खूब नहीं आ पाता और भीतरमें दुःख हो रहा है। जैसे कोई आदमी सोया हुआ है तो वह सोये हुएमें भी दुःखी रहता है। किसी दुःखीको बहुत जगनेके कारण उसे नींद न आये तो भीतरमें वह दुःखी रहता है, मगर उसकी बुद्धिमें यह नहीं समाता कि मैं दुःखी हूं, सोया हुआ पुरुष अपनेको मैं दुःखी ऐसा अनुभव कर नहीं पाता, लेकिन है वह दुःखी। जैसे कोई मदिरा पी लेता है, बेहोश होकर पड़ गया तो क्या उसे भीतरमें दुःख है नहीं ? अरे वह तो बहुत दुःखी है और दुःख है तभी वह बेहोश हुआ है, अब उसके दुःखको वह बुद्धिमें नहीं समझ पा रहा है। ये एकेन्द्रिय आदिक जीव जो पेड़ वगैरह हैं क्या ये दुःखी नहीं हैं ? अरे ये भी दुःखी हैं मगर इनमें बुद्धि कहाँ है कि अपनेको इस तरह समझ सकें कि मैं बड़ा दुःखी हो रहा हूं। ऐसे बहुतसे दुःख अबुद्धिपूर्वक होते हैं जो जीवोंमें हैं, क्योंकि उन्हें सुखी नहीं देखा जा रहा है। इस तरहका हेतु बताया गया है—सुखका अदर्शन। उस हेतुसे यह सिद्ध हो रहा है कि संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है। उसीके सम्बंधमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह हेतु असिद्ध नहीं है, किन्तु इसके अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ सुखका अभाव है वहाँ दुःख अवश्य है और जहां दुःख नहीं है वहां सुखका अभाव भी नहीं देखा जाता है। जहां अनन्त सुख पाये जा रहे हों वहां दुःख नहीं है। दोनों तरहसे यह व्याप्ति मिल जाती है। तो जब अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो जाती है तो यह हेतु निर्दोष बन जाता है। कोई सी भी चीज सिद्ध करना हो तो उसके लिए जो हेतु दिया जाता है उसमें अन्यथानुपपत्ति होनी चाहिए अर्थात् यदि ऐसा न हो और फिर यह हो तो उससे यह सिद्ध है कि यह अवश्य है। जैसे यहां अग्नि होनी चाहिए, क्योंकि यहां धुवां उठ रहा है। तो यदि अग्नि न हो तो धुवां नहीं हो सकता, तब धुवां देखकर यह सिद्ध हो जाता है कि यहां अग्नि अवश्य है। तो ऐसे ही जीवोंमें सुखका अभाव पाया जा रहा है, उससे यह सिद्ध है कि इन जीवोंमें दुःख अवश्य है।

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥३१७॥

सुखादर्शन और अबुद्धिपूर्वक दुःखमें व्याप्तिके समर्थनके अनुरूप दृष्टान्त—जहां सुख न पाया जा रहा हो वहां समझना चाहिए कि भीतरमें दुःख अवश्य है, और वह दुःख दो प्रकार

का है। एक तो समझमें आ जाय ऐसा दुःख और एक समझमें ही न आ सके, मगर भीतरमें दुःखका बोझ है, कर्मबन्धन है तो दोनों प्रकारके दुःख वहां हैं, जहाँ सुख न देखा जा रहा हो। तो बुद्धिपूर्वक जो दुःख है उसको सिद्ध करनेके लिए तो श्रम करनेकी आवश्यकता नहीं, वह तो स्पष्ट है किन्तु जो अबुद्धिपूर्वक दुःख है उसे यहाँ सिद्ध किया जा रहा है। उसके लिए कुछ दृष्टान्त देखिये—जैसे कोई पुरुष मूर्छित हो गया किसी रोगके कारण या किसी वजहसे मूर्छा आ गयी, बेहोश पड़ गया तो जो बेहोश पड़ गया है वह चेष्टारहित हो जाता है। ऐसे चेष्टाहीन पुरुषको देखकर लोग यह अनुमान कर लेते हैं कि इसने मदिरा पी लिया है। यद्यपि वहाँ मदिराका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, किन्तु उसकी बेहोशीका कार्य समझमें आया। उससे सिद्ध हुआ कि इसने मदिरा पी लिया है। इसी तरह समझना चाहिए कि भाई जब इस संसारमें कहीं कोई सुखी नहीं नजर आता तो इनमें अवश्य ही दुःख है, और दुःखकी बात कहाँ तक सोची जाय ? जहाँ बड़ा सुख मालूम कर रहा हो कोई कि हम तो बड़ा मिष्ट स्वादिष्ट भोजन कर रहे हैं, बड़ा ही मधुर स्वाद ले रहे हैं उस समय वह बड़ा मौज मानता है, ऐसा मौज माननेके समयमें भी उसमें दुःख पड़ा हुआ है और उस दुःखकी वेदना हो रही है, जिस वेदनाको वह खुद समझ नहीं पा रहा है। वह तो यही समझता है कि मुझे मौज मिल रही है। संसारकी किसी भी स्थितिमें आनन्द नहीं है। इस तरह इस दृष्टान्तके अनुसार यहाँ अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध होता है।

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम्।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥३१८॥

संसारी जीवोंमें सुखादर्शनकी अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ व्याप्तिका कथन—संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख है अन्यथा अर्थात् यदि अबुद्धिपूर्वक दुःख न होता तो अरहंत, सिद्ध प्रभु या बड़े-बड़े योगीश्वर—जैसे ये सुखी नजर आते हैं, इस तरहसे ये संसारी प्राणी भी सुखी नजर आने चाहियें थे, लेकिन इनमें आनन्द नहीं देखा जा रहा है। इससे सिद्ध है कि इनके दुःख ही है। देखिये—आनन्द और मौजमें बड़ा अन्तर है। मौजके साथ भीतरमें दुःख मिला हुआ है, पर आनन्दमें दुःखका लेश नहीं है। मोहग्रस्त हो जाना इससे बढ़कर अन्य कोई विपदा नहीं है। एक तो कोई दुःखी हो रहा है और एक दुःखी होता हुआ भी अपनेको सुखी समझ रहा है तो इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। दुःखी होता हुआ जो अपनेको समझ रहा हो कि यह दुःख है वह तो कुछ होशमें है लेकिन यह दुःखी हो रहा है और समझमें नहीं आ पाता और उल्टा कारण है, वह खतरेसे भरपूर है, इसीको कहते हैं मिथ्यादृष्टि। वह है तो दुःख और मानता है अपनेको मौज वाला, विषयसुख वाला, तो ऐसी जब मिथ्याबुद्धि होती है तो उसकी चिकित्सा बड़ी कठिन हुआ करती है। इसे कहते हैं भ्रम। बात तो हो और कुछ

और सोच ली जाय और कुछ तो ऐसे भ्रम वालेको फिर सब बातें उल्टी-उल्टी ही नजर आती हैं। एक ऐसी घटना है कि किसी गांवके किनारेपर एक बढ़ई रहता था। उसका सबसे पहिले घर मिलता था, और वह था बड़ा मजाकिया। एक दिन वहाँसे एक मुसाफिर निकला, उसने बढ़ईसे अपने इष्ट गाँवका रास्ता पूछा, तो था तो मान लो वह गाँव पश्चिमकी ओर और रास्ता बता दिया पूरबकी ओरका, और साथ ही यह भी कह दिया कि देखो इस गाँवके लोग बड़े मजाकिया हैं। उनकी बातोंमें न आ जाना, कहीं तुम्हें रास्ता भटक जाना पड़े। सो जब वह मुसाफिर कुछ आगे बढ़ा, अन्य लोगोंसे उस गाँवका रास्ता पूछा तो सभीने कहा कि तुम तो गलत रास्ता आ गये, वह गांव तो पश्चिमकी ओर है। तो उसने समझ लिया कि देखो यह बढ़ई ठीक ही कह रहा था कि यहां तो सभी लोग मजाकिया हैं। सो उसने किसीकी बात न मानी। आखिर सबकी बातें अनसुनी करके वह आगे बढ़ता गया। जब किसी दूसरे गांवमें पहुंचा और वहांके लोगोंने बताया कि अरे तुम तो रास्ता अमुक गांवसे ही भूल गए। वह रास्ता तो अमुक गांवसे पश्चिमकी ओरको जाता है। अब वह मुसाफिर बहुत पछताया। तो प्रयोजन कहनेका यह है कि एक तो भूल हो जाना इसका दुःख और एक भूल जानेपर भी भ्रम रखना यह हुआ डबल दुःख। यही हालत अज्ञानी जीवोंकी है कि एक तो ये भूले हुए हैं, भ्रम भरे हुए हैं और दूसरे उसीको ही ये सत्य मान रहे हैं तो ऐसी स्थितिमें इनका जो दुःख है वह बहुत बड़ा गाढ़ दुःख है और अबुद्धिपूर्वक भी दुःख पड़ा हुआ है और किन्हींके बुद्धिपूर्वक भी दुःख चल रहा है। यदि इनके अबुद्धिपूर्वक दुःख न हो तो इन्हें सुखी होते नजर आना चाहिये था, पर ये कहां सुखी नजर आते? अपनी ही बात अगर बहुत दृष्टिसे देखेंगे तो जिन विचारोंमें और जिन बातोंमें हम कुछ मौजसा समझते हैं और यह मानते हैं कि यह बात होनेपर आनन्द होगा, लेकिन उस समय हमको कितना दुःख है? जब यह जीव अपने इस आनन्दमय आत्माके उपयोगसे चिग गया और बाहरमें कहीं देख रहा तो बस उपयोगका भीतरसे हटकर बाहर कहीं लगना बस यही दुःखरूप बन जाता है, और यही एक दुःख है। अरे आत्मन्! तुम तो खुद ही इस अपने आनन्दधामसे हट गए, इसलिए तुम दुःखी हो रहे हो। जैसे मछली पानीसे हटकर बिल्कुल पानीके बाहर पहुंच जाय तो जैसे वह तड़फती है, इसी तरह यह जीव अपने आपके स्वरूपसे हटकर कहीं बाहर निकल गया तो वहां यह तड़फता है, इसको चैन नही मिलती।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम्।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥३१९॥

कर्मबद्ध जीवके निरन्तर कर्मोदयादिके कारण अबुद्धिज दुःखका निर्णय—इस जीवके निरन्तर उदय और उदीर्णा चल रहे हैं, अर्थात् जो कर्म पहिले बाँधे थे वे कर्म अपने समयपर

उदयमें आ रहे हैं, उनका फल मिल रहा है अथवा कुछ कर्मोदयके समयसे पहिले भी फल देने लगते है इसको कहते हैं उदीर्णा। तो कर्मोंके उदय और उदीर्णा इस जीवके चल रहे हैं? इससे सिद्ध है कि इस जीवके निश्चयतः अबुद्धिपूर्वक दुःख है। कर्मोंका फल भी दुःखरूप ही है। अब शुभ कर्मोंका उदय आता है तो यह जीव चैन मानता है—अहो, मेरा बड़ा अच्छा भाग्य है, मेरा बड़ा अच्छा पुण्यका उदय है जिससे मुझे सब प्रकारके सुख-साधन प्राप्त हो रहे हैं। तो ठीक है, लेकिन वहां सुख-साधनोंमें भी निरन्तर ऐसा दुःखका वेदन चलता है जिसका खुद को पता नहीं पड़ रहा। तथ्यकी बात यह है कि जब तक मोहनीय कर्मका विपाक है तब तक यह जीव किसी भी स्थितिमें चला जाय, यह आनन्द नहीं पा सकता। तो आनन्द पानेके लिए इतने बड़े कष्ट सहे जा रहे हैं, लेकिन फल इनका उल्टा होता है। जैसे मानो आग बुझानेके लिए कोई उसपर घी डालता है तो उसका परिणाम उल्टा निकलता है, आग बढ़ती जाती है। इसी प्रकार इन अज्ञानी प्राणियोंके रागके समयमें, मौजके प्रसंगोंमें बड़ा दुःख मचता रहता है, पर वे उस रागजन्य दुःखको मेटनेके लिए राग ही बढ़ाते हैं। फल उसका यह होता है कि उनका दुःख और भी बढ़ता रहता है। जैसे किसीने सोच रखा था कि बेरा अमुक काम निपट जावे, बस दो चार सालकी बात है, फिर मैं निश्चित होकर धर्मसाधनामें लग जाऊँगा, पर देखा यह जाता है कि जब दो चार वर्ष और व्यतीत हो जाते हैं तो उस समय अपनेको ऐसी बँधी हुई स्थितियोंमें पाते हैं जैसे कि १०-५ वर्ष पहिले बँधे थे। बँधे तो वस्तुतः न तब थे, न अब भी हैं लेकिन कल्पनासे बँधे हुए थे और अब भी कल्पनासे ही बँधे हैं। बल्कि पहिले तो कुछ कम विकल्प थे, अब तो और भी अधिक विकल्प बढ़ गए हैं। तो इसका कारण क्या है? अरे जिस समय इच्छा हो कि हमें धर्म करना है उस ही स्थितिमें उस ही में अपना ढंग निकालकर धर्ममें लग जाओ, यह तो है रीति धर्मकी। कोई सोचे कि ५-७ वर्षों तक तो हम इस धर्मको ताखपर रखकर खूब धन कमा लें, खूब बढ़िया साधन बना लें, फिर डटकर धर्म किया जायगा, तो उन ५-७ वर्षोंमें जो अधर्मका, पापका संस्कार लग रहा था वह संस्कार क्या ५-७ वर्ष बादमें पूरा मिट जायगा और यह बड़ा दूधका धोया बन जायगा, ऐसी आशा पूरी तरहसे की जा सकती है क्या? अरे कैसी ही स्थिति हो, चाहे आज फेरी करके २-२॥ रुपये ही प्रतिदिन कमाकर परिवारका पालन-पोषण किया जा रहा हो, उस ही स्थितिमें भी समय धर्मपालनके लिए निकाला जा सकता है, और धर्म होता है ज्ञानसे, भेदविज्ञानसे, आत्मा के चिन्तनसे। तो धन नहीं है उस ज्ञानी पुरुषके पास तो उसका टोटा कहाँ है? समय भी उसके पास है और ज्ञान भी उसके पास है, अगर चाहे तो वह धर्म पाल सकता है, फिर क्यों इस धर्मके प्रोग्रामके लिए अपने समयको लम्बा बताया जा रहा है? उचित यह है कि जो जिस स्थितिमें है उसी स्थितिमें रहकर धर्मसाधना करे, ज्ञानकी आराधना करे, आत्माका

चिन्तन करे, कषायोंका खण्डन मण्डन करे। दूसरोंका सन्मान रखनेकी जिसकी आदत बन जायगी वह इस जीवनमें भी हैरान न हो सकेगा और उसको उतने विकल्प भी न सता सकेंगे। तो जो करने योग्य कार्य हैं उनको करें, इसीमें अपनी रक्षा है, और ज्ञानस्वरूप धर्मकी साधना बनानी चाहिए, उसी स्थितिमें जो भी स्थिति आज हो। तो इस जीवके जब निरन्तर कर्मोंका उदय और उदीर्णा चल रही है तो सिद्ध होता है कि जीवके निरन्तर ही दुःख पाया जा रहा है।

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधनम्।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥३२०॥

अबुद्धिपूर्वक दुःखके सर्वथा अवाच्यत्वकी असिद्धि—उक्त सब विवरणोंमें जो यह बात इस समय सिद्ध की जा रही है कि संसारी जीवोंके अविवेकपूर्वक दुःख है, सो इसकी सिद्धि करनेमें कोई कठिनाई नहीं है। और यह बात वचनों द्वारा भी बतायी जा सकती है। कोई ऐसा नहीं है कि अबुद्धिपूर्वक दुःख वचनके सर्वथा ही अगोचर हो, अर्थात् दुःखको कहा ही न जा सकता हो। उसके सम्बंधमें सब बताया जा सकता है और वह इसी तरह बताया ही तो जा रहा है कि जब जीवोंके कर्मका उदय पाया जा रहा है, तो समझना चाहिए कि इस आत्मामें दुःख है। अगर दुःख न हो तो यह शरीर क्यों लादे फिरता और इसकी यह स्थिति क्यों बनती कि जन्म मरण कर रहा है, और साथ ही यहाँ भोगसाधनोंके प्रसंगमें भी इसके भीतर आकुलता बनी रहती है। तब ही तो यह आकुलित होकर इतना घोर दुःखी हो रहा है। तो अबुद्धिपूर्वक इस जीवके दुःख है।

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम्।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्वलात् ॥३२१॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥३२२॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम्।
यद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥३२३॥
साध्ये वाऽबुद्धजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धौ व्याप्तेरसंभवात् ॥३२४॥

संसारी प्राणियोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःखके असद्भावविषयक शङ्काकारकी आशङ्का—उक्त प्रकरणको सुनकर शङ्काकार यह चौथी शङ्का रख रहा है कि हमको तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो कर्मोंसे बँधे हुए जीव हैं उनके सुख तो है ही नहीं, क्योंकि ये कर्मोंके द्वारा बलपूर्वक ऐसा मूर्छित हो गए हैं कि उस सुखको तो लेशमात्र भी नहीं पाया जा रहा है। तब क्या

पाया जा रहा इन जीवोंमें ? अनिष्ट पदार्थोंका संयोग है ना यहां तब शारीरिक दुःख पाया जा रहा, जो इन्द्रियसे उत्पन्न होता है और बुद्धिपूर्वक है याने संसारमें जीवोंके जो भी दुःख पाये जा रहे हैं या तो शरीरके कारणसे पाये जा रहे अथवा इन्द्रियके कारणसे। तो ये सारे दुःख बुद्धिपूर्वक हैं, सब बुद्धिमें समझमें आ रहे हैं। तो मन, देह, इन्द्रिय इनसे अलग कोई और दुःख नहीं हैं। जितने भी दुःख हैं वे मनसे मिलेंगे या शरीरसे बनेंगे या इंद्रियसे, इनके अलावा और कोई दुःख हैं ही नहीं जिनको कि हम सिद्ध करके इस जीवके अबुद्धिपूर्वक दिखें। पाये जा रहे हैं वे सब बुद्धिपूर्वक। शरीरका दुःख हो, मनका दुःख हो, इन्द्रियका दुःख हो, ये सब समझमें आ रहे हैं, हम सब लोग भी जान रहे हैं और जिसे दुःख हो रहा है वह भी अनुभव कर रहा है, उसे छोड़ करके और कोई दुःख नहीं है। अबुद्धिपूर्वकको सिद्ध कर रहे यह बात असिद्ध है। जैसे कोई आकाशका फूल सिद्ध करे तो आकाशका फूल तो कहीं होता नहीं। कोई कहे कि आकाशके फूलकी माला बनाकर लाओ तो भला बतलाओ माला बनायी जा सकेगी क्या ?····नहीं। ठीक इसी तरह ये अबुद्धिपूर्वक दुःख जब हैं ही नहीं तो फिर इनको सिद्ध करनेकी जबरदस्ती क्यों की जा रही है ? जब सुख नहीं पाया जा रहा तो इससे ही सिद्ध है कि अबुद्धिपूर्वक दुःख है। अरे दुःख सही, सुख नहीं देखा जा रहा है तो इससे अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं सिद्ध होता, किन्तु बुद्धिपूर्वक ही दुःख सिद्ध होता है, और फिर जो सुखका अभाव बतला रहे हो उसकी व्याप्ति अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ नहीं है। इस कारणसे तुम्हारा हेतु असिद्ध है। इससे बुद्धिपूर्वक दुःख दुनियामें है ही नहीं, यह बात यदि कही जा रही है कि सभी जीवोंके बुद्धिपूर्वक दुःख जो है, उसके अतिरिक्त अबुद्धिपूर्वक दुःख भी निरन्तर चल रहा है, लेकिन शंकाकार यह कहता कि ऐसा दुःख वह कौनसा है कि जो बुद्धिमें नहीं आया और हो रहा है। इस शङ्काको समझनेके लिए थोड़ी यह बात समझ लीजिए कि जैसे कोई जीव मरा, यह देह तो छूट गया और अगले जन्ममें दूसरा देह धारण करेगा तो रास्तेमें विग्रह गतिमें न देह रहा, न इन्द्रियाँ रहीं, न मन रहा हो तो किसी बीचकी गतिमें कैसे सुखी है, दुःखी है ? तो अबुद्धिपूर्वक ही तो दुःख है। ऐसे ही और भी दुःख होते हैं, लेकिन शङ्काकार यहाँ यह शङ्का कर रहा कि अबुद्धिपूर्वक दुःख तो कुछ हुआ ही नहीं करता। उसमें देहका दुःख है ? या इन्द्रियका ?? या मनका ??? अब इन शङ्काओंका समाधान करते हैं—

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यया ॥३२५॥

सुखविपक्षभूतकर्मोपाधिको दुःखसाधन बताते हुए उक्त शङ्काके समाधानका प्रारम्भ— शङ्काकारका यह कहना था कि संसारी जीवोंमें भगवान जैसा सुख तो होता ही नहीं है और साथ ही यह भी बात है कि जितना भी दुःख जाता है वह शारीरिक हो, इन्द्रियजन्य हो,

मानसिक हो, ये ही तो बातें पायी जायेंगी, इन दुःखोंको छोड़कर अन्य कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं पाया जाता है। इस शङ्काके समाधानमें विस्तृत वर्णन चलेगा। अतः उसकी भूमिका जैसा समाधान करते हुए कह रहे है कि शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है, क्योंकि दुःखको सिद्ध करनेमें दुःखका विपक्षी हुआ सुख और सुखका होता अदर्शन तो सुखके अदर्शनकी उस दुःखके साथ व्याप्ति है, याने जो सुखका विपक्षी हो वह दुःखका साधक है। सुख और दुःख दोनों ही सप्रतिपक्षी भाव है। दुःख है तो सुख नही और सुख है तो दुःख नहीं। जब दुःखका विपक्षी मौजूद हो तो वहाँ दुःख न कहलायगा और जब सुखका विपक्षी न हो तो सुख न कहलायगा। सुखका विपक्षी है कर्म और कर्म है दुःखको सिद्ध करने वाला। जीवोके साथ जब तक कर्म लगे है तब तक उन्हें दुःखी ही समझियेगा। दुःखका विपक्षी है सुख। सुखका अदर्शन है यों समझ लीजिए अथवा सुखका विपक्षी चूंकि कर्म है, इस कारण सुख नही किन्तु दुःख ही है, यह कह लीजिए। प्रयोजन यह है कि जहाँ सुख न देखा जाता हो वहाँ दुःख ही है ऐसा निर्णय होता है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥३२६॥

सुख और कर्ममें विरुद्धधर्मता होनेसे विपक्षत्वकी सिद्धि—जो विरोधी धर्म होता है उसे ही परस्पर विपक्षता हुआ करती है, किन्तु जो एक साथ रह सकता हो याने अविरुद्ध न हो, वह तो वहाँ रह ही सकता, उनमें विपक्षता नही हुआ करती। जैसे शीत और उष्ण इन दोनोंमें स्पर्शोका विपक्ष है। जहाँ शीत है वहाँ उष्ण नही, जहां उष्ण है। वहाँ शीत नही। इसी प्रकार कर्म और सुखका विपक्ष है, अर्थात् यहां कर्म है वहां सुख नही और जहां सुख है वहां कर्म नही। कर्मबद्ध जीवके जो उदय उदीर्णा विपाक चलता है वहां सुख न समझना चाहिए बल्कि दुःख ही सिद्ध होता है। तो जहां परस्पर विरोध हो वहाँ एक हो तो दूसरा नहीं, लेकिन जो अविरुद्ध हों, एक साथ रह सकते हों उनमें कोई विरोध नही होता। जैसे समुद्रका पानी खारा भी है और पतला भी है तो खारापनेका पतलापनके साथ बैर नहीं हुआ करता, किन्तु वे एक साथ चल रहे है। जिनका परस्परमें कोई विरोध नही वे एक साथ रह जाया करते है किन्तु जिनका परस्परमें विरोध है वे एक साथ रह ही नही सकते। सुख और दुःख इनका विरोध है। दुःख और सुखका अदर्शन इनमें विरोध है। सुख और कर्मविपाक इनमें विरोध है। इस तरह सिद्ध होता है कि जब संसारी प्राणी कर्मबद्ध है तो उनके दुःख ही है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥३२७॥

विपक्षत्वकी सिद्धिके लिये सुख और घातिकर्मशक्तिके स्वरूपणमें सुखका विवरण—सुख क्या चीज है, उसका यहाँ स्वरूप बताया जा रहा है। यहाँ इन्द्रियजन्य सुखका अर्थ सुख न लेना, किन्तु आनन्दगुण और आनन्दविकास लेना। यदि शब्दके विश्लेषणकी दृष्टिसे देखा जाय तो यहाँ तीन बातें कहनी चाहिएँ—आनन्द, सुख और दुःख। सुख और दुःख तो आकुलतापूर्ण हैं और आनन्द सो ही निराकुलता धर्म वाला है तो उस ही आनन्दकी बात कह रहे हैं। उसीको यहाँ सुख शब्दसे कहा गया है ऐसा जानकर यहाँ सुनना है। सुख होता है निराकुल। जहाँ आकुलता न हो, जैसे कहना कि आत्माका हित सुख है और सुख क्या है? जहां निराकुलता है और निराकुलता कहाँ है? मोक्षमें, कैवल्यमें। जहाँ कर्म, नोकर्मके उपद्रव नहीं हैं ऐसा जब यह आत्मा केवल होता है तब वहाँ निराकुल आनन्द पाया जाता है। सो जो आनन्द पाया गया उस आनन्दकी शक्ति जीवमें है। जीव स्वयं आनन्दस्वभाव वाला है। सो यह सुख शक्ति इस जीवका अनुजीवी गुण है, अर्थात् जीवका सद्भावात्मक है। कोई ऐसा न समझे कि सुख उसका नाम है जहाँ आकुलता नहीं है। तो आकुलता तो कोई सत्य है, आकुलता कुछ चीज है। वह आकुलता न रहे तो उसीका नाम निराकुलता है। सो निराकुलता कुछ चीज है। निराकुलता है मात्र आकुलताका अभाव कोई ऐसा न जान ले, किन्तु वास्तवमें आनन्द गुण है, आनन्द शक्ति है, उस आनन्दके तीन परिणमन होते हैं। जब अशुभ कर्म उदयमें आता है, पापकर्म उदयमें आता है तो वहां दुःख है। जब पुण्यकर्मका उदय होता है तो वहां सुख है, और जहां कर्मसे रहित अवस्था है या नाशोन्मुख अवशिष्टका जहां कुछ प्रभाव नहीं है वहां आनन्द है तो ऐसा वह आनन्द ज्ञानकी भांति ही गुण है। हां यह बात अवश्य है कि आनन्दका ज्ञानमें अन्तर्भाव कर लिया जाता है अनुभवके बतानेके लिए। जैसे कोई जीव ऐसे सोचे कि मैं आनन्दस्वरूप हूं, तो उसकी इस अनुभूतिकी पद्धतिसे ज्ञानानुभूति होना सुगम नहीं हो पाता, किन्तु कोई यह अनुभव करे कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं तो चूंकि जानने वाला तो यह ज्ञानपरिणमन है, ज्ञानने ही जाना और ज्ञानको ही जाना तो वहां स्थिति अभेद हो जाती और यह स्वानुभूति सुगम प्रकट हो जाती है। यों ज्ञानमात्रकी प्रधानतामें आनन्दका अन्तर्भाव कर लीजिये। और वहाँ समझ लीजिए कि ज्ञानका अविनाभावी है आनन्द, फिर भी विश्लेषण करके यह समझा जायगा कि ज्ञान भी एक गुण है और आनंद भी एक गुण है, यों विश्लेषणमें गुणोंका सद्भाव समझमें आयगा और अभेदमें विदित होगा कि वह तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र है। यह आनन्द जीवकी उपजीवनी शक्ति है।

सुखविरोधिनी आकुलताका चित्रण—इस सुखशक्तिके अथवा सुखके विरुद्ध है आकुलता, तो उस शक्तिका विपरिणमन समझिये। सुखका विपक्षी है आकुलता। तो वह आकुलता घातिया कर्मोंकी शक्ति है। घातिया कर्मके उदयमें यह आत्मा घाता जाता है, मथा जाता

है और वहां इसका आनन्द भी मथ जाता है, दुःखरूप परिणम जाता है, वहां क्षोभ हो जाया करता है। यद्यपि है आत्मा आनन्दस्वरूप, लेकिन जहां इसकी दृष्टि बाहर गई, मोहकर्मका विपाक हुआ, मुग्ध हो गया, बेहोश हो गया तो फिर वह अपने आपकी ओर उन्मुख नहीं हो पाता। लोकमें बेहोश उसीको कहते हैं जो सही ढंगसे बात न करे, जो सही ढंगसे काम न करे, गड़बड़ काम करे, और होश नाम उसका है कि आत्मा अपने निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव मात्र को निरखे, उस ही ओर उन्मुख हो, उसीमें सन्तुष्ट रहे। जिसे ऐसा अपना होश नहीं है, बाहर में कुछ भी विकल्प विचार बनें वह तो बेहोशी है, और जो बेहोश है उसे सुख कहां रखा है? लोग भले ही पागल पुरुषको देखकर सोचते हैं कि यह है बादशाह; क्योंकि वह अगर पढ़ा लिखा था तो व्याख्यान भी अच्छा झाड़ लेता है। कोई किसी पागलसे कुछ व्याख्यान न करवाये या करवाये, उसके सनक आये तो वह पागल कुछ मिनट तक अच्छी-अच्छी बातें भी बोल जाता है और कभी-कभी तो एक राज्यशासन जैसा हुक्म चलाता है, छोटा बड़ा कोई भी व्यक्ति हो उसपर वह हुक्म चलाता है, उसे किसका डर? तो उसकी ऐसी बातें देखकर लोग सोचते हैं कि यह पागल तो बड़ा सुखी है, बादशाह है। और उसे हर कोई खानेको भी दे देता है, इसे कोई चिन्ता फिक्र नहीं। तो लोग सोच बैठते हैं कि यह बड़ा सुखी है, देखो हम लोगोंको तो बड़ी-बड़ी चिन्ता फिक्र लगी है। लोग उसकी बाहरी स्थितिको देखकर सोचते हैं कि हमसे सुखी तो यह पागल है। लेकिन बात वहां क्या बीत रही है कि वह पागल तो बेहोशीके कारण निरन्तर अन्तः दुःखी बना रहता है। वह अपने इस अन्तः दुःखको समझ नहीं पाता, तो जैसी बात उस पागलके प्रति है ऐसी ही बात यहांके मोही, पागल, अज्ञानी उन्मत्त प्राणियोंकी है। जिसे अपने आपकी सुध नहीं है, बाहर ही कुछ निरख रहा है उसे अपने दुःखका बोध नहीं है, बस विषयसुख पाये उनका मौज मानता रहता है। तिर्यञ्च, पशु पक्षी, मनुष्य विषयसुखोंके मौजोंमें वह अपने दुःखका भान ही नहीं करता है। ऐसे कठिन दुःखी हैं ये संसारी प्राणी।

घातिकर्मशक्तिका प्रभाव सुखविरोधिनी आकुलता—ये सब दुःख क्यों हुए? ये सब हुए घातिमा कर्मके प्रभावसे। तो कोई यह आशङ्का न रखे कि सुख नामकी कोई चीज नहीं है। केवल घातिया कर्मोका अभाव होनेसे जो आकुलता न रही उसीको लोग सुख कह दिया करते हैं। ऐसा कोई न समझे, क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं हुआ करती है। सुख तो एक भावरूप शक्ति है। जैसे ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति, श्रद्धानशक्ति, इस ही प्रकार आनंद शक्ति भी है, और यह भावरूप शक्ति है, द्रव्यका अनुजीवी गुण है, यह एक स्वतंत्र गुण है और इस सुखका घातने वाला कोई कर्म है तो अलगसे कोई कर्म न मिलेगा। इसके घातनेकी परिभाषा जुदी-जुदी स्थितिको निरखकर जुदे-जुदे उत्तरमें हो सकती है। एक उत्तर यह है कि

जहां दर्शनमोह है वहां सभी गुण घाते जा रहे हैं। दर्शनमोह खत्म हो तो यह आनन्दगुण प्रकट होता है। एक परिभाषामें यह कह सकते हैं कि मोहनीय कर्ममात्र इस सुखका घातने वाला है। जहां मोहनीय कर्म नहीं रहता वहां आनन्द प्रकट हो गया। एक परिभाषामें यह कह सकते कि चार घातिया कर्म जब तक हैं तब तक जीवमें आनन्द प्रकट नहीं है। चार घातिया कर्मोंका क्षय हो तो वहां आनन्द प्रकट होता है और एक परिभाषामें तो यह कहते हैं कि आठों प्रकारके कार्य ही आनन्दका घात करने वाले हैं। जहाँ कर्मका विनाश हुआ वहाँ आनंद प्रकट होता। इन सब परिभाषाओंमें मुख्य अर्थ और प्रासंगिक अर्थ और समझनेके लिए भी पहिला उपयोगी अर्थ यह है कि घातिया कर्मका क्षय होनेपर यह आनन्दगुण प्रकट होता है और तब ही इसका अनन्त आनन्द, अनन्त सुख नाम होता है। तो यह सुखगुण एक भावात्मक शक्ति है और उसका घात करने वाला घातिया कर्म है। उसका क्षय होनेपर आनन्दगुण प्रकट हो जाता है। तो आनन्दको सुखको अभावात्मक न समझिये। जिस जीवमें ज्ञान बसा है वहाँ ही जीवके स्वरूपमें आनन्द भी बसा हुआ है।

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥३२८॥

घातिया कर्मोंमें सुखघातिनी शक्तिका समर्थन—अब इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि घातिया कर्ममें एक प्रभाव है सुख गुण घाता जाता है, यह बात असिद्ध नहीं है। सुख गुणके अभावमें जो आकुलता उत्पन्न होती है वह तो घातिया कर्मकी शक्ति है। घातिया कर्म भाव पद्धतिसे देखें तो घातियाकर्म याने घातने वाले ये सब विभाव इस सुख गुणका घात करते हैं। द्रव्यदृष्टिसे देखो तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इनका जहाँ तक विपाक है वहाँ अनन्त सुख नहीं प्रकट होता। तो ऐसी शक्ति इस घातिया कर्ममें पायी जाती है कि आत्माका आनन्दगुण प्रकट नहीं हो पाता, यह बात सिद्ध नहीं है। यदि कर्मशक्ति न हो तो आत्माकी शक्तिमें बाधा कैसे आती? बाधा तो है ही। यह सब जीवोंका दुःख है और जब इसमें तारतम्य पाया जाता, किसीको कम दुःख, किसीको अधिक दुःख, किसीको कम सुख, किसीको अधिक सुख आदि, तो जीवमें कोई सुख नामकी शक्ति तो है और उसका घात करने वाला घातिया कर्म है। यह सब उस शङ्काके समाधानमें कहा जा रहा है जो शङ्काकारने यह शङ्का की थी कि जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। जो भी दुःख है वह बुद्धिपूर्वक है, मानसिक है, शारीरिक है, इन्द्रियज है। इससे अलग कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। तो उस अबुद्धिपूर्वक दुःखको स्पष्ट करनेमें यह एक मौलिक समाधान दिया जा रहा है जिससे पहिले यह सिद्ध किया जा रहा है कि आत्मामें सुख गुण है और उस सुख गुणका घात करने वाला घातिया कर्म है।

नयात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥३२९॥

कर्मबद्ध जीवके कर्मरसोदयके कारण सर्वप्रदेशप्रकम्पी दुःखकी सिद्धि––इतने उक्त विवेचनसे यहाँ तक यह निर्णय करके जो कर्मबद्ध जीव है उस जीवके जब तक कर्मोंका रसोदय चल रहा है, विपाक अनुभाग चल रहा है तब तक समझिये कि उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कंपा देने वाला दुःख है । देखिये––दुःखके स्वरूपकी बात इस ओरसे भी समझ सकते हैं कि यह दुःख आत्माके प्रदेशोंको कंपा देता है और यह बात बहुत कुछ स्पष्ट भी मालूम होती है कि जब दुःख होता है जीवके तो यह प्रदेशोंमें कम्पित हो जाता है और कभी-कभी तो शरीरके ऊपर भी इसका दृश्य दिखाई देने लगता है । यही बात वैषयिक सुखमें मिलेगी । सो उसे भी दुःख ही समझें । जीवप्रदेशके कम्पनके साथ अविनाभाव है दुःखका याने जहाँ दुःख है वह प्रदेशचलात्मकता अवश्य है । सो यहाँ यह तो नियम नहीं है कि जहाँ प्रदेशप्रकम्पन हो वहाँ दुःख अवश्य है, किन्तु यह नियम है कि जिस जीवके दुःख और वैषयिक सुख हो रहा है उसके नियमसे प्रदेशकी प्रकम्पता हो रही है । फिर तो जैसे इन कर्मोंके रसोदयमें प्रदेश प्रकम्पन होता है, ऐसा प्रकम्पन वाला यहाँ दुःख पाया जा रहा है । तो प्रकम्पताको साथ लिए हुए यह दुःख है जो कि लोग स्वयं अनुभव भी कर सकते हैं, भीतरमें व्याकुल हैं । कैसा व्याकुल हैं, उस व्याकुलताका यदि हम स्वरूप समझना चाहे तो यह खौलते हुए पानीको निरखकर समझ लों । जैसे कहते है कि यह पानी खौल रहा है, उस पानीमें खलबली मच जाती है, नीचेका पानी ऊपर तक पहुंच जाता है, उसी सिलसिलेमें पानीमें छोटे-छोटे बिन्दुओंका बड़ा तेज उबाल होता है । नीचेका पानी ऊपर जाता है और ऊपरका पानी नीचे जाता है । तो जैसे खौलते हुए जलमें एक तेज कम्पन होता है इसी तरह जब यह जीव खौलता है, दुःखी होता है, तो इसके ये प्रदेश कांप जाते हैं । तो ऐसे दुःख है जीवोके, यह बात असिद्ध नहीं, किन्तु भली भाँति सिद्ध है ।

देशतोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥३३०॥

दृष्टान्तपूर्वक कर्मप्रेरित जीवमें व्याकुलताका चित्रण––उक्त श्लोकमें जिसका निर्णय किया गया है उस ही निर्णयवाली घटनाका यह दृष्टांत दे रहे है । उसका एकदेश घातने वाला यह दृष्टान्त है कि जैसे हवासे प्रेरित हुआ समुद्र व्याकुल होता है । जब बहुत हवा चल रही है उस ढंगमें हवा चली, जो उस समुद्रमें बड़ी-बड़ी तरंगें उठती है और उनके सम्बंधमें सभी लोग कहते हैं कि यह समुद्र व्याकुल हो रहा है, गड़बड़ा रहा है । इसकी लहरें ऊँची नीची उठ रही हैं, इसलिएं व्याकुलता वहाँ दिखती है, और जब वायुसे रहित अपने अधिकारमें समुद्र

आ जाता है तो वह अपनी व्याकुलतासे रहित हो जाता है । यहाँ यह भी देखो कि जब तूफान चल रहा है तो समुद्र अपने अधिकारमें न रहा । यद्यपि बड़ी तरंग उठकर भी है समुद्र, पर समुद्र तो स्थिर रहे, इसीमें उसकी गम्भीरता प्रकट होती है, और उसकी ऐसी एक स्वाभाविक बात भी होती है लेकिन जब तूफान चलता है तो समुद्र अपने अधिकारमें नहीं रहता है और तरंगोंसे व्याकुल बन जाता है । तो जैसे वायुसे रहित समुद्र स्वस्थ है, स्वधिकारी है, व्याकुल नहीं है, और वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र स्वस्थ नहीं है, व्याकुल बना हुआ है, इसी प्रकार इन घातिया कर्मोंसे पीड़ित हुआ यह संसारी प्राणी व्याकुल है, स्वस्थ नहीं है, सुखमें नहीं है, और घातिया कर्मका जब अभाव हो जाता है तो यही जीव स्वस्थ है, व्याकुलतासे रहित है और यह कहो कि वह अपने पूर्ण अधिकारमें आ गया है, अपने आपपर पूरा कंट्रोल कर लिया गया है । कहाँ ? उस परमात्म दशामें । तो ये घातिया कर्म हैं जीवके सुख गुणका घात करने वाले और ये घातिया कर्म जब तक इस जीवके लगे हैं तब तक उसके दुःख ही समझना चाहिये ।

न च वाक्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥३३१॥

बद्ध अथवा अबद्ध सभी जीवोंके सुखके शाश्वत विद्यमान रहनेकी शंकाकारकी आरेका—वहां शङ्काकार कहता है कि चाहे कोई जीव कर्मसे बँधा हो, चाहे न बँधा हो, सभी जीवोंमें सुख सदाकाल रहता है क्योंकि आत्मामें सुखकी शक्ति पायी जाती है । शङ्का करने वालेका यह भाव है कि जब आत्मामें सुख नामकी शक्ति है और आत्माका स्वरूप सुखमय है तब फिर ऐसी कोई वजह नहीं है कि वहां सुख न हो, सुख तो वहां सदाकाल ही रहता है । जब शक्ति है आत्मामें तो शक्ति तो नित्य हुआ करती है । तो नित्य शक्ति जब सुख की है तो जीवमें सुख भी सदाकाल है । वहां ऐसा मानना कि कर्मबद्ध जीवमें तो सुख नहीं है और जो कर्मसे मुक्त हैं उसके सुख है ऐसी दुविधा क्यों डाल रहे हो ? सभी जीव सुखमय हैं, चाहे बद्ध हों, चाहे अबद्ध, ऐसा मान लेना चाहिए । ऐसी शङ्काकारकी शङ्का है । अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं ।

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता ।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोर्थतः ॥३३२॥

बद्ध जीवके शाश्वत सुख रहनेका अभाव सिद्ध करते हुए उक्त शंकाका समाधान—शङ्काकारने जो यह कहा है कि चाहे कर्मसे बँधा हो जीव, चाहे न बँधा हो, सभी जीवोंके दोष आता है । वह दोष यही है कि यदि जीवके दुःख सदाकाल होता तो इसका अर्थ है कि वह जीव सुखमें है । तो सुखमें जब जीव है अर्थात् अपने स्वरूपमें जब वह जीव है, चाहे कर्मका बन्ध हो, चाहे न बन्ध हो तो उसे फिर व्याकुलता क्यों हो जाती है ? उत्तरमें यह

बताया जा रहा कि तब यह मान लिया शङ्काकारने कि सभी जीवोंमें सुख सदाकाल है क्योंकि सुख शक्ति नित्य है और नित्य होनेसे सदा विद्यमान है तो इसके उत्तरमें यह कहा जा रहा कि इसका अर्थ यह हुआ कि जीवका सुख स्वरूप है और सुख नित्य है, इसलिए वह जीव सुखमें सदा रहता है। तो चाहे कर्मसे बद्ध हो अथवा अबद्ध हो, तब सभी जीव स्वस्थ हो गए। अपने सुखमें बने रहना इसको ही तो स्वस्थ कहते हैं। तो कर्मसे बँधा हुआ भी जीव स्वस्थ मान लिया गया, सुखमय मान लिया गया तो फिर उसके व्याकुलता क्यों हो जाती है ? फिर यह व्याकुलता न होनी चाहिये, किन्तु देखे जा रहे हैं दुःखी, इस कारण कर्मबद्ध जीवके सुख नही माना जा सकता, क्योंकि व्याकुलता पायी जा रही है। कोई मनुष्य रोता हो, चिल्लाता हो, पागल हो रहा हो और कहो कि यह जीव सुखमय है तो यह बात कौन मान लेगा ? इस कारण कर्मबद्ध जीवको सुखमय नहीं कहा जा सकता। तब मानना चाहिए कि उसके सुखका अभाव है। यह प्रकरण शङ्काकारकी इस मूल शङ्कापर चल रहा है, जो उसने पहिले शङ्का की थी कि अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं होता। जो होता है वह सब बुद्धिपूर्वक ही है। शारीरिक हो, इन्द्रियज हो, मानसिक हो, ये सारे बुद्धि वाले दुःख हैं, अबुद्धिपूर्वक नहीं। उसका समाधान देते देते जब कुछ यह बात सिद्ध हुई तब शङ्काकारने एक यह शङ्का छेड़ दी कि सभी जीवोंके सुख क्यों न माना जाय, क्योंकि सभी हैं। तो उसका उत्तर देकर उसी साधनको सिद्ध किया गया कि समस्त संसारी प्राणियोंमें सुखका अभाव देखा जाता है, और जब सुखका अभाव देखा जाता है तो अबुद्धिपूर्वक दुःख स्वतःसिद्ध हो जाता है।

न चैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥३३३॥

एक जीवमें सुख दुःख दोनोंके एक साथ बने रहनेकी आशङ्का—अब शङ्काकार यह कह रहा है कि आप लोग तो अनेकान्तवादी हैं, तो अनेकान्त मान लेना चाहिये कि इस कर्मबद्ध जीवके सुख भी है और दुःख भी है, क्योंकि अनेकान्तमें यही तो माना गया कि एक स्थानमें एक पदार्थमें एक जगह दो धर्म हों, अनेक धर्म हों और विरोधी धर्म हों तो सुख और दुःख ये दोनों विरोधी धर्म हैं। तो ये विरोधी धर्म भी उस एक जीव पदार्थमें मान लेना चाहिए। तब यह सिद्ध हो जायगा कि इस एक संसारी जीवमें भी सुख भी प्रकट है और दुःख भी प्रकट है। यों केवल दुःख ही क्यों कह रहे हो ? और यहाँ तक कह डाला है कि सभी कर्मबद्ध जीवोंके दुःख ही है। शुभ कर्मके उदयसे जो मौज माना जा रहा है वह भी दुःख है। जहाँ दुःख स्पष्ट प्रकट हो वह भी दुःख है। और जहाँ न भी दुःख मालूम पड़ रहा हो, लेकिन कर्मका बन्ध है तो दुःख अवश्य है। इस तरह दुःखका एकान्त क्यों किया जा रहा है ? अने-

कान्तका सहारा ले लिया ना कि चाहे निगोद हो, कीड़ा मकोड़ा हो, इनमें सुख भी है और दुःख भी है। अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥३३४॥

विपक्षभूत पर्याय होनेसे सुख दुःख दोनोंकी एक जीवमें एक साथ रहनेकी असंभवता—शङ्काकारने जो अनेकान्तका दुरुपयोग करके यह सिद्ध करना चाहा कि इन कर्मबद्ध प्राणियोंमें सुख भी है, दुःख भी है, दोनोंके परिणमन चल रहे हैं। साथ ही साथ ऐसा कहना बिना समझ का है, क्योंकि अनेकांत है तो प्रमाण, मगर किसी प्रयोजनके वशसे एक वस्तुमें गुण और पर्याय नयसे किसीको मुख्य और किसीको गौण करके वहाँ धर्मव्यवस्था बनायी जाती है। जैसे जीव नित्य है और अनित्य है। जब जीवको कहा कि यह जीव नित्य है तब वहां गुणको तो मुख्य किया और पर्यायको गौण किया, क्योंकि जीव तो द्रव्यदृष्टिसे ही नित्य है, पर्यायसे अनित्य है, आज मनुष्य हैं, मरकर देव हो गए, तिर्यञ्च हो गए, कुछ भी हो रहे। आखिर बदलते ही तो रहते हैं। यहाँ भी देख लो—एक ही दिनमें कितनी तरहके परिणाम होते हैं, दो ही मिनटमें कितनी तरहके चढ़ाव उतारके परिणाम होते हैं, तो ये बदलते ही तो रहते हैं। उन दृष्टियोंसे देखा जाय तो जीव अनित्य है। जिस समय जीवको नित्य सिद्ध किया जा रहा है तब तो गुण हुआ मुख्य और पर्याय हुई गौण, इसी तरह जब जीवको अनित्य कहा जाय तो पर्याय हुई मुख्य और गुण हुआ गौण, तो इस तरह गुण और पर्यायमें मुख्य और गौणकी विवक्षा होनेपर विरुद्ध दो धर्मोंकी सिद्धि की जाती है। पर ऐसे विरुद्ध धर्मकी सिद्धि नहीं की जाती कि मुख्य गौण हो जाय और गौण मुख्य हो जाय। इस प्रसंगमें यह बात बतायी जा रही है कि आत्मामें एक आनन्द नामका गुण है और उस आनन्द गुणके तीन परिणमन हुआ करते हैं—(१) एक तो आनन्द (२) सुख और (३) गुण। दुःखको तो सभी लोग जानते ही हैं, लेकिन जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे उसका नाम दुःख है और सुख नाम उसका है जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। आकुलता दोनोंमें है। ये विभावपरिणमन हैं, और आनन्द नाम उसका है कि जहाँ न मौजकी आकुलता है, न दुःखकी। आकुलतासे रहित केवल ज्ञानानुभव की स्थिति हो उसे आनन्द कहते हैं। अब आनन्दके ३ परिणमन हैं—कोई कहे कि तीनों एक साथ हो जायें, सुख दुःख एक साथ हो जायें। इस प्रकरणमें आनन्दका नाम तो सुख दे रखा है और सुख दुःख दोनोंका नाम दुःख दे रखा है, तो यहाँ सुख दुःख दोनोंकी बात कह दीजिए कि जीवमें दुःख भी होता और सुख भी होता, दोनों ही बातें एक साथ होतीं, ऐसा यों न होगा कि ये दोनों एक गुणकी पर्यायें हैं। तो एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ नहीं हो सकती हैं। जैसे व्यञ्जन पर्यायमें जरा सुगमतासे समझमें आ जायगा। एक जीव एक ही साथ मनुष्य

भी हो और देव भी हो, यह हो सकता है क्या ? अरे जब मनुष्य है तब देव नहीं, जब देव है तब मनुष्य नहीं, ऐसी बेढंगी दो बातें एक जगह नहीं निपोरी जा सकती हैं। इसी तरह सुख दुःखकी बात समझना चाहिए कि एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ नहीं हो सकतीं। कोई इन्हें एक साथ कहे तो वह अनेकान्तका दुरुपयोग है। अनेकान्तका उपयोग होता है गुण और पर्याय में—एक तो मुख्य और एकको गौण करके अनेकान्तका प्रयोग हुआ करता है। तो ये सुख और दुःख ये दोनों ही एक गुणकी पर्याय हैं। तो ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

अभिव्यक्ति पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥३३५॥

एक गुणकी दो पर्यायोंका एक साथ रहनेका विरोध होनेसे सुख दुःख दोनों पर्यायों की एक साथ एक जीवमें रहनेकी असंभवता—उसी उक्त श्लोकके कथनसे सम्बंध रखते हुए यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि सुख और दुःख इनकी जो व्यक्ति है, सुख और दुःख जो प्रकट हुआ है वह तो पर्यायस्वरूप है तो एक गुणकी इन दो पर्यायोंमें यह बात न घट सकेगी कि दोनों पर्यायें जीवमें एक साथ बन जायें। तो ऐसे दो धर्म अगर कहीं होंगे भी तो द्रव्यतः होंगे, अर्थात् उस द्रव्यका जो गुण और पर्याय दो प्रकारकी बात सामान्य और विशेष दोनोंसे एक को गौण करके एकको मुख्य करके ही द्वैत बनेगा अर्थात् दोनों धर्मोंकी एक साथ सिद्धि हो सकेगी, पर एक ही गुणकी दो पर्यायोंमें एक साथ सिद्धि नहीं हो सकती। तो यहां मूल शङ्का तो यह थी कि अबुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। उसका समाधान देते हुएमें दो आशङ्कायें आयीं—एक आशङ्का यह थी कि जीवमें सदाकाल सुख रहना मान लिया जाय क्योंकि सुखशक्ति नित्य है। उसके उत्तरमें बता दिया था कि सुख जीवमें सदाकाल रहता होता तो यह स्वस्थ कहलाता। फिर संसार ही क्या और व्याकुलता ही क्यों हो ? अतः कर्मबद्ध जीवमें सुख नहीं है। वहां दुःख ही पाया जाता है। दूसरी आशङ्का यह की गई कि चलो सुख दुःख दोनों मान लें, तुम तुम भी राजी हो जाओगे, हम भी, समाधान देने वालेकी भी बात रहेगी, इन शङ्काकारों की भी बात रहेगी और अनेकान्तकी भी ऊँची प्रतिष्ठा हो जायगी। उसके उत्तरमें बताया है कि यों अनेकान्तकी प्रतिष्ठा नहीं होती। वह तो गुण पर्यायके बीचकी बात है, जहां अनेकान्त प्रतिष्ठित होता है। यहां तो एक गुणकी दो पर्यायें एक साथ बता रहे हैं। दो द्रव्योंकी पर्यायें एक द्रव्यमें नहीं होतीं अथवा दो गुणोंकी पर्यायें एक गुणमें नहीं होतीं, इसी तरह एक गुण की दो पर्यायें भी उस पदार्थमें नहीं हो सकती हैं। तो कर्मबद्ध जीवके सुख नहीं माना जा सकता। दूसरी बात मोटे रूपसे यह भी समझ सकते हैं कि देखो—दुःख तो है वैभाविक परिणमन, अशुद्ध परिणमन और सुख है स्वाभाविक परिणमन। तो स्वाभाविक और वैभाविक परिणमन ये दोनों एक साथ कैसे हो सकेंगे ? अतः एक ही समयमें सुख दुःख दोनोंको

बताना ठीक नहीं है।

बहुप्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः ।।३३६।।

कर्मबद्ध जीवके दुःखित्वकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे करके आगमसे सिद्धि करनेका उपक्रम और आगमकी स्वतः प्रमाणताका कथन––अब पहिली शङ्काका उत्तर देनेके बाद शंकाकार कहता है कि बहुत अधिक बोलनेसे क्या प्रयोजन ? बहुत बोला जा चुका है। अब तो यहाँ सारांशपर आइये। हमारा साध्य था कि कर्मबद्ध आत्मा दुःखी है। जो जीव कर्मसे बद्ध है उसके दुःख निरन्तर रहता है। वह चाहे कल्पनामें कभी मौज भी मान रहा हो, तो वह उसकी कल्पना है। वह अन्दरमें दुःखी है। तो कर्मबद्ध जीव निरन्तर दुःखी है। यह बात युक्तियोंसे भली-भाँति सिद्ध हो गई, और युक्तियोंसे सिद्ध है सो बताया ही गया है, मगर जैन आगमसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है, और फिर कोई कहे कि आगम कैसे सिद्ध हुआ ? तो सुनो––अरे आगम तो स्वतः प्रमाण है। आगममें लिखी हुई बातको आगमकी दृष्टिसे निरखा जानेपर वहाँ उसमें तर्क नहीं उठाया जा सकता। वह प्रमाणभूत चीज है। हाँ जब युक्तिके मैदानमें आयें तब युक्ति दी जायगी, पर कोई आगमप्रमाणसे उस बातको समझना चाहता है तो आगम प्रमाण दे दिया, बस मान लेना चाहिए। वहाँ यह तर्क न उठा सकेंगे कि आगम कैसे प्रमाण है ? वह तो स्वतः सिद्ध प्रमाण है। जैसे किसी वस्तुका ज्ञान करना है तो ज्ञान किया जाय, युक्तियाँ दी जायें, बन जायगा प्रमाण, पर किसी चीजको प्रत्यक्षसे जान लिया तो प्रत्यक्षज्ञानमें प्रमाणता कैसे आयी, यह तर्क न उठेगा। प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतः सिद्ध है। बाह्य वस्तुमें किए जाने वाले ज्ञानमें तर्क उठाया जायगा। अब उसको सिद्ध कर देने वाला जो प्रमाण है उस ही प्रमाणमें तर्क नही उठाया जा सकता कि यह कैसे प्रमाण है ? वह स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

आगमकी स्वतः प्रमाणता न मानकर कुतर्क उठानेकी विडम्बना––यदि कुतर्क उठाया जाने लगे–प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण है ? आगम कैसे प्रमाण है ? प्रमाण कैसे प्रमाण है ? प्रमाण की प्रमाणतामें भी कुछ बुद्धि जाय, यह भी कैसे प्रमाण है ? तो यह तो इस तरहकी बात हो गयी कि जैसे किसीको क्योंका रोग लग गया। ऐसा रोग वाला स्वस्थ हो ही नहीं सकता। एक ऐसी घटना है कि एक पुरुषको क्योंकी आदत थी, हर बातमें क्यों-क्यों करता था। जैसे हमने ऐसा घर बनाया,····क्यों ?····छत गिर गई,····क्यों ?····पानी चू रहा,····क्यों ? यों हर बातमें क्यों-क्यों करनेकी आदत हो गयी थी। उस क्योंके पीछे उसे बीच-बीचमें बड़ा दुःखी भी होना पड़ता था। उसके मनमें आया कि मैं इस क्योंकी बीमारीको किसी दूसरेके सुपुर्द कर दूं तो अच्छा होगा। सो स्कूलके किसी विद्यार्थीसे कहा–बेटे हम तुमको १००) रु० देंगे

हैं तुम हमारा यह हर बातमें क्यों-क्यों करनेका रोग ले लो।····अच्छी बात। उसने सोचा कि चलो १००) रु० मिल रहे हैं, क्यों क्यों बोलनेमें क्या बात? अब वह विद्यार्थी जब स्कूल पहुंचा, मास्टरने पूछा—कहो बेटे! तुमने कलका पाठ याद कर लिया?····क्यों?···सुना दीजिए ····क्यों?····अरे क्यों क्या, बेंतोंसे पिटाई पड़ी। अब उस विद्यार्थीने सोचा कि यह क्योंका रोग तो हमें टालना चाहिए। सो वह एक वकीलके पास पहुंचा, बोला—ये १००) रु० लीजिए और हमारा क्योंका रोग ले लीजिए····अच्छी बात। कचहरी लगी थी, जजने कहा—बताइये वकील साहब! यह बात ऐसे क्यों?····क्यों?···नहीं बताइयेगा क्या? क्यों? बस मुकदमा खारिज कर दिया गया। वकीलने सोचा——अरे इस क्योंके रोगको तो हटाना चाहिए, सो किसी अस्पताल पहुंचा और एक मरीजसे कहा—भैया! हम तुम्हें १००) रु० देते हैं, हमारा यह क्योंका रोग ले लो, अपनी दवा-दारु उन रुपयोंसे कर लेना,····अच्छी बात। अब उस मरीजको जब दवा देने डाक्टर आया तो पूछा—अब कैसी तबियत है?····क्यों····अरे दवा लेना है कि नहीं लेना है?····क्यों?····अरे क्यों तो क्यों, चला गया डाक्टर। अब बताओ किसी बातको सिद्ध कर रहे हों, और कोई लगाये उसमें क्यों, जब आगममें ऐसा लिखा है तो आगम प्रमाण क्यों है?····बस उसकी बात आगे न चलेगी। वह तो एक दूसरा विषय हो जायगा। वहाँ आगमकी प्रमाणता सिद्ध हो जायगी, प्रमाण स्वतःसिद्ध हो जायगा। फिर यह क्यों नहीं लगाया जा सकता। आगम तो स्वतः प्रमाणभूत है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनिकी परम्परासे निकले हुए ये वचन गुथे हैं और उनमें जो तत्त्व भरे हैं, उनका बड़ा परिचय है, कि चूंकि भगवानकी दिव्यध्वनिके स्रोतसे यह कथन चला आ रहा है इसलिए जैसा बताया है वैसा जानना और फिर स्वतः प्रमाणभूत मानकर समझना है, वहां शङ्का न होनी चाहिए।

चतुर्मुख ब्रह्मासे आगत आगम द्वारा कर्मबद्ध जीवके दुःखकी ही सिद्धि—यहां बतला रहे हैं कि कर्मबद्ध जन्य जो दुःख है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है और आगमसे भी। आगम का अर्थ है आया, कहांसे आया?····सो कोई लोग तो कहते हैं कि आकाशसे आया, कोई कहते कि ब्रह्मासे आया, कोई और कुछ कहते। यों हर एक कोई अपनी-अपनी बात लगाते हैं। अब जिन लोगोंने ऐसा माना चलो उनकी भी बात ठीक मान लेते हैं, अरे ये सब शास्त्र आकाशसे ही तो आये, आकाश नामक पदार्थसे नहीं, किन्तु आकाशमें ५ हजार धनुष ऊपर अरहंत देव विराजमान हैं, वहांसे दिव्यध्वनि खिरी और यहां नीचे तक बात आयी। वहां गणधरोंने समझा, वहां आचार्योंने समझा, यहां हम आप लोगोंने समझा। तो यह सब आगम आकाशसे ही तो आया, और कहांसे आया? जो लोग कहते हैं कि ये शास्त्र ब्रह्मासे आये हैं और ब्रह्मा हैं चतुर्मुख, तो ठीक है, अरहंत देव भी चतुर्मुख हैं, उन्हींकी दिव्य वाणी तो ये

शास्त्र हैं। तो इस आगमकी प्रमाणताको माननेमें क्या हर्ज है ? यह तो वीतराग सर्वज्ञदेवके पिरूपणाके मूलसे आया है। तब ही तो शास्त्रके मंगलाचरणमें कहते हैं कि इसका मूल कारण सर्वज्ञदेव हैं और उत्तरकर्ता फिर आचार्य होते हैं, और उनकी परम्परासे आया हुआ धर्म है। तो ये शास्त्र वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत हैं। इस कारण स्वतः प्रमाण हैं, ऐसे स्वतः भूत आगमसे भी यह बात सिद्ध है कि कर्मबद्ध जीवके दुःख है।

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥३३७॥

स्वतः प्रमाणभूत सर्वज्ञवचनरूप आगमकी आज्ञारूपता—अबुद्धिपूर्वक दुःख अथवा कर्मबद्ध जीवके साथ सदा काल ही रहने वाला दुःख युक्तियोंसे सिद्ध करके उक्त श्लोकमें यह बताया था कि आगमसे भी यह सिद्ध होता है। उस ही आगमके सम्बन्धमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि सर्वज्ञदेवके वचनोंको आज्ञामात्र समझना चाहिए। उसीका नाम आगम है, आगमसे कर्मबद्ध जीवके दुःखकी सिद्धि की जा रही है। आगम स्वतः प्रमाण है क्योंकि वह सर्वज्ञदेवका वचन है। सर्वज्ञदेव साक्षात् स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे केवलज्ञानमय हैं, इससे बढ़कर और क्या बात होगी ? उनके निकले हुए जो भाव हैं वे तो परिपूर्ण स्वतः प्रमाण ही हैं। सर्वज्ञका जो वचन है उसको आज्ञा समझना चाहिए, जिस आज्ञामें कोई तर्क नहीं लगाया जा सकता, और आज्ञा उसकी मानी जाती है जो हितरूप हो, प्रमाणित हो। तो जो पहिलेसे प्रमाणित स्वभूत किया गया है उसकी जो आज्ञा है उस आज्ञाके अनुसार उस तत्त्वको मान लिया जाता है। भगवन्तकी आज्ञा है, उनके उपदेश वचन हैं, जो उदय है, जो फल है वही दुःख है, अर्थात् रसोन्मुख जो कर्मफल है सो साक्षात् दुःखरूप ही है। वहाँ भी सोच लीजिए कि जब मेरा स्वरूप आनन्दमय है तो उस आनन्दस्वरूपको प्रकट होनेके लिए किसी परकी अपेक्षा नहीं होती। वह स्वयं आनन्दमय है। अब आनन्दस्वरूप चेतनके साथ कोई विरुद्ध पदार्थ उपाधि लगी हो तो उस विरुद्ध उपाधिके सम्बंधके समय इस जीवकी कितनी विचित्र दुर्दशा हो जाती है, और कर्मका उदयमात्र इस जीवके लिए दुःखस्वरूप है।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्माणकायकाः।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥३३८॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, विग्रहगतिस्थ सर्व कर्मबद्ध प्राणियोंके दुःखकी निरन्तरता—इसका अभिज्ञान अर्थात् भले प्रकारसे स्पष्ट जानकारीकी बात तो यहीं मालूम पड़ रही है। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जितने जीव हैं ये सब कार्माण शरीर वाले हैं। इनके कार्माण शरीर सदा लगा हुआ है। अनादिकालसे लेकर अब तक इस जीवके कार्माण शरीर निरन्तर चला आया है और भले ही उन कर्मोंमें नवीन कर्म आये और

पुराने कर्म गए, लेकिन कार्माण शरीर तो वही चला आया। उसमें थोड़ा आना जाना रहा आया। ऐसा कार्माण शरीर इस जीवके साथ लगा है और तभी यह बात विषम स्थितिमें, दुःखपरिस्थितिमें यह अवस्थित है, और इतना ही नहीं कि ये एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव दुःखी हैं किन्तु जिनके द्रव्येन्द्रियां नहीं मिल सकतीं, मरनेके बाद विग्रहगतिमें हैं वे भी कार्माण कायवाले हैं और दुःखी रहते हैं। भेदज्ञानका प्रकाश, यह सम्यग्ज्ञान जिसको प्राप्त हुआ है बस वही कृतार्थ है। अब उसे इस जगतमें सताने वाली कोई शक्ति नहीं रही। पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश भोग सामग्रियाँ प्राप्त होंगी, पर उनमें ज्ञानी जीव लिप्त नहीं होता। उनसे निराले इस ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माको ही ज्ञानो निर्णयमें लिए हुए हैं, इस कारण बाह्य बातें उसे सता न सकेंगी। यों समझ लीजिए कि जिसको सम्यग्ज्ञान हो गया है, कुछ यथार्थ अपना बोध हो गया है तो उसके प्रबोधमें उसका सब फल आ जाता कि नहीं? जैसा क्रोध जरा-जरासी बातोंपर पहिले हो जाया करता था वैसा क्रोध अब तो नहीं आता, इसी प्रकार जैसे मान, माया, लोभ आदिक कषायें पहिले हो जाया करती थीं वैसे अब तो नहीं आतीं। तो यह किसका प्रताप है?····भेदज्ञानका। यही भेदज्ञान जिसके दृढ़तम हो जाता है और इस भेदज्ञानके फलमें सर्वपरविविक्त आत्माका ग्रहण होता है, ऐसे जीवके फिर विषय कषायोंकी बुद्धि कहाँसे आयगी? विषयकषाय ही इस जीवके लिए विपत्ति है, जन्ममरण उसका आधार है और यह जीव इस तरह दुःखी हो रहा है जन्ममरणके बीचमें कि जैसे कि किसी बाँसके पोरके बीच कोई कीड़ा बैठा हो और बाँसके ओर-छोरमें (दोनों ओर) आग लगी हो। ऐसी दशामें उस कीड़ेकी विह्वलताका क्या ठिकाना, ठीक इसी प्रकार इस संसाररूपी बाँसमें पड़ा हुआ यह प्राणी है। इसके दोनों ओर-छोरमें जन्म और मरणरूपी आग लगी हुई है, अब बताइये इस प्राणीकी विह्वलताका क्या ठिकाना? इस जन्म मरणके बीच भी क्लेशका अन्तर नहीं रहता कि इसे क्षणभर भी तो आराम मिल जाय। अगर यहाँसे मरण करके विग्रह गति में गया तो वहाँ भी इस जीवको आराम नहीं, दुःख है, घोर दुःख है, अबुद्धिपूर्वक दुःख है। लोग ऐसा अज्ञानवश कहा करते हैं कि जब किसी मनुष्यका मरण हो गया तो वह ३ दिन या १३ दिन तक यत्र तत्र भ्रमता फिरता है, उसे कोई ठिकाना नहीं मिल पाता, और जब पंडोंको जिमा देते हैं (खिला पिला देते हैं) तो बस उस जीवका ठिकाना हो जाता है, यह रूढ़ि चलायी है पंडोंने अपने भोजनके लिए, और ऐसी प्रसिद्धि कर रखी है, लेकिन उससे इतनी बात तो कुछ जाननेमें आ जाती है कि मरणके बाद जब तक कि जन्मस्थानपर जीव नहीं पहुंचता वह चाहे दो तीन समय ही क्यों न हो, वहाँ इतना घोर दुःख है कि जैसा लोग ३ दिन या १३ दिनकी बात कहकर दुःख बताते हैं। लो, जब तक वह भ्रमता है तब तक उसको बड़ी विह्वलता रहती है, तो वह है जीवकी विग्रहगति। इस विग्रहगतिका दुःख तो बहुत ही

कठिन है। अबुद्धिपूर्वक दुःख है। जब तक इस जीवास्तिकायके साथ यह कर्मबन्धन लगा हुआ है तब तक सारा ही वह जीवास्तिकाय उल्टसा गया है, उसे चैन कहाँ मिलती है? जहाँ ज्ञान के साधन भी हीन हो जाते हैं वहाँ तो इसके क्लेश बढ़े हुए होते हैं। तो कर्मबद्ध जीवोंके दुःख बना रहता है, इसका अभिज्ञान यह स्पष्ट है कि एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जीव सब दुःखमें पाये जा रहे हैं, क्योंकि शरीर वाले हैं ना, और विग्रहगतिमें रहने वाले जीव जो थोड़े समयको हैं वे ऐसी कार्माण काय वाले हैं अतएव दुःखी हैं।

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम्।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥३३६॥

घातिकर्मोदयाघातसे जीवदेशवधात्मक अनीहित दुःखका अभिव्यञ्जन—घातियाकर्मका उदय ऐसा आघात उत्पन्न करता है कि जीवके सारे प्रदेशोंमें मानो घात हो गया, ये सब गुण मथ गये, वहाँ गुण विपरीत परिणम रहे, यही दुःखका सूचक है। तो सारांश यह है कि घातिया कर्मका उदय ही दुःख है। अब जहाँ सर्वघातियाके उदयको ही दुःख बताया गया है तो अब उनमें समझ लीजिए—कुछ अन्तर तो यह है कि दर्शनमोहके उदयमें तीव्र उदय है। दर्शनमोह न रहे, चारित्र रहे तो वहाँ भी दुःख है, दर्शनमोह और चारित्रमोह न रहा, किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय रह गया तो यद्यपि बताया गया है कि वहाँ कोई दुःख नहीं है, क्योंकि मोहकर्म सब समाप्त हो गया है, मगर उस आत्मामें कुछ कमी ही तो है। उन शेष तीन घातिया कर्मोंके उदयमें, सो वह न्यूनता, इस जीवके लिए दुःखरूप हो रही है। तो घातिया कर्मोंका उदय सर्वदुःखरूप है, और यह तो इतनी ही बात है। खेदकी बात तो यह भी है कि अघातिया कर्म इस जीवके साथ रह रहे हैं, अरहंत अवस्था जीवके शुद्ध विकास होनेके कारण पूज्य मानी गई है। उत्कृष्ट है, मगर अब भी जो कर्मबन्ध होता है, अघातिया है क्या यह भी उत्कृष्टताकी बात है? उसे तो ध्वंस किया जायगा। परम उत्कृष्ट परम शुद्ध सिद्ध दशा प्रकट होती है। तो ये कर्म वैरी इस जीवके साथ लगे हैं, इनको उस तरहसे धुनना योग्य है जैसे कि एक रुई धुनता है। मानो आधा सेर रुईको धुनिया धुननेके लिए बैठा तो वह क्या करता है कि अपने ताकपर पहिले रुईको रखता है फिर उसे धुनकर अलग-अलग कर देता है। उन अलग-अलग हुए रुई-खण्डोंको फिर दुबारा, तिबारा अथवा चौबारा भी धुन धुनकर उसके लच्छे लच्छेको अलग-अलग कर देता है, फिर उस रुईमें रही सही छोटी मोटी फुटकियोंको भी धुन करके रुईको बिल्कुल निर्मल बना देता है, ठीक इसी प्रकार योगी जन उन कर्मोंको इस तरहसे धुन देते हैं कि जिससे फिर ये कर्म फटकने नहीं पाते। कर्मोंका धुनना यही है कि अपने ज्ञानबलसे जो भावकर्म है उनको निरन्तर छांट छांटकर धुनते रहना। उन भावकर्मोंको धुननेपर कर्म अपने आप धुन जायेंगे। जैसे लोकमें कहते हैं कि शत्रुका अंग भी

रह जाना बुरा है। एक राजा किसी शत्रुपर चढ़ाई करता है और उसका सब विध्वंस कर देता है, पर यदि उसके वंशमें कोई बच्चा भी जीवित है तो वह भी उस राजाके लिए बुरा ही है। (यह एक लौकिक बात कही गई है)। यहाँ इस तरहसे समझ लेना चाहिए कि ये कर्मबैरी इस जीवकी समस्त प्रकारकी विपदाओंके कारणभूत हैं। तो ये कर्मबैरी जरा भी न रहने चाहिएँ। यहां कोई बाहरी जीवकी बात नहीं कही जा रही, किन्तु अपने आपमें ही उदित होने वाले इन विषयकषायके भावोंकी बात कही जा रही है। नहीं तो कोई ऐसा समझे कि जैसे कि राजाने उस शत्रु राजापर जरा भी दया नहीं की, निर्दयी हो गया, ऐसे ही ये योगीश्वर भी निर्दयी हो गए। अलंकारमें कह लो कि हाँ वे योगीश्वर निर्दयी हो गए, क्योंकि उन्होंने समस्त प्रकारके कर्मशत्रुओंका विध्वंस कर दिया। तो ठीक है, अलंकाररूपमें उन्हें निर्दयी कह लो, पर वह योगीश्वरोंकी निर्दयता नहीं है, वह तो उनकी परम करुणा है।····किस पर?····अपने आपके कारणपरमात्म तत्त्वपर। जो कर्म उस आत्मतत्त्वके घातक हैं, जो उस पर अन्याय मचाये हुए हैं, जिनके कारण मैं स्वयं परमात्मतत्त्व नीच अवस्थाको प्राप्त होता हूं, वे कर्म, भावकर्म दूर किए जा रहे हैं। यह तो परम दयाकी बात हो रही है। यों समझिये कि जैसे किसीपर तूफानका उपसर्ग हो, यहाँ वहाँसे उड़ते हुए तमाम कंकड़ पत्थर लग रहे हों ऐसे पुरुषको उन कंकड़ पत्थरोंसे बचा करके एक आरामघरमें बैठा दिया जाय, उसको रक्षित बना दिया जाय तो यह तो उसकी एक परमदयाकी बात है, ठीक इसी प्रकार ये रागादिक अचेतन भाव जिसको पीड़ा दे रहे हैं उसे यदि इन रागादिक भावोंकी पीड़ासे बचाकर किसी आनन्दधाममें बिठाकर रक्षित कर दिया जाय तो यह तो उसकी एक परमदयाकी (करुणाकी) बात है। ये बद्धकर्म इस जीवको इस तरहसे घात रहे हैं कि जीवके सर्व प्रदेशोंमें बंध हो रहा है, मानो इसी भवमें इस तरह जब तक कर्मोंका उदय बना हुआ है तब तक जीवको दुःख ही है, उसे सुख न कहा जायगा। इस लोकमें सुख तो लोग दुःखकी कमीको कह बैठते हैं। दुःख जरा कम हुआ तो कम क्या हुआ? एक ओरके उपयोगकी बात गई, कमी हो गयी, मगर साथ ही दूसरा दुःख तो मान लिया गया। तो दुःखकी थोड़ी बहुत कमीको लोग सुख कह देते हैं, पर वास्तवमें वह दुःख ही हैं चाहे थोड़े अंशमें रहें। तो सभी कर्मबद्ध जीवों के निरन्तर दुःख ही रहता है।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥३४०॥
महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥३४१॥

कर्मोंकी दुःखहेतुता—यहाँ किसी जिज्ञासुकी एक जिज्ञासाका समाधान कर रहे हैं कि

यदि कोई सोचे कि कर्म दुःखके कारण नहीं हैं, यों यदि कर्मको दुःखका कारण न माना जाय तो फिर दुःखके कारणका और कोई उपाय ही नहीं है। फिर सिद्ध करिये कि ये जीव जो दुःखी हो रहे, विकल हो रहे, इनके दुःखका कारण क्या है? कोई गुस्सा होकर अपने आपमें जल भुन रहा है, कोई मान कषायमें आकर अपनेको ऐंठा कर दुःखी कर रहा है, माया लोभके रंगमें ये जो घुले जा रहे हैं तो इनके दुःखका कारण क्या है, सो तो बताओ। कर्मको दुःखका कारण तो माना नहीं इस जिज्ञासु ने तो और क्या बताओगे? जिसे बताओगे जो कुछ भी कहोगे वह होगी कोई सूक्ष्म बात। उसीका नाम कर्म रख लीजियेगा। किसी बाह्य उपाधिके सम्बन्ध बिना जीवको दुःख नहीं होता। तो कर्म दुःखका कारण है। कर्मको दुःखका कारण न माना जाय तो उसमें अनेक दोष आते हैं। वे दोष क्या हैं? यही तो दोष हैं। कारण तो कुछ है, माना नहीं और दुःखी हो रहे हैं जीव। तो जो अहेतुक बात है, बिना कारणके होने वाली बात है उसको दूर कैसे किया जा सकता है? तो यदि कर्मोंको दुःखका कारण नहीं माना जाता तब फिर इन जीवोंको दुःख कैसे होता? इसका कारण तो बताओ?

कर्मोदयाघातसे संज्ञी व असंज्ञी सभी प्राणियोंके दुःखका अभिव्यञ्जन एवं असंज्ञियों की संज्ञियोंसे भी अधिक दुःखविशिष्टता तथा निकृष्टता—अब यदि कोई ऐसा मानता है कि चलो कारण रहा इसके दुःखका कर्म, लेकिन संज्ञी जीवोंको ही दुःख है। यदि कोई ऐसा माने तो यह भी बात उसकी सत्य नहीं हो सकती। असंज्ञी जीवोंमें इन कीड़े मकोड़ोंको ही देखो ये कितने विह्वल होते हैं? किसी चींटीको या खटमलको छेड़ दिया जाय तो देखिये वह कितना विह्वल होकर यहां वहां तेजीसे भागता है? उसकी क्रिया यह नहीं सिद्ध कराती है कि इस जीवको बहुत दुःख होता है? तो संज्ञी जीव ही दुःखी हैं असंज्ञी नहीं, ऐसी मान्यता सत्य नहीं है और कदाचित् जिज्ञासु यह कहे कि चलो असंज्ञियोंके भी दुःख मान लो—लेकिन इतना फर्क है कि संज्ञियोंको तो बड़े दुःख हैं और असंज्ञियोंको कम दुःख हैं और यहाँ हम आप लोगोंको दिखता भी है कि अगर मनुष्य अधिक दुःखी हो गया तो कहो अपनी झोंपड़ी भी जला देया और भी न जाने क्यासे क्या अनर्थ करदे, पर यदि किसी पशु पक्षीको अधिक दुःख हो जाय या किसी कीड़ा मकोड़ाको अधिक दुःख हो जाय तो वह इतना अनर्थ करता हुआ नहीं देखा जाता है। और फिर इन पेड़ पौधोंको देख लो, इन आग, पानी आदि को देख लो ये तो कुछ भी दुःखी नहीं मालूम होते, अथवा उनके कोई दुःख है ही नहीं, तो इससे मालूम होता है कि संज्ञी जीवोंको बड़ा दुःख है और असंज्ञियोंको उनसे कम। तो इस के समाधानमें कहते हैं कि ऐसा सोचना भी गलत है, क्योंकि एक नीति है कि नीचस्थानसे उच्चस्थान श्रेष्ठ माना गया है। अब यह बतलाओ कि संज्ञियोंका उच्चस्थान है कि असंज्ञियों

का ? असंज्ञियोंका स्थान उच्च तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी दशा प्रत्यक्ष हम आप देख ही रहे हैं। हां यदि हठ करके आप असंज्ञियोंका स्थान उच्च मानते हैं तब तो फिर आप असंज्ञियोंके सिरताज जो एकेन्द्रिय हैं उनको सिद्धके समान कह डालिये। पर ऐसी बात तो है नही। इससे भी सिद्ध है कि असंज्ञियोंका स्थान संज्ञियोंकी अपेक्षा नीचा है। अब देखो—नीच पदसे उच्चकी श्रेष्ठता मानी गई है। सो यह सिद्ध हो गया कि संज्ञी जीवोंसे असंज्ञी अधिक दुःखी हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि असंज्ञी जीवोंको अपने दुःख प्रकट करनेके साधन विशेष नहीं मिले हुए हैं और इन संज्ञी जीवोंको दुःख प्रकट करनेके साधन विशेष मिले हुए हैं। एक साधन तो यही है कि संज्ञी जीव बोल लेते हैं, बात कर लेते हैं। यदि संज्ञी जीव दुःखी होगा तो वह अपने दुःखको व्यक्त कर देगा, किन्तु असंज्ञी जीव अपना दुःख दूसरोंको कैसे व्यक्त कर सकेगा ? यहाँ एक जीता-जागता उदाहरण ले लीजिये। जैसे कोई गाय बाहर बंधी है। वह धूपमें खड़ी हुई भूख प्यासकी वेदनासे पीड़ित हो रही है तो वह बेचारी गाय संज्ञी होकर भी अपने दुःखको सही तौरसे व्यक्त कहाँ कर पाती ? हाँ फिर भी रंभा कर दुःख व्यक्त कर देती, पर उसके दुःखको वही जाने। अथवा जैसे किसी मनुष्य को ही उसके मुँह, कान, नाक, आंख आदिक समस्त इन्द्रियोंको बन्द करके जमीनमें किसी गड्ढेमें गाड़ दिया जाय तो वह अपने दुःखको व्यक्त तो नही कर सकता, पर उसको क्या दुःख होता है उसका अनुभव वही कर सकता है। ठीक इसी प्रकारसे समझ लीजिए कि असंज्ञी जीवोंको अपने दुःख व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं मिली हुई है इससे वे अपने दुःखोंको व्यक्त नही कर पाते और हम आप उनके दुःखका अनुभव नहीं कर पाते, पर उनको क्या दुःख होता है उसका अनुभव वे ही करते होंगे।

असंज्ञियोंसे संज्ञियोंके विकासकी श्रेष्ठता—अब संज्ञी और असंज्ञीमें उच्चता नीचता का परिचय करनेके लिए उनके शारीरिक विकास पर भी कुछ ध्यान दें—इन पृथ्वी, जल, अग्नि आदिक जीवोंके आकार देखो—इनके हुंडक संस्थान है, और वह भी बेढब। जब जीव दो इन्द्रिय हुआ तो इसमें शरीरका भी कुछ विकास है। शरीर तो मिला, पर हाथ पैर आदि नहीं मिले। जब तीनइन्द्रिय हुआ तो पैर भी मिल गए। चारइन्द्रिय हुआ तो हाथ भी मिल गए, लेकिन वे हाथ मनुष्योंके जैसे निकले नहीं हैं, एक पंखके ढंगके है और पञ्चेन्द्रिय हुआ, पक्षी हुआ तो हाथ पैर भी मजबूत मिले मगर पंखके रूपमें ही हाथ मिले, और पशुओंमें बन्दर हुए तो देखो कैसे मनुष्यों जैसे हाथ पैर मिल गए, पर वे उन हाथ पैरोंका उपयोग मनुष्योंके ढंगसे नहीं कर सकते क्योंकि मनुष्योंकी जैसी बुद्धि उनमें नही है। अब मनुष्य हुआ तो इसके सम्पूर्ण अंग बन गए, सारी बात ठीक बन गई, बुद्धि भी मिल गई। तो प्रयोजन कहने का यह है कि असंज्ञियोंकी अपेक्षा संज्ञियोंमें शारीरिक दृष्टिसे भी विकास

अधिक है, आन्तरिक ज्ञानकी अपेक्षा भी विकास अधिक है। विकासका स्थान पतनके स्थान की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। अतः यह शंका मनमें कभी न लानी चाहिए कि संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुखी हैं। असंज्ञीका संज्ञीसे नीचा दर्जा है। अतः संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुःखी हैं। असंज्ञीका संज्ञीसे नीचा दर्जा है। अतः संज्ञियोंकी अपेक्षा असंज्ञी कम दुखी हैं, ऐसा सोचना मिथ्या है।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥३४२॥

सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर, और स्पर्शनादिक इन्द्रिय होनेके कारण शारीरिक और इन्द्रियज ही दुःख होनेके कारण अबुद्धिपूर्वक दुःखकी असिद्धिकी आरेका—मूल शंका यह चल रही थी कि जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक दुःख पाया जाता है और उसका हेतु दिया गया था सुखका अदर्शन। चूँकि इन जीवोंमें सुख नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध है कि इनमें दुःख है और जिनका दुःख स्पष्ट समझमें नहीं आता उनके अबुद्धिपूर्वक दुःख है, इस पर शंकाकारने फिर यह कहा था कि अबुद्धिपूर्वक दुःख तो कोई होता ही नहीं है। जितने भी दुःख होते हैं वे शारीरिक हों, मानसिक हों, इन्द्रियज हों, इनको छोड़कर अन्य कोई दुःख नहीं होता। तब यह समाधान दिया गया था कि जो एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं, सूक्ष्म जीव हैं उनमें भी दुःख पाया जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई अबुद्धिपूर्वक दुःख होता है। इस समाधानके प्रतिशंकाकार अब यह कह रहे हैं कि जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं उनमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां तो पायी जाती हैं शरीर पाया जाता है तब उनको भी जो दुःख हुआ है वह शरीर के कारण हुआ है, इन्द्रियके कारण हुआ है। शरीर और इन्द्रिय, मनके अतिरिक्त अन्य कोई दुःख नही होता है। तो शंकाकार अपनी मूल शंकाके दिये गए समाधानके उत्तरमें कह रहा है यह कि अबुद्धिपूर्वक दुःख और कुछ नहीं है। जो भी दुःख है वह शारीरिक है, इन्द्रियज है, मानसिक है। जो एकेन्द्रिय आदिक जीवोंको बात कहकर अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। वह युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ शरीर पाया जा रहा है, इन्द्रियाँ पायी जा रही हैं। अब इस शंकाके समाधानमें कह रहे हैं—

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥१३४३॥

विग्रहगतिस्थ जीवके शरीर और इन्द्रिय न होनेपर भी दुःखका सद्भाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहा जा रहा है कि यदि केवल शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जाय ? यहाँ शंकाके उत्तरमें कह रहे हैं इसलिए दो दो की बातें कही हैं। यदि केवल शारीरिक और इन्द्रियजन्य दुःखको ही दुःख माना जाय, इसके

अतिरिक्त और कोई दुःख माना ही न जाय तो जरा यह तो वतलाओ कि जिस जीवने मरण किया है और जन्मस्थानको जा रहा है, विग्रहगतिमें है तो विग्रहगतिकी दशामें पूर्व शरीर तो है यही, उत्तर शरीर ग्रहण नहीं किया तो उस समय न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं तो क्या उसे दुःखी न कहेंगे ? क्या वह प्रभु सिद्धकी तरह सुखी बन जायगा ? अरे विग्रहगतिमें भी बहुत क्लेश हैं, वह तो अबुद्धिपूर्वक दुःख हैं । तो केवल शरीर और इन्द्रियजन्य ही दुःख नहीं है, किन्तु कर्मबद्ध जीवके घातियाकर्मोंके उदयकी आफतके कारण सर्वप्रदेशोंमें महान दुःख निरन्तर पड़ा रहता है । इस कारण यह हठ न करें कि शारीरिक, इन्द्रियज और मानसिकके जो दुःख हैं, जो अनुभवमें आ रहे हैं वे ही दुःख हैं, इनके अतिरिक्त अन्य कोई दुःख नहीं हैं । यह निर्णय रखना चाहिये कि जब तक जीवके साथ कर्मबन्धन है तब तक इस जीवके निरन्तर ही क्लेश रहा करते हैं ।

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥३४४॥

विग्रहगतिस्थ जीवके कार्माणशरीरके कारण दुःख बतानेपर प्रकृत कर्मोदय हेतुक दुःखकी सिद्धिका समर्थन—अब शंकाकार यह कह रहा है कि जो विग्रहगतिका उदाहरण देकर समाधान दिया गया है कि देखो–विग्रहगतिमें जीवके न शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं, फिर भी दुःख ही रहे, इस कारण शरीर और इन्द्रियसे भिन्न कोई दुःख हुआ करता है । इसके उत्तरमें शंकाकार यह कह रहा है कि देखिये—जब विग्रहगतिमें जीव रहता है तो वहाँ कार्माण शरीर तो है, फिर कैसे उनके शरीरका अभाव कहा जायगा ? इसीसे विग्रहगतिमें भी दुःखी रहते हैं । विग्रहगतिमें भी जो जीव दुःखी रहा वह शरीरजन्य दुःखसे दुःखी रहा और वह शरीर है कार्माणशरीर, इस कारण शरीरजन्य दुःख विग्रहगतिमें भी है । शरीर इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ दुःख ही दुःख है, अन्य कोई दुःख नहीं है, यह बात फिर निर्बाध सिद्ध हो जाती है । कार्माणशरीर वाले विग्रहगतिमें रहने वाले जीवके साथ अव्याप्ति दोष नहीं दिया जा सकता कि शरीर तो वहाँ नहीं है और दुःख पाया जा रहा है । शरीरजन्य दुःख ही वास्तव में दुःख है । इसकी व्याप्ति तब ही तो बनती है कि जहाँ-जहाँ शरीर हो वहाँ-वहाँ ही दुःख है । जहाँ शरीर नहीं वहाँ दुःख नहीं । तो विग्रहगतिमें औदारिक वैक्रियक स्थूल शरीर नहीं है लेकिन कार्माणशरीर तो है ? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि बहुत ठीक कह रहे हैं शंकाकार कि विग्रहगतिमें कार्माण शरीर है सो कार्माण शरीरका अर्थ क्या है ? कर्म, तो यही तो रहा कि कर्मके कारण दुःख है । तो कर्मबद्ध जीवके निरन्तर दुःख है तथा कहीं बुद्धिपूर्वक दुःख है और अबुद्धिपूर्वक दुःख तो सर्व संसारियोंमें है, इसमें कोई संदेह नहीं रहा । जब औदारिक आदिक स्थूल शरीर होते हैं तब भी कर्मके कारण दुःख है और जहां

औदारिक आदिक स्थूल शरीर नहीं हैं वहाँ भी कर्मकी वजहसे दुःख है और जो मूल सिद्धान्त कहा उसका प्रतिकार शङ्काकारने किया, इसलिए यह बात सिद्ध हो गयी कि कर्म ही दुःख देने वाला है।

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम्।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥३४५॥

कर्म और नोकर्मके छूट जानेपर ही जीवके वास्तविक सुखकी उपलब्धि—दुःखके सम्बंधमें बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया कि दुःख होता है कर्मबन्धनके कारण। कर्मबद्ध जीवके शाश्वत दुःख रहता है, बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक ही हो, अतः कर्मसम्बंध हेय है। कर्मबन्धसे दुःख होता है—यह बात बतानेके पश्चात् अब यहाँ यह कह रहे हैं कि वास्तविक सुख क्या है और वह कहाँ होता है? इसका वर्णन करके ग्रंथकार संकेतमें कहते हैं कि देखो दुःखका जो वर्णन किया गया है उसी वर्णनसे ही सिद्ध हो जाता है कि सुख क्या है और सुख कहाँ है? सुख क्या है? जहाँ अनाकुलता है। दुःख क्या था?....जहाँ आकुलता थी, व्याकुलता थी, सर्व जीव प्रदेशोंमें विह्वलता थी, वह तो दुःख था, और वह जहाँ न रहा बस वही सुख है अर्थात् व्याकुलता न रहे, आकुलता ही न हो, इसका नाम सुख है और यह सुख मिलता कहां? और कब है? तो बतलाओ दुःख मिलता क्यों था और कब था?....उसका जो उत्तर होगा वह इसका प्रतिपक्ष उत्तर हो जायगा—दुःख हो जायगा कर्मबन्धनमें, तो उत्तर हुआ कि कर्मबंधन न रहे, कर्मका सम्बंध हट जाय तो सुख हो जाय। तो दुःख कहाँ हो जाता है? संसार अवस्थामें, जन्ममरणसे परिपूर्ण अवस्थामें। यही परिवर्तन उसमें हो रहा था, तो सुख कहां होगा? जहाँ जन्ममरण न रहा, परिवर्तन न रहा वहाँ सुख होगा। तो तात्पर्य यह निकला कि जब जीवके कोई प्रकारके कर्मोंका बन्धन नहीं रहता तो उसको निराकुल सुख प्राप्त होता है और वह है सुख निराकुलता रूप। इसका अर्थ यह न लेना कि आकुलताका अभाव होना सो सुख है अर्थात् उसे मात्र सुख है, सुख कोई सद्भावात्मक नहीं है, किन्तु आकुलतायें न रहें इस शून्यका नाम आनन्द है तो आनन्द शून्य नहीं है। यह तो उस आनन्द की तारीफ की गई है कि वहाँ आकुलता नहीं है, पर आकुलता के अभावका नाम सुख है सो बात नहीं, किन्तु सुख है एक परम आल्हाद रूप। वह सुख कहां है—ऐसा पूछा जानेपर दुःखकी ओरसे बताया जायगा कि जहाँ दुःख नहीं है बस ऐसा है वह आनन्द। तो महान दुःख (अनंत दुःख) था इस संसार अवस्थामें, पर वह अब नहीं रहा, बस आनंदगुणकी शुद्ध अवस्था प्रकट हो गयी। जहाँ आकुलता नहीं वहाँ सुख है क्योंकि वहाँ कर्म नोकर्म तक बिल्कुल दूर हो चुके हैं।

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयत कथम् ॥३४६॥

इन्द्रियजज्ञान और सुखकी दोषबहुलताके कारण हेयता--इस श्लोकसे पहिले उक्त प्रसंगमें यह सिद्ध किया गया था कि संसारी जीवोंको शाश्वत दुःख है और अबुद्धिपूर्वक दुःख तो निरन्तर लगा ही हुआ है । जिन जीवोंको वैषयिक सुखोंमें सुख मालूम होता है उनके भी दुःख निरन्तर चल रहा है और वे उस ही दुःखकी वेदनासे त्रस्त होकर विषयसाधनोंकी खोज करते हैं और विषयोंको भोगते है । भोगनेका कारण दुःख है । भोगते समयमें भी तृष्णाके कारण दुःख है, भोगनेके बाद भी दुःख है, यह तो संज्ञी जीवोंमें स्पष्ट मालूम होता है, किन्तु जो असंज्ञी जीवमें एकेन्द्रिय आदिक हैं उनमें भी दुःख पाया जाता है और जिन जीवोंके देह नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु कर्म लगे हैं, ऐसे विग्रहगतिके जीवके न कुछ शरीर मिला, न अंगका शरीर रहा, किन्तु एक कर्म है वही उनके शरीर हैं, ऐसे विग्रहगतिके जीव भी निरन्तर दुःखी हैं, ऐसे दुःखपूर्ण संसारमें विश्राम आराम मौज क्या लेना ? इनसे निवृत्त होनेमें ही श्रेय है, और फिर साथ ही पहिले यह भी बताया गया था कि जिस इन्द्रियज्ञानपर हम आप इतराते हैं, जिसपर अपनी बड़ी चतुराई समझते हैं, और जिस ज्ञानके आधारपर विकल्प करके विकल्पोंका आग्रह किया करते हैं वे सब इन्द्रियज्ञान हेय हैं, क्यों हेय हैं ? तो प्रथम बात तो यह है कि वह इन्द्रियज्ञान बहुत कम जानता है और बड़ी पराधीनतासे जानता है । उसमें कितने दोष है ? तो पहिली बात यह कही कि इन्द्रियजज्ञान केवल मूर्त पदार्थोंको जानता है, और मूर्तमें भी स्थूलको जानता है और स्थूलमें भी ग्राह्यको जानता है । वहां भी सन्निहितको जानता है, जो सामने हो, इतनेपर भी जब इन्द्रिय और पदार्थका योग्य सन्निधान, सन्निकर्ष हो तब जानता है, और इतनेपर भी वर्तमानको ही जानता है, भूत भविष्यको नहीं जानता, और वर्तमानमें भी सबको नहीं जानता, कुछको जान पाता है । जैसे चक्षुइन्द्रियसे जाना तो रसभर जान पाया और कुछ नही समझ पाया और इतना भी जो कुछ जान पाता है वह भी एक बड़ी पराधीनतासे जान पाता है । उसमें क्षयोपशम होना चाहिए, फिर उपयोग होना चाहिए और उपयोग होनेके लिए पञ्चेन्द्रिय कर्म या मानसिक कर्म भी होना चाहिए, उसके लिए बन्ध होना चाहिए । बंध भी कर लिया तो अब कोई झोंका ऐसा नहीं आया कि उसका संक्रमण बन जाय, तो उसका सत्त्व रहना चाहिए, इतना होनेपर भी उपयोग उस तरह हो तब ज्ञान होगा, और इतनेपर भी बाह्य साधन मिले हुए हों तब ज्ञान होगा । प्रकाश भी मिला हुआ हो और तद्विषयक ज्ञानका संस्कार भी चल रहा हो तब जाकर ज्ञान होता है । इन कारणोंमें से कोई भी कारण कम हो तो नहीं होता है, यह तो है हमारे इन्द्रियज्ञानकी

अज्ञताकी बात । उसमें दोष और भी देखिये—यह इन्द्रियज्ञान निकृष्ट ज्ञान है, एक दुःखमय ज्ञान है । विकल्पोंका साधन यह इन्द्रियज ज्ञान बन रहा है, ऐसे इन्द्रियज ज्ञानमें विश्राम न लेना चाहिए । जैसे ये इन्द्रियज ज्ञान हेय हैं इसी तरह ये इन्द्रियजन्य सुख भी हेय हैं । जो अध्रुव हैं, विषम हैं, क्षणिक हैं, अपवित्र हैं, अपूर्ण हैं, ऐसे इन इन्द्रियज सुखोंमें क्या विश्राम लेना ?

केवल आत्मद्रव्यकी दृष्टिमें शुद्ध ज्ञान और सुखका अभ्युदय—आत्माका आनन्द तो आत्माके स्पर्शमें, आत्माकी, दृष्टिमें, विशुद्ध आत्मद्रव्यमें है । विशुद्धके मायने यहाँ अरहंत सिद्ध नहीं, किन्तु जब मैं सत् हूं तो अपने आप केवल तो जरूर हूं, ऐसा जो पदार्थ होता है वह केवल होता है, फिर उससे सम्बंध बन जाय, उसकी पर्याय हो, विघात हो, पिण्ड हो, कुछ हो, लेकिन सत् जो भी होगा वह नियमसे केवल ही होगा । केवल होकर ही वह सदा रह सकता है, दूसरेसे मिलकर स्वरूपमें एक होकर कोई सत् नहीं रह सकता । तो जब मैं सत् हूं तो सबमें केवल हूं । अब जो वह मैं केवल हूं बस उसकी दृष्टि करना उसीको कहते हैं शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टि । तो ऐसे अपने आपमें हमने अपने केवलको नहीं परख पाया, यही कारण है कि इसकी इतनी विडम्बनायें बन रही हैं, इतने जन्ममरण करने पड़ रहे हैं, और बाह्य-विकल्पोंमें हम लीन हो रहे, ये सब अनर्थ हो रहे । तो इन सब झंझटोंसे मुक्त होनेका उपाय है केवलदृष्टि, अपने आपको केवल निरखना । व्यवहारमें भी देखते हैं कि जब कोई बड़ा झगड़ा हो जाता है तो उस समय लोग उन सबसे अलग होकर अपने घरको सम्हालते हैं, और जब घरमें झगड़ा हो जाता है तो कहते हैं कि अरे घरके इन लोगोंसे हमें कोई मतलब नहीं, इन्हें जो करना हो करें । हमें तो अपने आपकी सम्हाल करना है । अब यहाँ देखिये—अपने आपके अन्दर आकुलताओंका विकल्पोंका झगड़ा मच रहा है, तो यहाँ हमें क्या चतुराई का काम करना है जिससे रक्षा हो सके ? तो चतुराईका काम यही है कि इन समस्त प्रकार की उपाधियोंसे हटकर अपने कैवल्यस्वरूपकी ओर आयें । सभी जगह आप देख लो—जितना जितना केवलकी ओर आना होता है उतना उतना उसकी आकुलतायें दूर होती जाती हैं । तो ऐसे इस केवलकी दृष्टि किए बिना इन्द्रियजन्य सुखोंमें यह जीव लीन हो रहा है, जिसके कारण इसे बहुत दुःखी होना पड़ रहा है ।

देह और इन्द्रियका अभाव होनेपर सिद्धात्माके सुखके सद्भावमें शंकाकारकी आशंका—उक्त प्रकरणको सुनकर यहाँ शंकाकार यह शंका कर रहा है कि यह जो कहा गया है कि सुख तो शुद्ध अवस्थामें ही है, जहाँ कर्म नहीं रहे, नोकर्म नहीं रहे, आकुलतायें नहीं रहीं, वहाँ ही परम आनन्द है । तो हमें शंका है कि जहाँ शरीर न रहा, इन्द्रियाँ न रहीं वहाँ सुख कैसे

होता होगा ? शंकाकार सुखको तो मान रहा कि सुख कोई चीज है और यह भी समझ रहा कि सुख आत्माकी चीज है, यह भी जान रहा कि सुख आत्मासे ही होता है, मगर यह भी साथमें उसके चित्तमें आग्रह पड़ा हुआ है कि आत्माका मुख होता है देह और इन्द्रियके सद्भाव में, यहाँ देह और इन्द्रिय हैं, उसी साधनसे यहाँ आनंद हो रहा है। जैसे कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि चित्तक्षण जरूर है, ज्ञानक्षण जरूर है, लेकिन उसकी उत्पत्ति होती है तो वाह्य पदार्थसे होती है और उसका सारूप्य जो होता है वाह्य पदार्थकी तरहसे होता है, पर ऐसा जव कोई कुछ दार्शनिकतासे सोचता है तो लगता ही ऐसा है कि ज्ञान जव वना है आत्मामें तो ज्ञानकी मुद्रा क्या रही ? वह मुद्रा रही जो वाह्य पदार्थकी है। तो सारूप्य वन गया, और वाह्य पदार्थोंका जव ज्ञान वना तव आँखोंसे वना, सो आँखोंसे ज्ञान पैदा हुआ। यों अर्थोंसे अर्थोंके आकारक ज्ञान हो गया तो वाह्य पदार्थोंसे ज्ञान सारूप्य हुआ। जैसे दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि इस तरह शंकाकार यह मान रहा है कि मुख जितने होते हैं वे देह और इन्द्रिय से होते हैं। देह और इन्द्रियके विना सुख हो ही नहीं सकते। इसी भावको लेकर यहाँ शङ्का की जा रही है कि परमात्मामें यह वात प्रसिद्ध है कि देह और इन्द्रियका अभाव और उस देह इन्द्रियके अभावमें सुख और ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

न तद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः मिद्धस्य साधनम् ॥३४७॥

ज्ञान और सुखकी सिद्धिमें देह और इन्द्रियकी अप्रमाणता वताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—शङ्काकारने यह कहा कि ज्ञान और सुखकी सिद्धिमें इन्द्रिय और देह प्रमाणभूत नहीं हैं अर्थात् इन्द्रिय और देहके विना भी ज्ञान और मुख हुआ करता है। अतीन्द्रिय और अशरीरपना ही मुखकी सिद्धिमें कारण है। इसी वातको आगे वहुत खुलासा करके कहेंगे। यहां इतना संकेत किया है कि ज्ञान जो हो रहा है, जहां हो रहा है वह इन्द्रिय और शरीर को ग्रहण किए विना हो रहा है अर्थात् ज्ञानइन्द्रिय और देहके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको ग्रहण किए विना केवल आत्मामें हुआ करता है। इस कारणसे ज्ञानकी सिद्धि इन्द्रिय और देहसे नही होती है। भले ही किन्हीं परिस्थितियोंमें देह और इन्द्रियमें ज्ञानकी उत्पत्ति कारणभूत है, साधन है, लेकिन एक दृष्टिसे साधन भी हो रहे हैं और एक दृष्टिसे ये वाधक भी हो रहे हैं। इन्द्रिय और देह न हों तो इस ज्ञानको प्रकट होनेमें सर्व ओरसे इसके विकासकी वात आती है तो ये किसी दृष्टिमें साधन भी हैं और किसी दृष्टिमें वाधक भी हैं। इन्द्रिय और देहसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं है, इसी तरह इन्द्रिय और देहसे आनन्दकी उत्पत्ति नहीं है। जैसे देह, इन्द्रिय किसी-किसी आनन्दमें साधन वन जाते हैं, लेकिन वे विकृत आनन्दके साधन हैं, वास्त-

विक आनन्दके तो ये बाधक ही हैं, तो इन्द्रिय और देह यहाँ सुखकी सिद्धिमें कारण नहीं हैं, इसके विना ही ज्ञान और सुखकी सिद्धि हुआ करती है। इसी बातको युक्तिपूर्वक सिद्ध कर रहे हैं।

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥३४८॥

शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुखकी सिद्धिका प्रयोग—सभी जीवोंके ज्ञान और सुख आत्माके उपादानसे ही प्रकट होते हैं। यहाँ भी देखा ही जा रहा है। हम आप लोगोंके कि किसीके भी जिसके एक देश ज्ञान सुख प्रकट होता है और होता है परका आश्रय छोड़कर केवल अपने आत्मस्वभावके आश्रयसे तो उनको भी यह स्वाद आता है कि ज्ञान और सुख तो आत्मासे स्वयं स्वतः प्रकट होते हैं, हां जब आवरण लगे हैं और उसमें बाधा पड़ रही है तो जैसे-जैसे बाधा दूर होती है वैसे ही वैसे ज्ञान और सुख प्रकट होता है। बाधाके अभावमें सुख प्रकट होता है, लेकिन मोही जीव यह जानते हैं कि बाधाका अभाव है तो पदार्थके सद्भावरूप है इसलिए वे सद्भावसे सुख मानते हैं, ज्ञान मानते हैं, वस्तुतः इन्द्रिय देह आवरण किसीके सद्भावसे सुख नहीं होता। सुख और ज्ञान आत्मामें अपने आपके उपादानसे हुआ करते हैं। जब यह बात कोई जान लेगा कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, स्वरूप हैं तब उसे यह स्वीकार करनेकी आपत्ति न आयगी कि ज्ञान और आनन्द आत्मामें आत्मासे प्रकट होता है। जैसे देह और इन्द्रिय नहीं रहे उनके अनन्त आनन्द प्रकट होता है, थोड़ा कोई इतना भी विचार ले कि मानो हुए वैषयिक सुख इन्द्रिय और देहके इस सम्बंधमें, लेकिन ये सुख कब तक रहेंगे और इनसे कहां तक पूरा पड़ेगा ? और जिस कालमें ये सुख मिल रहे हैं उस काल में जो मोह बस रहा है, अज्ञान बस रहा है, इतनी बड़ी वेदना जो भीतर चल रही है, उस भीतरी तीव्र वेदनाके ऊपर थोड़ा ये वैषयिक सुख मिले हैं सो सुख नहीं हैं, किन्तु वेदनाको बढ़ानेके लिए एक लालच मिला हुआ है। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्तिके बड़ा पुण्यका उदय है, यह बड़े मौजमें है, पर यदि वह मोही है, अज्ञानी है और उस पुण्योदयकी अवस्थामें अपने को सुखी मानता है तो वह सुख नहीं मानता, वह तो एक ऐसा लालच है कि जो उसको दुःख को बढ़ानेका ही साधनभूत बन रहा है। जैसे कि कभी किसी गांवमें अथवा नगरमें हैजाकी बीमारी आ जाती है तो वहांके लोग यह समझ लेते हैं कि इन कुत्तोंके कारण हैजा फैला है तो क्या उपाय करते हैं कि नगरपालिकाकी ओरसे कोई जहरीली दवा सुन्दर भोजनमें मिलाकर कुत्तोंके सामने वह भोजन डाल देते है, वे कुत्ते सुन्दर स्वादिष्ट भोजन समझकर उसपर टूट पड़ते हैं और उस भोजनको खाकर मरणको प्राप्त हो जाते हैं, ठीक इसी तरह समझिये कि ये सांसारिक सुख रम्य प्रतीत होते हैं, जिनमें रमकर ये संसारी प्राणी अपना जीवन बर-

बाद कर देते हैं। तो इन इन्द्रियज सुखोंमें क्या सुख माना जाय ? ये तो दुःखरूप ही हैं।

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ।।३४९।।

ज्ञान और आनन्दका द्रव्योपजीवित्व व आत्मधर्मत्व होनेसे देहेन्द्रियादिका अभाव होने पर भी उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दके सद्भावकी सिद्धि—अब आत्माका अन्तः विचार करिये तो यह विदित होगा कि ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, स्वरूप हैं, स्वभाव हैं। जैसे केलों का पेड़ क्या है ? केवल पत्तोंका समूह। भीतरमें कोई स्कंध तना न मिलेगा, किन्तु वे जो पत्ते हुए हैं वे ही सघन हो होकर इतने मोटे हो जाते हैं। उन पत्तोंको छीलने लगें तो वहां ठोस चीज कुछ न मिलेगी। इसी तरह इस स्वरूपकी बात है। जिसका जो स्वरूप है उसे निकालकर अगर फेंक दिया जाय तो उसकी सत्ता नहीं रह सकती। पुद्गलका स्वरूप रूप, रस, गंध, स्पर्श है अब उनमेंसे उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श उखाड़कर फेंक दें (कल्पनासे फेंकने की बात कह रहे हैं, वैसे फेंके नहीं जा सकते) तो फिर वहां पुद्गलमें स्कंध क्या रहेगा ? ऐसी कल्पना करो कि आत्मामें अनन्त गुण कहे गए हैं शास्त्रोंमें, तो कोई यह सोचे कि वे अनन्त गुण हैं, उनमें से दो गुण ज्ञान और (आनन्द) हटा लें, बाकी और अनन्त गुण बने रहने दें, तो यह बात न हो सकेगी। वे अनन्त गुण तो इन दो (ज्ञान और आनन्द) गुणोंको राजा बनानेके लिए ही बन रहे थे, अब इन दो गुणोंको अलग कर दिया तो आत्मामें रहा क्या ? आत्माका स्वरूप क्या रहा ? ज्ञान भी न रहा, आनन्द भी न रहा। अस्तित्व वस्तुत्व आदिक जो आत्मामें गुण हैं, ये साधारण गुण भी तो असाधारण गुणके बलपर अपना विलास किये हुए हैं, किसी भी पदार्थमें यदि असाधारण गुण न हो तो साधारण गुण रह भी सकते हैं क्या ? नहीं रह सकते। असाधारण गुण है उसीकी महिमाका वर्णन करनेके लिए साधारण गुणोंके रूपमें बात कही जा रही है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्माके ज्ञानानन्दस्वरूप असाधारण धर्मके अवश्यास्तित्वका समर्थन—जैसे आवान्तर सत्त्व और महासत्ता। महासत्त्वकी प्रतिष्ठा आवान्तर सत्ताके आधारपर है। मानने कोई ऐसा स्वीकार करे कि महासत्ता है, आवान्तर सत्ता नहीं है, तो बतलाओ फिर वह महासत्ता क्या चीज है ? तो महासत्त्व या जाति जैसे व्यक्तिपर ही जीवित है ऐसे ही साधारण गुण, असाधारण गुणोंके मिलनेपर उनके बलपर ही प्रतिष्ठा पाते हैं, तो आत्मामें अनन्त गुण क्या हैं ? ये आत्माके जो असाधारण गुण हैं—ज्ञान और दर्शन, इनके बलपर ही वे और शक्तियां पायी जा रही हैं। जैसे आत्मामें अनेक शक्तियां बतायी गई थीं वे सब असाधारण गुणके बलपर ही अस्तित्व रखती है, जैसे त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति, बाह्य पदार्थका कुछ यह उपादान न ले सके, ग्रहण न कर सके और अपने आपके स्वरूपका यह त्याग न कर

सके ऐसी एक इसमें शक्ति पड़ी है। इस शक्तिको चाहे आत्मामें अच्छी तरहसे बाँध दो, हम तो केवल ज्ञान और आनन्द शक्तिको खोज रहे हैं। आत्मामें ज्ञान और आनन्द शक्ति नहीं है, गुण नहीं है और यह त्यागउपादानशून्यत्वशक्ति रहे तो अब यहाँ क्या रहेगा? किसका त्याग नहीं हो सकता, किसका ग्रहण नहीं हो सकता? जब आवान्तर सत्त्व ही न रहे तो ऐसी ये समस्त शक्तियाँ क्या इनका स्वरूप बन सकेगा? मानना होगा कि प्रत्येक पदार्थमें असाधारण गुण हुआ करता है। तो आत्मामें असाधारण गुण है ज्ञान और आनन्द। जिसका जो स्वरूप है उसको अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा रखनेके लिए किसी परकी कृपा न चाहिए। किसी परके आधारसे वस्तुका स्वरूप सत्त्वको प्राप्त नहीं होता है। तो जब आत्मामें ज्ञान और आनन्द धर्म हैं, तो वे नित्य हैं और आत्माके उपजीवी गुण हैं। जैसे अग्निकी उष्णता कभी खत्म नहीं हो सकती। दृष्टान्तमें जितनी बात कही गई उतनी मानना चाहिए। कोई कहे कि लो आगमें पानी डाल दिया तो बस उसकी उष्णता खतम हो गई, तो उसकी बात न मानी जायगी। जब अग्नि खतम हो गई तभी उष्णता खतम हो गयी। यदि अग्नि है तो वह नियमसे उष्ण है। ऐसे ही समझिये कि जब तक जीव है तब तक ज्ञान और आनन्द जरूर रहेगा, और जब उस पर्यायमें (वर्तमान पर्यायमें) जीव न रहेगा तब भी ज्ञान और आनन्द जरूर रहेगा। अग्नि तो एक पर्याय है, वह मिट गई। जीव यहाँ द्रव्य है, यह कभी मिटेगा नहीं। तो जीवका उपजीवी गुण है ज्ञान और आनन्द, तो ज्ञान और आनन्दका कभी भी अभाव नहीं हो सकता, और इसी कारण शरीर और इन्द्रियके अभावमें भी आत्माके ज्ञान और आनन्दका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और आनन्द आत्माके उपजीवी गुण हैं, शाश्वत, सदाकाल रहने वाले गुण हैं, इस कारण कोई परद्रव्य न इसके साथ हो तो ये ज्ञान और आनन्द मिट जायेंगे, यह बात कभी नहीं हो सकती, बल्कि परद्रव्य साथ लगा है तो उसके ज्ञान और आनन्दमें बाधा है। यह दूर हो जायगी तो ज्ञान आनंद निर्बाधरूपसे भली-भाँति विकसित हो जायेंगे।

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोगुणलक्षणात्।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं बिना ॥३५०॥

ज्ञान और आनन्दकी आत्मधर्मता होनेसे देह और इन्द्रियके बिना उद्भूति—ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, यह बात भली-भाँति सिद्ध है, क्योंकि इनमें गुणका लक्षण पाया जा रहा है। गुण कहते हैं—गुण्यते भिद्यते अनयन स गुणः। एक गुण अखण्ड सत् जिसके द्वारा भेदा जाय उसे कहते हैं गुण। भेदनेका अर्थ यह है कि वस्तु तो एक अखण्ड है, पर उसका जब हम प्रतिबोध करनेके लिए कुछ समझायेंगे तो उसमें कुछ हम भेद करके ही समझायेंगे। जैसे आत्मा जो है एक ज्ञायकस्वभाव, जिसे शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता, ज्ञायक शब्द द्वारा भी वास्तवमें कहा नहीं जा सकता, और कुछ कहना तो चाहा, रख दिया रूढ़िमें

इस शब्दको कि यह है आत्माका वाचक, क्यों नहीं कहा जा सकता वचनोंसे कि जितने भी वचन होते हैं वे एक अर्थको लिए हुए होते हैं। शब्दोंमें सर्वज्ञदेवका बतानेका सामर्थ्य नहीं है। ज्ञायक कहा तो उसका अर्थ जानने वाला ही तो रहा और जानन एक गुण रहा तो शब्द वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता, यह सब व्यवहारसे ही प्रतिपादन नहीं कर सकता। यह सब व्ययहारसे ही प्रतिपादन होता है। खैर, उस सद्भूत व्यवहारसे भी प्रतिपादन चला तो वहाँ भी शक्तियोंका, ज्ञानोंका भेद करके कहा जाय उसका नाम गुण है किन्तु ऐसा भेद कि द्रव्यके समान शाश्वत हो और अनादि अनन्त हो उसे कहते हैं गुण। तो ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, गुण एक है एक वह चिद्द्रव्य, ज्ञान और आनन्द द्वारा विभक्त करके बताया गया है, इस कारणसे ज्ञान आनंद आत्माके धर्म हैं और इसी कारण जिस किसी भी अवस्थामें कोई जीव हो, उसका जो भी ज्ञान और आनंद जगता है सो देह और इन्द्रियके बिना ही जग रहा है चाहे वह संसारी जीव हो, देव हो, मनुष्य हो उन्हें भी जो ज्ञान जग रहा है वह शरीर और इन्द्रियके बिना जग रहा है। हमें इस ओर दृष्टि नहीं करनी है कि इनके निमित्त बिना जग रहा है। अरे इन्द्रियपूर्वक जग रहा है—उसका अर्थ है कि निमित्तके बिना जग रहा है। यह अर्थ कैसे निकला ? निमित्तपूर्वक हो रहा है। इसके मायने यह निकला कि निमित्तभूत पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वीकार किए बिना होता है। जैसे घड़ा बन रहा है, उस घड़ेके बननेमें निमित्त वह कुम्हार है दंड, चक्रादिक हैं, मगर घड़ेमें जो निष्पन्न हो रहा है वह दंड, चक्रादिकसे रहित होता हुआ बन रहा है अर्थात् उस मिट्टीमें न कुम्हार घुसा है, न दंड चक्रादिक। तो देह और इन्द्रिय निमित्त हो जानेमें भी यह बात है कि वहाँ जो ज्ञानविकास है, जो आनन्दविकास है वह तो केवल आत्माके उपादानसे अर्थात् अन्यके उपादान बिना हुआ है, तब समझना चाहिए कि ज्ञान और आनंद आत्माके धर्म ही हैं, और जब धर्म हैं तो सिद्ध हो गया कि ज्ञान और आनंदके लिए किसीके अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं है।

छद्मास्थावस्थामें भी ज्ञानपरिणतिकी देह इन्द्रियको लिये बिना ही उद्भूति—यद्यपि निर्बल अवस्थामें आवश्यक हो गया है कि देह भी चाहिए, इन्द्रिय भी चाहिए, जिस ज्ञानके लिए जो सीमामें है, रुकावट सहित है उस ज्ञानकी निष्पत्तिके लिए साधन चाहिए, पर साधन होकर भी, निष्पत्ति होकर भी ज्ञान और आनंद जगा है तो केवलसे जगा है। जैसे एक दृष्टांत यह लीजिए कि कोई तबला बजाने वाला पुरुप तबला बजाते हैं तो वह कितने वेगपूर्वक अपने हाथ चलाता है और किस-किस जगह चलाता है, पर हाथका थापड़ लगाकर भी इस तरहसे क्रियाशील उस पुरुषके कारण वह तबला बज रहा है, हाथकी थापड़ लग गयी, ठीक है पर उसमें जो ध्वनि निकल रही है, जो शब्द निकल रहे हैं उस शब्द निष्पत्तिमें वे अंगुलियां नहीं घुसी हैं। वहां शब्द उनके केवलसे निकल रहे हैं। तो जैसे निमित्त होनेपर भी शब्द तो

प्रकृत्या हुआ है, हाथकी चीज लेकर नहीं हुआ है, इसी तरह ज्ञान और आनन्दकी भी बात समझना चाहिए कि देह और इन्द्रियका साधन होनेपर भी ज्ञान और आनंद इस जीवमें शीलतः उत्पन्न हुए हैं, उपादानसे ही अपनेसे हुए हैं, अन्यका उपादान लेकर नहीं हुए, इस कारण वह ख्याल करना शङ्काकारका कि जहाँ देह भी नहीं, इन्द्रिय भी नहीं, ऐसे सिद्ध भगवानको सुख कहाँके होगा ? अरे यहाँ भी हम आपको देह और इन्द्रियके बिना ज्ञान ही मिल रहा है निष्पत्तिमें कारण है, सो वह हीन अवस्थामें साधन बनता रहता है, पर यहाँके साधन देखकर यह व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती कि देह और इन्द्रियके बिना ज्ञान और आनंद नहीं हो सकता ।

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥३५१॥

आत्मोपादानकारणक मतिज्ञानादिके समयमें भी देह, इन्द्रिय व पदार्थोंकी अहेतुवत् स्थिति—जिस समय जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञान हो रहे हैं, मतिज्ञान बड़ा पराधीन ज्ञान है, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है और बाह्य अर्थ आलोक आदिकका भी सन्निधान हो, सन्निकर्ष भी चल रहा हो तब जाकर इन्द्रियजज्ञान होता है, इतनेपर भी वह ज्ञान आत्मोपादानकारणक है । आत्माके उपादानसे सिद्ध है । अब वहाँ देह इन्द्रिय और पदार्थ और अन्य बाह्य हेतु ये सब अहेतुकी तरह हैं । उपादानदृष्टिसे कथन चल रहा है । जितने ये बाह्य निमित्त हैं—अन्य निमित्त, बाह्य निमित्त निमित्तमात्रकी सब प्रकृति विवक्षित उपादानसे पृथक् हुई है, अन्तः निमित्त यों कहलाता है कि उस एक क्षेत्रावगाहमें निमित्त है, उसके साथ अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति चलती है । बाह्य निमित्त यों कहलाता है कि बाह्यमें अन्वयव्यतिरेक नहीं है, पर आश्रयभूत साधन है । कोई भी साधन हो उनमेंसे कोई भी उपादान न बन सके, किसीकी भी क्रिया न बन सके, किसीका भाव न बन सके । ज्ञान और आनंद तो आत्माके उपादान कारणक होते हैं, इस कारण यह भ्रम करना अयुक्त है कि देह और इन्द्रिय जहाँ न हों वहाँ आनंद कैसे ?

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥३५२॥

संसार अथवा मुक्तिमें ज्ञानलक्षण जीवकी स्वयं ज्ञानरूपता व स्वयं सुखरूपता—चाहे जीव संसार अवस्थामें हो, चाहे मुक्त अवस्थामें हो, ज्ञानादिक लक्षण वाला है, ऐसा ही ध्रुव सत्य है, अर्थात् संसारी जीव है तब भी वह ज्ञानादिक लक्षण वाला है और मुक्त जीव है तब भी वह ज्ञानादिक लक्षण वाला है । इस कारणसे आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप और सौख्यरूप होता है । स्वयं होता है के मायने परका मिश्रण होकर नहीं होता है । दो मिलकर ज्ञानरूप

हो, सुखरूप हो सो बात नहीं है, ज्ञानरूप तो वह अकेला ही हुआ। बड़े साधन हों मगर ज्ञान सुखरूप तो यह आत्मा अकेला ही होता, इसलिए कहा जा सकता है कि स्वयं ही ज्ञानरूप होता, स्वयं ही सुखरूप होता। तबला बजाने वालेने कितना ही हाथ चलाया लेकिन शब्दरूप वह तबला ही हुआ। तबला भी क्या, वे शब्द वर्गणायें ही शब्दरूप परिणम गईं, कही वह बजाने वाला नही उस रूप हो गया अथवा कही देखने वाले लोग नहीं उस रूप हो गए। इसी तरह किसी भी साधनसे हो, संसार अवस्थामें भी हो, ज्ञान और आनन्द जो हुआ है वह स्वयं ही हुआ है अर्थात् केवल आत्मा ही ज्ञानस्वरूप और सुख स्वरूप है, दूसरा वहाँ नहीं है। इससे भी यह निर्णय रख लेना चाहिए कि आत्माका धर्म है ज्ञान और आनंद। जो धर्म है वह कही मिटता नहीं है। वह संसार अवस्थामें देह और इन्द्रियके कारणसे ज्ञान और सुखमें रुकावट थी, जब वह निकल गया तो निर्बाध ज्ञान और आनंद प्रकट होता है।

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत्।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जड़ा ॥३५३॥

आत्माकी ज्ञानपरिणति व सुखपरिणतिमें स्पर्शादिक अर्थोंकी अकिञ्चित्करता व निमित्तमात्रता——यहाँ मतिज्ञानकी निष्पत्तिमें जो पद्धति बनी हुई है उस पद्धतिसे भी यह निरखें कि उन स्पर्श, रस, गंधादिक विषयोंका निमित्त पाकर जीव स्वयं ही तो ज्ञानरूप हुआ है अर्थात् वह अकेला ही तो ज्ञानरूप और सुखरूप हुआ है। तो जब वह अकेला ही ज्ञानरूप सुखरूप हुआ है तो स्पर्शादिक पदार्थोंमें ज्ञान सुखमें क्या करेगा ? वह भी तो जड़ है। यहाँ बहुत सावधानीकी दृष्टि रखकर विचार करना है। जैसे तबला बजाने वालेने कितना ही श्रम किया, पर शब्दरूप तो केवल वही तबला हुआ। यों कहो कि शब्दवर्गणायें उससे स्पर्श होकर वहांसे प्रकट हुई है, इस कारण यों ही कह लीजिए। जैसे उस शब्दरूप जो ता तई धिनक-धिनक आदिक शब्द निकले तो उस शब्दरूप केवल बजाने वाला बना कि तबला ?····तबला। तो उस प्रवृत्तिमें यह बजाने वाला क्या करता है ? कुछ भी नही। बजाने वालेने जो कुछ किया वह अपनेमें किया। अब शब्दरूप परिणम रहे उस पुद्गलमे, उस क्रियामें यह बजाने वाला क्या करेगा ? कुछ नही। एक निमित्त भाव होकर भी, इतना तक भी स्पष्ट परिचय होनेपर भी कि न बजाने वाला हो तो कहांसे शब्द निकलें ? इतना सब कुछ होनेपर भी वस्तुके चतुष्टयपर दृष्टि देकर देखिये——तो शब्दरूप जब वह परिणम रहा है तो शब्दरूप परिणमते हुए उसमें दूसरा क्या कर रहा है ? कुछ भी नही। दूसरा क्या करेगा ? कुछ भी नही। यों ही देह और इन्द्रियका निमित्त पाकर जीव ज्ञान और सुखरूप परिणम रहा है। अब ज्ञान-सुखरूप परिणमते हुए उस जीवमें देह इन्द्रिय क्या कर रही है ? कुछ नहीं कर रही है, देह और इन्द्रिय भी कुछ हिस्सा परिणम कर सहयोगी बनें, क्या इस तरह सहयोगी है ? तो जब ज्ञान

और सुखरूप स्वयं यह जीव परिणाम रहा है तो वहाँ ये स्पर्श आदिक पदार्थ क्या करेंगे ? ये तो जड़ हैं, इससे यह बात सिद्ध होती है कि आत्माका ज्ञान और आनन्द धर्म है, वह अग्नि का स्वरूप है और वह स्वरूप कहीं जायगा नहीं। तो देह और इन्द्रिय दूर भी हो गए, मुक्त हो गए तब तो इस ज्ञान और आनन्दका और पवित्र विकास हो जायगा।

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत्।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥३५४॥

जड़ पदार्थोंको आत्मामें ज्ञानका उत्पादक माननेपर घटादिकमें ज्ञानकी उत्पादकताका प्रसङ्ग—जो उक्त श्लोकमें बात कही गई है उसकी सामर्थ्यमें युक्तिपूर्वक कहा जा रहा है कि स्पर्शादिक पदार्थ ही स्वयं ज्ञानको पैदा कर देते हों तो ज्ञानशून्य जो भींत, चटाई आदिक पदार्थ हैं इनमें क्यों नहीं ज्ञान उत्पन्न कर देते ? तो इससे यह जाहिर है कि ये देह इन्द्रिय स्पर्शादिक पदार्थ ये सब एक निमित्तमात्र हैं, इससे ज्ञानकी उत्पत्ति और आनन्दकी उत्पत्ति नहीं है, इसके बिना ही ज्ञान और आनंद बर्त रहे हैं, यह बात कही जा रही है। प्रकृतमें केवल इतना अंश स्पष्ट किया जा रहा है कि संसार अवस्थामें भी जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है वह देह, पदार्थ आदिक समस्त पदार्थोंके बिना केवल आत्मासे उत्पन्न हो रहा है। बिनाके मायने यहाँ निमित्त निषेधकी बात नहीं कही जा रही है, क्योंकि वह तो अलग ही रहता है और ज्ञानान्दरूप केवल यह जीव ही परिणम पाता है। दो पदार्थ मिलकर ज्ञान और आनंदरूप नहीं परिणम सकते। उसीको युक्तिपूर्वक बताया गया है। स्पर्शादिक पदार्थ यदि ये ज्ञान उत्पन्न कर देते हों तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोंमें यह ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न कर देते ? जो विज्ञानवादी भी ऐसा मानते हैं कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे पदार्थसे उत्पन्न होते हैं, पदार्थ उत्पन्न करते हैं और पदार्थका सारूप्य रहता है तो वहाँ भी यह ही बात आती है आपत्तिकी कि जब पदार्थसे ही ज्ञान उत्पन्न हुआ, पदार्थसे ही ज्ञान निकला तो चित्तक्षण न भी हो जैसा कि कोई लोग कहते हैं तो चित्तक्षण न होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाना चाहिये, सो नहीं होता। इससे मानना चाहिए कि ज्ञान आत्माका धर्म है, इसी प्रकार आनंद भी आत्माका धर्म है और वह स्पर्शादिक पदार्थके बिना, देह इन्द्रिय आदिकके बिना ही होता रहता है। अर्थात् उनका कुछ भी मिश्रण किए बिना केवल जीव ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमता है।

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित्।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥३५५॥

जड़ पदार्थोंको चेतनमें ही ज्ञानका उत्पादक माननेपर चेतनमें स्वयं ज्ञानरूपताकी सिद्धि—यदि शंकाकार उक्त समाधानमें दखल देता हुआ यह कहे कि स्पर्शादिक पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न तो करते हैं पर चेतनद्रव्यको ही उत्पन्न करते हैं, बात इतनी है, तो इस प्रश्न

के उत्तरमें या इस प्रतिशंकाके समाधानमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस स्पर्शादिक पदार्थ ने या देह इन्द्रिय आदिकने चेतनमें ही ज्ञान उत्पन्न किया, अचेतनमें नहीं। तो इससे स्पष्ट है कि चेतन स्वयं ज्ञानधर्म वाला है। इसका कारण क्या है कि स्पर्शादिक पदार्थ देह इन्द्रिय आदिक ये जीवमें ही ज्ञान उत्पन्न करें, अन्यमें न करें, इसका भी तो कुछ कारण बतलाओ। अगर नहीं है यह कारण कि चेतन स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं इसलिए वहाँ ही ये विकार कर पाते हैं, यदि यह कारण नहीं है तो जैसे जीव वैसे अजीव, सब बराबर समान हो गए। फिर वे स्पर्शादिक पदार्थ इन भींत, चटाई आदिकमें क्यों ज्ञान नहीं उत्पन्न कर देते ? चेतनमें ही उत्पन्न करते हैं, यह शंकाकारका जो कहना है वही यह साबित करता है कि वह चेतन स्वयं ज्ञानरूप है और जब वह चेतन स्वयं ज्ञानरूप है और वह ज्ञानरूपसे परिणमे तो उसमें देहने क्या किया ? इन्द्रियने क्या किया और किसी अन्य पदार्थने क्या किया ? यह सब उपादान उपादेय भावकी दृष्टिसे प्रसंग चल रहा है। स्वयं ज्ञान और आनन्दरूप परिणमते हुए इस जीव में दूसरा पदार्थ क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करता है तो इससे यह मानना चाहिए कि देह के बिना, इन्द्रियके बिना, सन्निकर्षके बिना, सन्निधानके बिना यह जीव स्वयं ज्ञानरूप है, आनन्दरूप है, इसका यह धर्म है और अपने इस धर्मके कारण ज्ञानरूप आनंदरूप बर्तता रहता है।

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥३५६॥

उक्त विवरणसे आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति शरीर और इन्द्रियोंकी अकिञ्चित्करताकी सिद्धि—अब जितना शङ्काकारकी मूल शङ्काके उत्तरमें कहा गया—क्या थी शंका कि परमात्मामें यह बात प्रसिद्ध है कि देह और इन्द्रियका अभाव है तो जब देह भी नहीं, इन्द्रिय भी नहीं, तो वहाँ ज्ञान और सुख कैसे प्रकट हो सकता है ? उसके उत्तरमें जितना कुछ भी कहा गया उसका सारांश इस श्लोकमें कह रहे हैं। उक्त समस्त विवरणसे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर और पाँचों ही इन्द्रियाँ ये आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं। उपादान उपादेय भावकी दृष्टिसे ज्ञान और आनंद जो परिणम रहा है वह आत्मामें परिणम रहा है, आत्माकी परिणतिसे परिणम रहा है और वह आत्मासे अभिन्न होता हुआ परिणम रहा है, उसमें कोई भी दूसरा पदार्थ सहयोगी नहीं है, परिणमनोंमें तो ऐसा भी नहीं है कि आत्मा ९९ प्रतिशत तो ज्ञानरूप परिणम रहे हैं और एक-एक प्रतिशत देह भी या इन्द्रियाँ भी परिणम रही हैं, सो इतनी भी गुंजाइस नहीं है, ये तो अकेले ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमते हैं। जब ये अकेले ही ज्ञानानन्दरूप परिणमते हैं तो उस परिणमनमें यह ज्ञान, ये देह और इन्द्रिय ये सब अकिञ्चित्कर हैं। ये कुछ भी वहां नहीं कर सके। ये परिणम रहे

हैं । अब जैसा आत्मबल है, जो बात है उसरूप हो रही । जो भी हो, अगर ज्ञानानंदरूप परिणमनमें एक यह प्रतिशत भी अथवा करोड़वाँ हिस्सा भी ये कुछ भी शरीरमें नहीं हो सकते । कहना चाहिए कि यह सर्वथा अकिञ्चित्कर है । जैसे यहाँ कथन चलता है इसी तरह सब जगह बात समझनी चाहिए कि निमित्त और उपादानकी व्यवस्था तो सत्य है, ठीक है, चल रही है, कोई विषम परिणाम कोई पदार्थके निमित्त बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषम परिणमन है, वह अहेतुक नहीं बन सकता, वह सहेतुक है, लेकिन जब उपादान उपादेय भाव की दृष्टिसे निरखते हैं—परिणमा कौन ? परिणमनमें जो भाव आया है वह किसका धर्म है, किसका विकास है, और वह परिणमा कोई अन्य सब जोड़ मिलकर या वहाँ केवल एक ही पदार्थ । जब इस दृष्टिसे निरखते हैं तो प्रत्येक पदार्थके परिणमनमें अन्य सारे पदार्थ जितने भी निमित्तभूत हुए, आश्रयभूत हुए सब अकिञ्चित्कर हैं । इस अकिञ्चित्का यह अर्थ नहीं कि निमित्त न हो, आश्रयभूत न हो, लेकिन कोई निमित्त, कोई आश्रयभूत पदार्थ इस परिणममान उपादेयकी परिणति नहीं है, इसलिए पूर्णतया अकिञ्चित्कर है । यही बात यहाँ भी लगाई गई कि संसार अवस्थामें प्राणियोंको तो ज्ञान और आनंद जग रहा है वह ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं जीव ही परिणम रहा, दूसरा नहीं परिणम रहा, इसलिए इस परिणमनमें, इस उपादेयतामें समस्त ये बाह्य अकिञ्चित्कर हैं अर्थात् केवल यह ही ज्ञान सुखरूप परिणम सकता है, दूसरा नहीं । तो यों जब संसार अवस्थाकी यह हालत है कि देह और इन्द्रिय अकिञ्चित्कर हैं तो जहाँ देह और इन्द्रियका अभाव हो गया है इसलिए सिद्धप्रभुमें ज्ञान और आनन्द कैसे हुआ, ऐसी शङ्का करना बिल्कुल ही व्यर्थ है । वहाँ तो असीम ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है ।

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ।।३५७।।

देह, इन्द्रिय व पदार्थोंके होनेपर ज्ञान व सुखके होने व उनके न होनेपर ज्ञान व सुखके न होनेसे देहादिकोंकी किञ्चित्करता सिद्ध करनेकी शङ्काकारकी आरेका—अब शङ्काकार कह रहा है कि जब देह और इन्द्रिय एवं अर्थ इनके होनेपर ही सुख नजर आता है और ये न रहें तो सुख नहीं नजर आता, फिर यह कैसे कह दिया कि ये सब अकिञ्चित्कर हैं । उक्त श्लोकमें यह बताया था कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सुख स्वरूप है इसलिए ज्ञानपरिणतिमें और सुखपरिणतिमें आत्मा ही साधन है, देह और इन्द्रिय अर्थ ये वहाँ कुछ नहीं कर रहे हैं, अर्थात् उपादान उपादेय भाव ज्ञानसुखका दुःखका साथ है । इसपर यह शंका की जा रही है कि जो कहा सो ठीक है लेकिन देखो—जब यह कहा जा रहा है कि शरीर न हो, इन्द्रिय न हों, ये भोजन आदिक स्पर्शन आदिक पदार्थ न हों तो सुख तो नजर नहीं आता, तो अकिञ्चित्कर

क्यों कहा जा रहा है ? जब इसके बिना होता ही नहीं तो कुछ तो मानना चाहिए किञ्चित्कर। आजकल भी यही बात कहकर निमित्तको किञ्चित्कर है, सहयोगी है, उसका कारण है ऐसा कहा जाता है तो उनमें यदि इतना भाव रखा जाय कि वह निमित्त मात्र है तब तो कोई विरोध नहीं है, पर किञ्चित्कर बोलनेसे अकिञ्चित्करता यहाँ रखी जा रही हो कि जैसे उस ज्ञान और सुखमें आत्मा कारण है उसी प्रकार ये बाह्य पदार्थ भी कारण हैं। तो वह प्रकारता नहीं है, आत्माके ढंगका ही प्रकार बताकर बाह्य पदार्थको किञ्चित्कर कहना बिल्कुल अयुक्त है। हां बात यह हो रही है कि उस पदार्थके सन्निधानमें निमित्तके सद्भावमें यह आत्मा परिणमने वाला बन रहा है और साथ ही यह भी बात है कि यदि इन्द्रिय देह आदिक पदार्थ न हों तो दोनोंका मतिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इतनेपर भी आत्माकी तरह उन पदार्थोंको निरखकर किञ्चित्कर कहा जाय सो बात युक्त नहीं है। लेकिन शङ्काकार यहां यह शंका कर रहा है कि किञ्चित्कर कैसे नहीं हो गया, क्योंकि देहादिकके बिना सुख नजर नहीं आ रहे हैं। अब इसके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात्।
कार्याभिव्यञ्जकः कोपि साधनं न बिनान्वयम् ॥३५८॥

अन्वय (आत्मा) के बिना ज्ञानसुखाभिव्यञ्जक इन्द्रियादिकी साधनता न हो सकनेसे इन्द्रियादिकी ज्ञानसुखपरिणतिमें अकिञ्चित्करता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारका उक्त कथन ठीक नही है, क्योकि देह इन्द्रिय पदार्थ इनके होनेपर ज्ञान और सुख जो नजर आये हैं सो यह कह दीजिए कि ये व्यञ्जक हैं अर्थात् ज्ञान और सुख तो आत्माका धर्म है, आत्मासे हुआ है, उसका यह व्यञ्जक है, प्रकट करने वाला है। व्यञ्जक शब्द कहनेसे यह भी भाव लेना चाहिए कि व्यञ्जक (प्रकट करने वाला) वह कहलाता कि चीज तो किसी और की है, पहिली जगह मौजूद है, उसकी निष्पत्तिका सम्बंध नहीं है। व्यङ्गको व्यञ्जक प्रकट करने वाला है। तो जो ये देहादिक व्यञ्जक बन रहे हैं तो उनका व्यञ्जक होनेमें हेतु देखा जा रहा है वह हेतु क्या है ? वह अनन्यभूत आत्मा अर्थात् व्यञ्जक अन्वयकी अपेक्षा रखने वाला होता है। अन्वयका अर्थ है उस कार्यका जिसके साथ सम्बंध हो, उपादान हो। ज्ञान और सुखका अन्वय आत्मा है। तो उस अन्वयकी, अपेक्षा रखने वाला यह व्यञ्जक है और उसमें हेतु देखा जा रहा है, इस कारणसे यह कहना ठीक नही कि यह व्यञ्जक उसमें अकिञ्चित्कर बन गया। कोई भी कार्यका अभिव्यञ्जक अन्वयके बिना साधक नही बन सकता है। जैसे दीपक पदार्थोंका अभिव्यञ्जक है, प्रकाशक है। कमरेमें सब पदार्थ रखे हैं और अंधेरा है, कुछ वहाँ दिख नहीं रहा और दीपक जला तो वहाँ रखे सभी पदार्थ दिख गए। तो पदार्थों का करने वाला दीपक है या व्यञ्जक ? करने वाला तो नहीं

है, व्यञ्जक है तो यह व्यञ्जकका हो सकता दीपक। जब पदार्थ ही कोई चीज न हो और दीपक व्यञ्जक हो जाय तो यह कैसे हो सकता है ? तो शरीरादिक ये ज्ञान सुखको जतलाते हैं, अतः वह व्यञ्जक हेतु है, पर ये तब व्यञ्जक बन पाते हैं, जब मूलमें आत्मा हो। यदि कोई व्यञ्जक अन्वयके बिना व्यञ्जन करनेमें सफल हो जाय तब तो कुछ भी चीज न हो कमरेमें और दीपक, घट, पट, बैंच, चौकी, टेबुल आदिक समस्त चीजोंको प्रकाशित कर देवे, क्योंकि अब तो यह माना जा रहा है कि अन्वयके बिना भी कार्यका अभिव्यञ्जक साधक बन जाता है। तो शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान सुखको जतला सकते हैं, क्योंकि ज्ञानसुख आत्माके गुण हैं, अचेतनके नहीं हैं। इससे यह सिद्ध है कि यह ज्ञान और सुखरूप जब आत्मा परिणम रहा है तो उस परिणमनमें कुछ भी सहयोग देनेके लिए समर्थ नहीं है अर्थात् जैसे आत्मा परिणम रहा है ज्ञान सुखरूप इस तरहसे उसमें इसकी मदद कर देवे सो बात नहीं है। वह तो बाह्य साधनमात्र है, निमित्तमात्र है। यहाँ बात इस तरह जानना है कि उपादान कारणरूपको पाकर ये कोई पदार्थ ज्ञानसुखको उत्पन्न नही कर सकते हैं। जैसे कोई एक काम दो आदमी मिलकर कर रहे हैं—मानो एक बोरा या एक बड़ा सन्दूक दो आदमी उठाकर लिए जा रहे हैं तो देखनेमें ऐसा लगता है कि वे दोनों व्यक्ति मिलकर काम कर रहे हैं, इस तरहसे ज्ञान और सुखको आत्मा और शरीर दोनों मिलकर कर रहे हों ऐसी बात नहीं है, अथवा उस बक्स उठानेरूप एक कार्यको दो आदमी नहीं कर रहे हैं, भले ही वह बक्स उठकर एक जगहसे दूसरी जगह जा रहा है, दो आदमी लिए जा रहे हैं, पर उन दोनों व्यक्तियोंका काम एक नहीं हो रहा है। अलग-अलग शक्तियोंसे वे पुरुष अपना-अपना काम कर रहे हैं, और उनकी अलग-चेष्टा हो रही है। अब किसी एक कार्यको दो द्रव्य मिलकर नहीं कर सकते, उनमें कार्य एक का होगा, दूसरा निमित्त मात्र कहलायगा। तो जो देह इन्द्रियको व्यञ्जक बताया है कि यह ज्ञान सुखको प्रकट करता है तो यह अन्वयापेक्ष है, इस कारण वहाँ किञ्चित्कर नहीं कर पाते।

दृष्टान्तोऽगुरु गन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥३५६॥

अन्वयके होनेपर ही व्यञ्जकमें साधनता हो सकनेके विषयमें अगुरुगंधव्यञ्जक अग्निका दृष्टान्त—इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है कि जैसे अग्नि—अगुरु, चन्दन, लोभान, गंधक आदिककी गंधको व्यक्त कर देती है। जैसे गंधक पड़ा है, उसमें कोई बास (गंध) नहीं आ रही और अग्निमें धर दिया जाय तो सारे कमरेमें उसकी गंध फैल जाती है। ये चंदनकी लकड़ीमें यों तो कोई बास नहीं रहती लेकिन उसे जला दिया जाय तो बास आने लगती है। ये अगरबत्तियाँ यों गंध तो नहीं फैलातीं, पर अग्निका संयोग हो जानेपर तो उससे सुगंधि

फैलने लगती है । तो जैसे अग्नि, अगुरु आदिककी सुगंधको विदित करने वाली है, लेकिन अग्नि तब विदित कराती है कि जब वे पदार्थ हों और उनमें गंधशक्ति पड़ी हो । यदि बिना अगुरु आदिकके अग्नि सुगंध करने लगे तब तो फिर कहीं भी अग्नि जला दें तो सुगंध आनी चाहिये । लेकिन ऐसा होता तो नहीं । तो जैसे अग्नि अगुरु आदिककी अपेक्षा रखकर अग्नि सुगंधका व्यञ्जक है इसी प्रकार आत्माकी अपेक्षा रखकर ये देह इन्द्रिय, ये इन्द्रियज ज्ञान सुखों के अभिव्यञ्जक हैं । तो सुगंधरूप जितना कार्य हो रहा है वहाँ अग्निकी परिणति न समझिये, किन्तु उस द्रव्यकी ही, अगुरुकी ही परिणति समझिये और इस प्रकार परिणमनेमें अग्नि अकिञ्चित्कर है, उसमें तो वह अगुरु द्रव्य ही समर्थ है । इसी प्रकार जो इन्द्रियजज्ञान सुख हुए हैं तो ज्ञान सुखरूप परिणतिके लिए देह और इन्द्रिय अकिञ्चित्कर हैं । हाँ वे व्यञ्जक आवश्यक हैं, लेकिन वे व्यंजक तब हैं जब आत्मामें ज्ञान और सुखकी शक्ति है और वह परिणमनोंसे है । जब वह व्यंजक है तो यह निमित्त मात्र है, बाह्य साधन है । ये स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं परिणमते अतएव अकिञ्चित्कर हैं ।

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंजकाः क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥३६०॥

उक्त दृष्टान्तकी भांति देहादिकोंकी आत्मामें ज्ञान सुखाभिव्यञ्जकता हो सकनेके कारण देहादिकोंकी ज्ञानसुखात्मकताकी असिद्धि होनेसे ज्ञानसुखपरिणतिमें उनकी अकिञ्चित्करता—

जैसे उक्त श्लोकमें दृष्टान्त दिया गया है कि सुगंधित गंध बिना अगुरु आदिक द्रव्योंके अग्नि प्रकट नहीं कर सकती, इसी प्रकार इस श्लोकमें दृष्टान्त बतला रहे हैं कि देह इन्द्रिय और पदार्थ कही ज्ञान और सुखके विदित कराने वाले तो हैं लेकिन देहादिक स्वयं ज्ञान और सुख रूप नहीं हो जाते हैं, और जब देह और ज्ञान सुखरूप न हो सके तो वे अकिञ्चित्कर रहे । जैसे कोई कढ़ी बना रहा है रसोईघरमें तो वहाँ उस डेगचोमें कलछुलीको बहुत अधिक फिराना पड़ता है, क्योंकि उसमें डर रहता है कि कहीं गुठली न बन जाय, कहीं कच्चा न रह जाय । तो जैसे वह कलछुली बहुत फेरी गई है और फेरते हुएमें उसमें पक्वता आती है तो क्या वह पक्वता वह कलछुली लायी ? क्या उसके पकनेमें कलछुलीकी कुछ करामात है ?····नहीं, लेकिन किसी प्रकार वह बाह्य साधन है कि उस प्रकार भोजन पक जाय । यह बात कुछ बाहरी साधनकी कही । वैसे तो जो कढ़ी पक रही है उसमें अग्नि भी अकिञ्चित्कर है । सुनने में ऐसा लग रहा होगा कि यह कैसे कहा जा रहा ? अग्निका ही तो सारा खेल है । अग्नि न हो तो रसोई न बने, जरासा कोयला कम पड़ जाता है तो फिर कहाँ दाल वगैरह पकती है ? लेकिन इस अकिञ्चित्करताको इस ढंगसे देखना है कि वह पदार्थ स्वयं इसरूप बनकर उपस्थित हो सो बात नहीं, इसलिए सभी निमित्त उपादानके कार्यमें अकिञ्चित्कर कहे जाते हैं ।

इसी तरह ये देहइन्द्रिय और पदार्थ ये चूंकि स्वयं ज्ञानरूप नहीं परिणम सकते, सुखरूप नहीं परिणम सकते हैं, इस दृष्टिसे अकिञ्चित्कर कहलाते हैं, इतनी भी गुंजाइश नहीं है कि ज्ञान और सुखकी उत्पत्ति होनेमें जिस प्रकारसे आत्मा समर्थ हो रही है तो आत्मा ९९ प्रतिशत कार्य करे ज्ञान और सुखका और देह और इन्द्रिय एक प्रतिशत कार्य कर दें, इतनी भी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ज्ञान और सुखरूप परिणतिसे ये देह इन्द्रिय पृथक् ही रहते हैं, जैसे घट रूप कार्य होनेमें यह कुम्हार बिल्कुल अछूता है, पृथक् ही रहता है, उसकी अंगुलीका कुछ भी अंश उस घड़ेमें परिणत नहीं हुआ है कि घड़ा बन गया हो। इस तरहसे ये देह इन्द्रिय भी ज्ञान और सुखसे बाहर ही रहती हैं, रंच भी उसमें भिड़ी हुई नहीं हैं, इस कारण ये अकिञ्चित्कर हैं।

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुपङ्गतः ॥३६१॥

उपादान (आत्मा) के अभावमें अभिव्यञ्जक (देहादि) से ज्ञान व सुखकी असंभवता होनेसे ज्ञानसुखपरिणतिमें देहादिकी अकिञ्चित्करता—और भी सुनो—उपादानशून्यमें अकिञ्चनसे सुख नहीं आता, अर्थात् दुःख न हो तो देह इन्द्रिय कैसे ही हों, अर्थ भी हो तो वहाँ सुखकी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई पुरुष जब मरणको प्राप्त होता है तो शरीर भी उतना ही बना हुआ है, उससे भी अधिक वजनदार हो जाता, और इन्द्रियाँ भी वे ही बनी हुई हैं जो शरीरकी द्रव्येन्द्रियाँ हैं। और पदार्थ भी वे ही सब पड़े हैं। इतनी सब बातें होने पर भी उपादान नहीं है, आत्मा नहीं है तो वहाँ सुखकी, ज्ञानकी अभिव्यक्ति हो सकती है। तो उपादानशून्यमें अभिव्यञ्जकसे सुख नहीं होता और न ज्ञान होता। यदि उपादानशून्यमें सुख और ज्ञान होने लगे अभिव्यंजकसे तो इसके मायने हैं कि हेतुके बिना हो गया तो कहीं हेतुकी जरूरत न रहनी चाहिए, फिर यह दीपक तो जितनी चाहे चीजोंको प्रकाशित कर दे, चीज नहीं है तो भी। अब चीजोंकी क्या आवश्यकता रही? क्योंकि हेतु शून्यत्व आदिकमें भी अभिव्यंजकोंको कार्य हेतु मान लिया गया है। चूँकि उपादान न हो तो अभिव्यंजकसे कोई कार्य नहीं हो सकता। इस कारण यह भी निरखिये कि आत्मा न हो तो इन्द्रिय देह अर्थसे ज्ञान और सुखकी अभिव्यक्ति नहीं बन सकती है। इस कारण ज्ञान और सुखकी निष्पत्तिमें आत्मा उपादान कारण है, देहइन्द्रिय ये अकिञ्चित्कर हैं।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥३६२॥

संसार अथवा मुक्तिमें गुणोंका उल्लङ्घन न होनेसे ज्ञान व सुखकी आत्मधर्मताकी सिद्धिका निष्कर्ष—उक्त विवरणसे क्या निष्कर्ष निकला, उसको इस श्लोकमें बता रहे हैं कि

चूंकि देह इन्द्रिय आदिक ज्ञान और सुखकी अन्वयापेक्ष होकर अभिव्यंजक है, ज्ञान और सुख रूप परिणतिमें देह इन्द्रियका कोई सहयोग नहीं है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जीवके गुण हैं—चाहे वह जीव संसार अवस्थामें हो अथवा मुक्त अवस्थामें हो, सभी जगह ज्ञान और सुख जीवके गुण हैं, धर्म हैं। कोई भी द्रव्य गुणोका उल्लंघन नहीं कर सकता। कोई ऐसी कल्पना कर ले कि ज्ञान सुख गुण तो मुक्तिमें हो जायगा, संसारमें न रहेगा, सो वात भी नहीं है। कोई यहाँके ज्ञान सुखको देखकर यह कहे कि ज्ञान और सुख तो संसारी आत्माके गुण बने हुए हैं। जब उसकी मुक्ति हो जायगी तब फिर ये ज्ञान और सुख उस आत्माके गुण नहीं रह सकते हैं। तो ये दोनों वातें ठीक नहीं हैं। जीवमें सदा ही ये ज्ञान और सुख गुणरूप रहते हैं। यह बात केवल व्यावहारिक बातचीतकी नहीं, इस आधारपर दार्शनिकोंने दर्शन भी गढ़ डाला है। जैसे कोई दार्शनिक यह माननेको तो तैयार है कि ज्ञान और सुख संसार अवस्थामें हैं, पर यह माननेको तैयार नहीं है कि मुक्तिमें भी ज्ञान और सुख है. बल्कि उनका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और सुखका जब उच्छेद हो जाता है तव मुक्ति कहलाती है। तो चाहे जीव संसार अवस्थामें हो अथवा मुक्त अवस्थामें हो, सबमें ज्ञान और सुख जीवका धर्म है, तो गुणका कहीं उल्लंघन नहीं है। अतः यह सन्देह न करें कि मुक्तिमें ज्ञान सुख कैसे है और न यह सन्देह करें कि सुख स्वभाव तो संसारमें है ही नहीं। सुख और ज्ञान दोनों जीव के शाश्वत धर्म हैं।

किञ्ज साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥२६३॥

संसारावस्थामें ज्ञान व सुखकी अल्पता तथा मुक्तिमें ज्ञान व सुखकी निरावरणता अर्थात् पूर्णता—इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि ज्ञान और सुख जीवके धर्म हैं, सो संसार में भी हैं और मुक्तमें भी हैं, लेकिन उनमें जो अन्तर पड़ा है वह क्यों पड़ा है और क्या अन्तर होता है? संसारपर्यायमें तो ज्ञान और सुख साधारण होते हैं। साधारणका अर्थ यहां थोड़ेसे लेना है अथवा साधारणकी जगह यदि यहाँ सावरण शब्द होता तो और भी अच्छा होता। जो संसारपर्यायके ज्ञान और सुख आवरण हैं, पूर्ण नहीं हैं, शरीरपर आवरण है रुकावट सहित है। किन्तु मुक्तिमें आत्माका ज्ञान और सुख निरावरण हैं। इस पंक्तिमें निरावरण शब्द दिया है और ऊपरकी पंक्तिमें साधारण शब्द दिया है। यहाँ जीवमें साधारण गुण सुख है और मुक्त जीवमें निरावरण ज्ञान सुख है। देखिये—तत्त्वकी ओर दृष्टि देकर, यदि इस तरह भी कह दिया जाय कि संसारी जीवोंमें तो विशिष्ट ज्ञान और सुख है और सिद्ध प्रभुमें साधारण ज्ञान सुख है, तो इसका भी अर्थ बहुत उत्तम लगता है। साधारण ज्ञानसुख अर्थात् जिस ज्ञान और सुखमें तरंगें नहीं हैं, विशेषतायें नहीं हैं, विसमतायें नहीं हैं,

वे ज्ञान सुख साधारण हैं। साधारण ज्ञान सुख महान होता, अनन्त होता, उत्तम होता। और जो भी विशिष्ट होता है उसमें सीमा होती है। तो संसारी जीवोंके ज्ञानविशिष्ट है, विशेषताको लिए हुए है और सुख भी विशिष्ट है। आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें भी अनेक जगह वर्णन हैं कि जहां ज्ञान और सुख विशिष्ट होता है वहाँ तो न्यूनता होती है और जहां यह विशेष बन गया, अविशेष ज्ञान, अविशेष सुख, जहां तरंग नहीं, विशेषतायें नहीं वह सुख असीम हुआ करता है। इस दृष्टिसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहना युक्त है कि संसार पर्यायमें ज्ञान और सुख सावरण है और मुक्त अवस्थामें ये दोनों निरावरण हैं, इसी कारण ये परिपूर्ण हैं।

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥३६४॥

कर्ममलके हट जानेपर आत्मगुणोंमें निर्मलताकी पूर्ण अभिव्यक्ति—यह बताया जा रहा है इस प्रसंगमें कि चाहे संसार अवस्था हो, चाहे मुक्त अवस्था हो, ज्ञान और सुख तो आत्माका धर्म है और भले ही यह बात है कि वह ज्ञान व सुख संसार अवस्थामें अल्प है और मुक्त अवस्थामें परिपूर्ण है, लेकिन ज्ञान और सुख आत्माके अभिन्न गुण हैं। मुक्त अवस्थामें सुख व ज्ञान परिपूर्ण क्यों हो गए? उसका कारण यह है कि कर्म दूर हो गए। तो कोई यह ख्याल न करें साधारणजन कि हम तो यहां यही देख रहे थे कि कर्मका उदय अच्छा आया तो ज्ञान अच्छा मिल गया, सुख अच्छा मिल गया और लोग कहते भी ऐसा हैं। किसीको यदि ज्ञानविशेष हो गया और सुख सामग्री हैं तो कहते हैं कि इसके बड़ा पुण्यका उदय है तब ही तो इतना ज्ञान मिला, इतना सुख मिला। सो जब कर्म नष्ट हो जायेंगे तो ज्ञान और सुख भी नष्ट हो जायेंगे, ऐसी शंका नहीं करना है, क्योंकि कर्मोंकी मुक्ति हो जाने पर, कर्मोंके छूट जाने पर आत्माके गुणोंकी हानि नहीं होती, बल्कि आत्माके गुणोंकी निर्मलता बढ़ती है। जैसे कीचड़ मिला हुआ जल गंदा है तो वहां विधि द्वारा कीचड़ हटा देनेपर जल निर्मल ही हो जाता है, कहीं पंक (कीचड़) के नष्ट होने पर जल खतम हो जाय, ऐसा तो नहीं होता। इसी तरह यह मानना चाहिये कि कर्मोंके नष्ट होनेपर आत्माके गुणकी हानि नहीं होती, किन्तु उन आत्मगुणोंकी प्रमाणता बढ़ती है।

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः समर्पयः ॥३६५॥

कर्ममलके दूर हो जानेपर आत्माके विकारोंका व्यय—जब कर्ममल दूर हो जाता है तो आत्माके विकारोंकी भी क्षति हो जाती है। विकार सहेतुक भाव हैं, कर्मउपाधिका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, इस कारण कर्ममल दूर होने पर वे विकार भी दूर हो जाते हैं।

ये विकार कर्मजभाव कहे गए हैं। यद्यपि रागादिक भाव आत्माके परिणमन है, लेकिन
जिनके साथ अन्वयव्यतिरेक देखा जाय कि जिसके होनेपर ही तो विकार हों और जिसके
न होने पर न हों तो उसे ही मुक्त होना कहा जाता। जैसे सतीयाके पर्दे पर जो फिलमका
अक्स पड़ा है तो उस अक्सका उत्पत्ति किससे कही जायगी ? क्या पर्दसे अथवा क्या फिल्म
से ? बात वहां यह है कि जो चित्रण हुआ, जो कि लोगोंको दिख रहा है वह फिल्ममें तो है
नहीं, तिस पर भी अन्वयव्यतिरेक फिल्मके साथ है। फिल्मके सचेष्ट होने पर ही अक्स आता
है और फिल्मके हटने पर हट जाता है। तब उसे फिल्मसे उत्पन्न हुआ कहा जायगा, ऐसे
ही यहां देखो—ये रागादिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं जीवमें, लेकिन अन्वयव्यतिरेक इनका
कर्मोंके साथ है, कर्म विपाक होनेपर ही वे होते है, न होनेपर नहीं होते, तो ये कर्मजभाव है
और इसी कारण कादाचित्क हैं, क्योंकि इनकी निष्पत्तिका निमित्त अन्य पदार्थ है। यदि
वही निमित्त हो और वही उपादान हो तब तो वे भाव सदा रह सकेंगे। लेकिन ऐसा तो
नहीं है। निमित्त कर्मविपाक हैं, इस कारण कदाचित्क है और वे पर्यायमात्र हैं, इन्द्रजाल हैं,
अध्रुव तत्त्व है। इस कारण कर्ममलके दूर होनेपर इस आत्माके विकारोंकी भी क्षति हो
जाती है।

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥३६६॥

अशुद्ध पर्यायके नष्ट होनेपर गुणव्यय न होकर गुणोंकी उत्कृष्ट आभाका चमत्कार—
अब यहां कोई यह आशंका न करे कि आत्माकी अशुद्ध पर्यायोंके नष्ट हो जाने पर आत्माका
वास्तवमें गुणका ही नाश हो जायगा, ऐसा भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान और आनन्द
आत्माके नित्यगुण हैं, प्राणभूत हैं, स्वभाव हैं। ज्ञानसुख न रहे तो आत्मा भी कुछ न रहेगा।
अरे ये ज्ञानसुख आत्मामें परिपूर्ण रूपसे रहते हैं। यहां ये लोग इस तरह कहते है यदि किसी
को थोड़ा रंज हो गया या शोकका साधन बन गया तो कहते हैं कि इसके कर्म फूट गए।
अर्थात् कर्मके फूट जानेसे इसके सुख और ज्ञान भी फूट गए। सुख भी न रहा, लेकिन ऐसा
नहीं है कि कर्म फूट जायें तो सुख भी फूट जाय, बल्कि कर्म यदि सब फूट जायें तो सुख
उत्तम प्रकट हो जायगा। पुण्य पाप दोनों ही प्रकारके कर्म जहां फूट जायें वहां तो सुख पूरा
प्रकट हो जायगा। तो यहां कहते हैं अभागा और परमार्थसे अभागा है सिद्ध भगवान। तो
उनको अभागा कह दो, निष्कर्मा कह दो। जरा सभ्यताके वचनोंमें तो अभागा होना यह तो
उत्कृष्ट दशा है और जितने भी योगीश्वर प्रयत्न करते हैं, बड़ा ध्यान लगाते है, सामायिक
(समता) करते हैं वे सब अभागा होनेके लिए ही करते हैं। तो यहाँ यह शंका न करनी चाहिए
कि कर्म दूर हो जायेंगे तो गुण दूर हो जायेंगे अथवा अशुद्ध पर्याय दूर हो गयी तो लो आनंद

ही न रहा या गुण ही न रहे, ऐसी शंका यहां नहीं की जा सकती।

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥३६७॥

अशुद्धपर्याय नष्ट होने पर गुणोंके विकासकी अतिशयताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—उक्त सिद्धान्तके समर्थनमें यहां दृष्टान्त दिया जा रहा है कि देखो—यदि कोई वास्तवमें स्वर्ण है तो उस स्वर्णको यदि अग्निका सम्बन्ध कर दिया जाय तो उसमें जो कुछ भी मल साथमें चिपटा होगा वह सब दूर हो जायगा। तो उस समय यदि उसमें किट्टकालिमाका मल दूर हो गया तो उससे कहीं स्वर्ण तो न खतम हो जायगा, उसमें जो पीतपना आदिक गुण हैं वे तो न नष्ट हो जायेंगे? बल्कि उन गुणोंमें और भी शोभा (विशुद्धि) आ जायगी। तो जैसे स्वर्णको अग्निमें तपा देने पर किट्टकालिमा (मल) दूर हो जाती है इसी प्रकारसे इस तपश्चरणकी अग्निमें इस आत्माको तपा देने पर अर्थात् चैतन्यस्वरूपमें प्रतपन होने पर जो कर्ममल का अपाय हो जाता है, उससे न आत्माका नाश होता, न आत्माके गुणोंमें क्षति होती, प्रत्युत उन गुणोंमें और विशुद्धि निर्मलता उत्कृष्टता बढ़ जाती है।

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥३६८॥

ज्ञान सुख प्रभृति एकविंशति भावोंके छूटनेको मोक्ष कहनेकी अयुक्तता—अब इस ज्ञानसुखके प्रकरणको समाप्त करनेके फलमें यह बात बतला रहे हैं कि कुछ लोग कहते हैं कि २१ प्रकारके दुःख होते हैं और उन दुःखोंका दूर हो जाना इसीका नाम मोक्ष है। अब वे २१ प्रकारके दुःख क्या हैं? तो आधि, व्याधि, शरीर, सुख, ज्ञान आदिक सभी इनमें रख दिए गए। ज्ञान और सुखका भी जब मोक्ष हो जाय, छुटकारा हो जाय तो उसका नाम मोक्ष है। इस तरहसे कोई दार्शनिक कहते हैं। किन्तु उनका यह कथन असत्य है क्योंकि जो जीव के गुण हैं वे गुण नष्ट नहीं हुआ करते हैं। यहाँ तो जीवके गुणोंकी शून्यता बतायी जा रही हैं। गुण ही न रहें तो गुणी कहाँसे रहेगा और फिर आत्मा ही क्या रहा? फिर मोक्ष ही किसे कहेंगे? जब गुणका अभाव किया जा रहा है मोक्षके लिए तो मोक्ष फिर किसका बताओगे? तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि जहाँ ज्ञान सुख आदिक नहीं रहते हैं वहाँ मोक्ष कहलाता है। तो इसके मायने हैं कि वह जड़वत् हो गया और जड़वत्की बात दूर जाने दो, वह कुछ रहा ही नहीं। वह भी कैसे कहा जाय? जब आधारभूत, प्रमाण स्वभाव गुण, जिसके तन्मय होनेसे ही उसका सत्त्व है, जब वह ही न रहा तब फिर मोक्ष ही किसका कहा जायगा? मोक्ष सुखका स्थान है लेकिन जहाँ ज्ञानका, सुखका अभाव कह दिया गया तो वह तो दुःखका स्थान हो जायगा। यहाँ ही अगर किसीको कहा जाय कि देखो हम तुमको उस

पदमें लिए जा रहे हैं जहाँ पहुंचने पर ज्ञान भी नष्ट हो जायगा, सुख भी नष्ट हो जायगा, बोलो—चलोगे ? तो वह शायद यही कहेगा कि हम तो ऐसी जगह नहीं जाना चाहते । हम को तो यह ही जगह अच्छी है जहाँ कभी-कभी दुःख मिल गया, मगर सुख भी तो मिलता है । मगर तुम तो सदाके लिए सुख मिटाना चाहते हो । जैसे कोई बूढ़ा व्यक्ति घरके बाल बच्चोंसे नाती पोतोंसे हैरान हो जावे, कोई बालक सिर पर चढ़े, कोई मूछ फटावे, कोई कुछ करे तो हैरान होकर वह बूढ़ा रोने लगता है । उससे अगर कोई कहे कि बाबाजी तुम इस स्थानको छोड़ दो, हम तुम्हें ऐसे स्थानपर ले चलेंगे जहाँ ये कोई परेशानी न रहेगी । तो शायद वह वहाँ जाना स्वीकार न करेगा । वह तो यही कह देगा कि हमें तो ऐसी जगह नहीं जाना है । अरे यहां ये नाती पोते कभी-कभी हैरान करते हैं तो कर लें, पर इनको देख देख कर सुख भी तो मिलता है । इसी तरह किसीसे कोई कहे कि चलो हम तुम्हें ऐसे मोक्षमें पहुंचायेंगे जहां न ज्ञान है, न सुख, तो शायद कोई भी ऐसा मोक्ष न चाहेगा । तो ऐसा उनका कहना केवल एक शब्दजाल मात्र है ।

गुणी आत्मामें ज्ञान, सुख आदि गुणोंकी शाश्वतता होनेसे अभावकी असंभवता— वस्तुतः गुणोंका अभाव कभी भी नहीं हुआ करता । तो ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं, उनका कभी भी उल्लंघन नहीं हो सकता, और भी उन्हींके दर्शनको देखो कि लोग कहते हैं कि ज्ञानके छूट जानेका नाम मोक्ष है । वे ही लोग कहते हैं कि ज्ञानका समवाय सम्बंध है आत्माके साथ । आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, आत्माको ज्ञानमय बता दिया, तो ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष है । तो आत्माको ज्ञानमय कह देते हैं । अब बतलाते हैं कि आत्मद्रव्य अलग है और ज्ञान नामका गुण अलग पदार्थ है, और जब इस ज्ञानका आत्मामें स्वतंत्र सम्बंध है तब वह ज्ञानी कहलाता है तो पूछा जाता है उनसे कि समवाय सम्बन्ध कहते किसे हैं ? तो उन्होने कहा है कि जो गुणगुणीमें नित्य सम्बंध होता है उसको समवाय कहते हैं । अब नित्य सम्बंध होना, इसका अर्थ है कि आत्मामें ज्ञान सदाकाल रहा । नित्यका तो अर्थ है कि सदा रहना । तो यहाँ यह माना जा रहा है कि आत्मामें उस ज्ञानका समवाय सम्बंध नित्य है और फिर कह रहे कि ज्ञानका अभाव होनेका नाम मोक्ष है । तो यह परस्परमें विरुद्ध बात हुई । वह नित्य सम्बंध कहाँ रहा ? फिर समवाय सम्बन्धकी प्रक्रिया कहाँ रही ? अगर वह समवाय नित्य है और आत्मा और ज्ञानका सम्बन्ध शाश्वत है तो मोक्षमें फिर ज्ञानगुणका नाश क्यों बतलाते हो ? इससे यह कथन युक्त नहीं है उन दार्शनिकोंका, किन्तु यही बात युक्तिसंगत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान आत्माका धर्म है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप और आनन्द आत्माका धर्म है । जब तक जीवपर कर्मका आवरण है तब तक ज्ञानसुख कम प्रकट होता है और जब यह आवरण हट जाता है तब ज्ञान सुख पूर्णतया प्रकट हो जाता है । तो

ज्ञान और सुख आत्माके धर्म हैं और इनकी प्रकटता मुक्त अवस्थामें परिपूर्णतया होती है, संसार अवस्थामें यह सुख विकृत हो जाता है। ज्ञान भी मिथ्यात्वके सम्बन्धसे विकृत कहा गया है, पर वह एक उपचरित बात है, लेकिन सुख तो सचमुच ही विकृत हो जाता है। याने आनन्द नामकी कोई सुख और दुःख नामक पर्याय संसारमें रहती है। तो ये दोनों ही दुःखस्वरूप हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मबद्ध जीवके निरन्तर दुःख ही बना रहता है।

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥३६९॥

आत्मगुणविकासमें दुःखसाधनताकी असंभवता और परमात्मामें आनन्दका नाश माननेसे अतिदुःखप्रसङ्गकी अनिष्टापत्ति—आत्मामें जो ज्ञान और सुख गुण प्रकट होते हैं तो ऐसे अपने गुणोंकी जो व्यक्ति है वह कभी आत्माका साधन नहीं हो सकती है। जैसे कि शंकाकारका यह आशय हो गया था कि मुक्त जीवके तो देह इन्द्रिय हैं ही नहीं, उसको सुख कैसे हो सकेगा? देह इन्द्रिय सुखका साधन है, वह जब न रही तो वहाँ सुख न होना चाहिए, किन्तु दुःख होना चाहिए। उसीके उत्तरके सिलसिलेमें यह सब कहा जा रहा है, तो यहाँ निष्कर्ष रूपमें बतला रहे हैं उस आत्माको जो निरावरण होनेके कारण ज्ञान और सुखकी अभिव्यक्ति हुई है वह दुःखका कारण नहीं हो सकती। वहाँ तो अनन्त सुख ही है। यदि वहाँ सुखका मूलसे नाश मान लिया जाय तो वहाँ दुःखका प्रसङ्ग आ जायगा। कहा जाय कि जीव तो है जो मुक्त हुआ है, उसका निषेध नहीं किया जा रहा है, किन्तु उसमें सुख कोई न रहा, क्योंकि वहाँ इन्द्रिय नहीं रहे। जब सुख बिल्कुल न रहा तो उसका दूसरा अर्थ यह निकला कि वहाँपर घोर दुःख पड़ा हुआ है। तो वहाँ यही अनिष्टका प्रसंग आ जायगा। इस कारण यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि मोक्ष भी सुखका साधन नहीं है और इस कारण सुखका साधन नहीं है कि देह और इन्द्रिय सुखका साधन नहीं कहलाते, क्योंकि ये भिन्न पदार्थ हैं, और दुःखमें इनका अन्वयव्यतिरेक है। केवल एक सावरण अवस्थामें यह पद्धति होती थी कि इन्द्रिय और देहका आश्रय पाकर जीवके सुखपरिणमनकी निष्पत्ति होती है। सो वहाँ भी वह सुख केवल सुखरूप अर्थात् केवल जीवकी परिणतिको ही लेकर बना है, देह और इन्द्रियकी परिणति लेकर नहीं बना। इससे सिद्ध है कि देह इन्द्रिय सुखका साधन नही है, यह जीव ही सुखस्वरूप है। जब निरावरण हो जाता है तो यहाँ पूर्ण सुख प्रकट हो जाता है।

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः।
देहेन्द्रियैर्बिनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥३७०॥

ज्ञानस्वरूप व सुखस्वरूप परमात्माके देह और इन्द्रियके बिना भी परमज्ञान व आनन्दकी उपलब्धि—अब इस स्थलमें यह अन्तिम श्लोक है। जिसमें सारांश रूपमें यह

बताया जा रहा है कि परमात्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप और सुखस्वरूप है। परमात्माकी मुद्रा क्या होती है ? जैसे यहाँ संसारी प्राणियोंकी मुद्रा कुछ विविक्त इस तरहसे भी होती है कि यह यों फैला हुआ है, यों फैल रहा है, इस तरहके शरीर वाला है, और शरीरकी आकृति निरखकर भी भावोंकी पहिचान बन जाती है कि यह इस समय क्रोधमें है, यह उदास है आदि, मगर मुक्त अवस्थामें परमात्माकी मुद्रा क्या होनी होगी और किस तरहसे हम परमात्माके स्वरूप को अपने ध्यानमें ला सकते हैं ? तो वह मुद्रा उनके ज्ञानानन्दरूप है, विशुद्ध ज्ञान और आनंद का जो स्वरूप है उसका ही चिन्तन किया जाय तो भगवानका चिन्तन होता है अन्यथा भग-वानका चितन और किस ढंगसे हो सकता है ? कोई पूर्वअवस्थाका नाम लेकर कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक कुलमें पैदा हुए हैं, आपका ऐसा रंग था, ये सब बातें तो औपचारिक हैं। वह भगवानकी वास्तविक स्तुति नहीं है। भगवानकी वास्तविक स्तुति और मुद्राके दर्शन तो ज्ञान और आनंदस्वरूपके अनुभव द्वारा होते हैं और इससे भी वास्तविक स्तुति वह कहलायगी कि भगवानके विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपका चिन्तन इस पद्धतिसे हो कि वह शुद्ध पूर्ण विकास जिस ज्ञायकस्वभावसे उत्पन्न हुआ है, उस आत्मासे अभेदरूप है, और इस तरहका अभेदरूप करें कि पर्यायरूप ज्ञान सुख गौण होकर वह ज्ञायकस्वभाव मुख्य हो जाय, और जब ज्ञायकस्व-भाव उपयोगमें मुख्य हो जाय तब उसका आश्रय परमें नहीं हुआ करता है। वह स्वयं अपने ज्ञायकस्वभावकी एकता कर लेता है। तो उस स्थितिमें होता क्या कि इस भगवानका और विशुद्ध ज्ञायकस्वभावका जो चिन्तन है वह पर्याय निज ज्ञायकस्वभावके उन्मुख हो गयी। इस तरह निज ज्ञायकस्वभावके साथ अभेद बना लिया, एकता कर लिया। इस पद्धतिसे ज्ञायकस्व-भावका जो चिन्तन चलता है वह वास्तविक परमात्माकी स्तुति कही जाती है। तो यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, सुखस्वरूप हैं, इस कारण उनका ज्ञान और आनन्द और इन्द्रियके बिना ही हो रहे हैं। तब शरीर इन्द्रियके न होनेपर परमात्माके सुख न होगा, यह शङ्का करना तो दूर रहो, किन्तु देह और इन्द्रिय न रहनेके कारण ही परमात्माका अनन्त सुख प्रकट होता है—यह निर्णय बनाना चाहिए। इस तरह इस स्थलमें यह सिद्ध किया गया कि कर्मबद्ध जीवके तो निरन्तर दुःख है और कर्मरहित जीवके निरन्तर आनन्त आनन्द है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥